नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[नवीन संस्करण]

चौथा भाग—संवत् १९८०

(१) सोमेश्वरदेव और कीर्तिकौमुदी।

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर]

सोमेश्वरदेव का रचा हुआ कीर्तिकौमुदी नाम का एक ऐतिहासिक काव्य है, जिसमें प्रधान रूप से धोलका के चौलुक्य (बघेल) वंशी सामंत लावण्यप्रसाद (लवणप्रसाद) और वीरधवल के मंत्री वस्तुपाल का तथा प्रारंभ में अणहिलवाड़े (पाटण) में राज्य करनेवाले चौलुक्य (सोलंकी) वंश के राजा मूलराज से लेकर भीमदेव (दूसरे) तक का, एवं धोलका में राज्य करनेवाले अर्णोराज से वीरधवल तक के बघेल शाखा के सोलंकी राजाओं का वृत्तांत लिखा हुआ है। इस ग्रंथ का संपादन श्रीमान् आबाजी विष्णु काथवटे ने किया और बंबई सरकार ने सन् १८८३ ई० में इसकी ३०० प्रतियाँ छपवाकर संस्कृत साहित्य के सेवकों को अतुलनीय लाभ पहुँचाया। इस समय यह ग्रंथ दुष्प्राप्य है। हिंदी भाषा के प्रेमियों को इस ग्रंथ का सार तथा ग्रंथकार का परिचय देने के लिए पंडित गौरीशंकर

अनुसरण किया। उस सत्कर्म करने में प्रीति रखनेवाले को दो बातें संकोचप्रद थीं, एक तो श्रेष्ठों से अपनी बड़ाई सुनना और दूसरी संसाररूपी बंधनागार में स्थिति। जैसे ब्रह्मा से चार वेद उत्पन्न हुए वैसे ही उससे चार पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें सबसे बड़ा और विद्वानों में श्रेष्ठ "सर्वदेव" था। उसके दूसरे पुत्र का नाम कुमार, तीसरे का मुंज और चौथे का आहड़ था। सर्वदेव ने राजा कुमारपाल के फूल (हड्डियाँ) गंगाजी में डाले और दान द्वारा गया और प्रयाग के ब्राह्मणों को तृप्त किया। स्थान स्थान पर उसने जलाशय बनवाए। वह प्रति दिन शंकर की पूजा करता, प्रत्येक ब्राह्मण का सत्कार करता, और घर घर में उसकी प्रशंसा होती थी। उसका भ्राता "कुमार" भी बहुत यशस्वी था। एक समय सूर्यग्रहण के अवसर पर महाराज कुमारपाल के पुत्र (उत्तराधिकारी) अजयपाल ने उसको अमूल्य रत्नराशि देने का आग्रह किया परंतु उसने लेना अंगीकार न किया। वह "कटुकेश्वर" नामक महादेव की आराधना किया करता था और उसने युद्ध* में लगे हुए अजयपाल के शरीर के दारुण घावों की व्यथा को दूर किया। एक समय अकाल के कारण लोगों को अस्थिपंजर-रूप दुर्बल देखकर उसने पदार्थवादी होकर मूलराज से उनका कर छुड़वाया। प्रतापमल्ल ने, जो कि राष्ट्रकूट, (राठोड़) वंश में उत्पन्न हुआ था, उसको अपना "प्रधान" (महा-मंत्री) बनाया। युवराज राजा ने एक अवसर पर उसको सेनापति नियत किया और इस काम में भी उसने अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर अपने आपको योग्य सिद्ध किया। एक और अवसर पर वह धारापीश यशोवर्मा के पौत्र विंध्यवर्मा से लड़ा और उसको न केवल

---

* यह युद्ध मेवाड़ के राजा सामंतसिंह के साथ हुआ जिसमें अजयपाल बुरी तरह से घायल हुआ था। उसके राज्य और प्राणों की रक्षा गुजरात के सामंत आबू के परमार राजा धारावर्ष के छोटे भाई प्रह्लादनदेव (पालणसी) ने अपनी वीरता से की थी।

उसको भगा दिया किंतु उसका गोग स्थान नाम का नगर उजाड़कर उसके राजमहल की जगह पर एक कूप खुदवा दिया। यद्यपि उस युद्ध में सोना तो हाथ न लगा परंतु वह और बहुत सा धन ले आया। उसने गयाजी में जाकर श्राद्ध किया और वहाँ पर सोने चाँदी का दान दिया। उसने म्लेच्छराजा की अतुलित सेना को राणीसर के समीप जीता, गंगाजी के जल से विधिवत् तर्पण कर पितरों को तृप्त किया और निर्जल स्थानों में जलाशय बनवाकर बहुत यश प्राप्त किया। वह "भूर्भुवः स्वः" इन तीन महा व्याहृतियों का उच्चारण किया करता था और दोनों प्रकार के षट्कर्मों (अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह तथा संधि, विग्रह आसन, यान, संश्रय और द्वैधीभाव) में निपुण था। उसने यज्ञ में शास्त्र और युद्ध में शस्त्र-कौशल को बहुत कुछ प्रकट किया। उसके सुशोभित शरीर पर ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) और हाथ में राजसूत्र सर्वदा विराजमान रहे। अरुंधती के समान सदा आज्ञाकारिणी तथा इस पृथ्वी पर साक्षात् लक्ष्मी के समान "लक्ष्मी" नाम की उसकी स्त्री थी। उसके महादेव, सोमेश्वरदेव और विजय नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए। यहाँ तक सोमेश्वरदेव की ही लेखनी से उसके वंश का परियच मिलता है। यद्यपि सोमेश्वरदेव ने संवत् नहीं लिखे हैं परंतु उसका जो जो पूर्वज जिस जिस राजा का पुरोहित रहा उसका उल्लेख किया है। उन राजाओं के समय ही, जो कि अन्य साधनों से विदित हैं, उन उन पुरोहितों के भी समय माने जा सकते हैं। आधुनिक शोध के अनुसार हम नीचे गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) राजाओं की नामावली उनके राजत्वकाल के निश्चित संवतों के साथ देते हैं जिसमें उन राजाओं का तथा उनके पुरोहितों का समय भी ज्ञात होगा—

पुरोहितों के नाम	गुजरात के राजाओं के नाम	राजाओं का राज्य काल (विक्रम संवत् में)
सोल	मूलराज (प्रथम)	१०१७—१०५२
लल्लशर्मा	चामुंडराज	१०५२—१०६६
	वल्लभराज	१०६६ (६ मास)
मुंज	दुर्लभराज	१०६६—१०७८
सोम	भीम (प्रथम)	१०७८—११२०
आम शर्मा	कर्ण	११२०—११५०
कुमार (प्रथम)	जयसिंह सिद्धराज	११५०—११९९
सर्वदेव (प्रथम)		
आमिग		
	कुमारपाल	११९९—१२३०
कुमार (दूसरा)	अजयपाल	१२३०—१२३३
	मूलराज (द्वितीय)	१२३३—१२३५
सोमेश्वर	भीम (द्वितीय)	१२३५—१२९८

ऊपर लिखे हुए वर्णन से पाठकों को विदित होगा कि जिस ब्राह्मण वंश में सोमेश्वरदेव ने जन्म लिया उसमें उससे पूर्व २५० वर्ष तक निरंतर वैदिक विद्वान् होते रहे। वे राजकुल के पुरोहित थे। इनमें से कई एक के यज्ञ करने और युद्ध करने का वर्णन देख आश्च-र्य यह मानकर कि ब्राह्मणों का काम केवल लिखना पढ़ना और दक्षिणा का ग्रहण करना है, कदाचित् किसी के मन में यह शंका उत्पन्न हो कि इस लेखों में [illegible] वर्णों का अनुचित विभाग किया गया। इसके समाधान के लिए कुछ लेख जो "पुरोहित" के विषय में लिखा

आवश्यक जान पड़ता है। निरुक्त में दी हुई एक ऋचा का, जिसमें पुरोहित का वर्णन है, व्याख्यान करते हुए टीकाकार दुर्गाचार्य लिखते हैं "पुरोहितः शांतिकपौष्टिकाभिचारिकेषु कर्मसु पुर एवं दधति राजानः पुरस्कुर्वन्तीत्यर्थः" इससे सिद्ध है कि पुरोहित का राजा के साथ संबंध होना अत्यंत प्राचीन है परंतु कौटिल्य के अर्थशास्त्र के विनयाधिकार के "मंत्रिपुरोहितोत्पत्तिः" नामक नवम अध्याय के निम्नलिखित शब्दों से पुरोहित की आवश्यकता तथा उसके गौरव और नियोग (कर्तव्य) का सम्यक् रूप से पता लग जाता है—

"पुरोहितमुदितोदितकुलशीलं षडङ्गे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां च अभिविनीतमापदां दैवमानुषीणां अथर्वभिरुपायैश्च प्रतिकर्तारं कुर्वीत। तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्य स्वामिनमिव चानुवर्तेत।

ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम्।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगम (गत) शस्त्रितम्॥

अर्थ—जो सुप्रसिद्ध कुल और शील वाला हो, वेद वेदांग का पूर्ण ज्ञाता हो, दैवी और मानुषी निमित्तों के प्रतिफलों का बोध कर सकता हो, दंडनीति (राजविद्या) में कुशल हो, विनयशील हो, दैवी और मानुषी आपत्तियों को अथर्ववेद में बताए हुए उपचारों द्वारा दूर कर सकता हो, उसको पुरोहित पद पर नियुक्त करे और जैसे शिष्य आचार्य के, पुत्र पिता के, सेवक स्वामी के साथ बर्ताव करते हैं वैसे ही राजा उसके साथ करे। वह राजा (या राज्य), जो ब्राह्मणों से प्रभावित किया हुआ, अच्छे अच्छे मंत्रियों की सलाह में रंजित तथा शास्त्रों के नियमों के अनुसार बर्ताव करने वाला हो, बिना शस्त्र के भी अत्यंत अधृष्य को दबा लेता है और आप निरंतर अदम्य रहता है।

इतना बताया जा चुका है कि सोमेश्वरदेव के पिता का नाम कुमार, माता का लक्ष्मी, बड़े भाई का महादेव और छोटे का विजय था। सोमेश्वर के पूर्वज पुरोहित पद के विषय में ऊपर वर्णन किए हुए कर्तव्यों के संपादन में कितने सफल हुए यह भी पाठकों को

११८७ है। यह मार्कंडेय पुराण के देवीमाहात्म्य या सप्तशती की शैली पर लिखा गया है और निर्णय-सागर की "काव्य-माला" में छप चुका है।

(२) रामशतक—इसकी एक प्रति जिसमें १२ पन्ने हैं और प्रत्येक पत्र पर लगभग ३० अक्षरों की १२ पंक्तियाँ हैं डा० भंडारकर को मिली थी।

(३) काव्यादर्श
(४) काव्यप्रकाश टीका } सुरथोत्सव की भूमिका में Catalogus Catalogorum के आधार पर ये पुस्तकें भी इसी कवि की बनाई हुई लिखी हैं। वास्तव में "सोमेश्वर" ने जो काव्यप्रकाश की टीका की है उसी का नाम "काव्यादर्श" है परंतु उस टीकाकार ने—"इति भट्टसोमेश्वरविरचिते काव्यादर्शे काव्यप्रकाशसंकेते चतुर्थ उल्लासः" ऐसा लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि वह गुर्जरेश्वर के पुरोहित सोमेश्वरदेव से भिन्न व्यक्ति था। अतः परं बहुज्ञाः प्रमाणम्।

(५) उल्लाघराघव—यह एक नाटक है। इसके प्रत्येक अंक के अंत में सोमेश्वर ने एक श्लोक वस्तुपाल की प्रशंसा का लिखा है।

(६) कीर्तिकौमुदी—इसके विषय में आगे लिखेंगे।

(७) आबू के देलवाड़ा गाँव के सुप्रसिद्ध तेजपाल के बनाए हुए "लूणवसही" मंदिर की प्रशस्ति—यह प्रशस्ति विक्रम संवत् १२८७ में उक्त मंदिर में लगाई गई थी। इसमें ७४ श्लोक हैं, जिनमें वस्तुपाल तेजपाल के कुल, मंदिर के बनने आदि का बहुत उपयोगी वृत्तांत लिखा हुआ है।

(८) गिरनार के पर्वत पर वस्तुपाल तेजपाल के जीर्णोद्धृत मंदिर पर लगी हुई दो प्रशस्तियाँ—ये प्रशस्तियाँ गद्य और पद्य में लिखी हुई हैं और विक्रम संवत् १२८८ में लगाई गई थीं।

(९) वीरनारायण नाम के प्रासाद की प्रशस्ति—यह मंदिर वीरधवल ने पाटण में बनवाया था और सोमेश्वरदेव ने १०८

श्लोकों में उसकी प्रशस्ति लिखी थी ऐसा जैन राजशेखर विरचित प्रबंधकोश में हरिहर के विषय के प्रबंध से ज्ञात होता है। अब यह प्रशस्ति उपलब्ध नहीं है, एवं अन्य प्रशस्तियाँ और संभवतः अन्य ग्रंथ भी इस कवि के बनाए हुए होंगे ऐसा माना जा सकता है।

सोमेश्वरदेव के जीवन की कतिपय घटनाएँ

अपने पूर्वजों के अनुसार सोमेश्वर भी राजपुरोहित रहा, परंतु इस स्थिति में उसके किसी सैनिक कार्य्य का उदाहरण हमको नहीं मिलता। तो भी उसका प्रभाव राजकुल पर बहुत कुछ सबल रहा। सोमेश्वरदेव ने ही राणा लावण्यप्रसाद से प्राग्वाटवंशी वस्तुपाल और तेजपाल की प्रशंसा करके उनको मंत्रीपद पर नियुक्त करवाया था। ये दोनों भाई बड़े ही नीतिकुशल, गुणी, वीर, परोपकारी और विद्वानों का सत्कार करनेवाले हुए। सोमेश्वर ने इन्हीं मंत्रियों के उत्तम गुणों से रंजित होकर कीर्तिकौमुदी और गौणरूप से सुरथोत्सव तथा उल्लाघराघव में, उनकी जीवनी या प्रशंसा लिखी है। अन्य अनेक विद्वानों ने भी इन पुरुषरत्नों के विषय में कई एक ग्रंथ लिखे हैं। सोमेश्वरदेव का संबंध इन दोनों भाइयों से बहुत घनिष्ट रहा, इसलिए उनके संबंध के अन्य ग्रंथों में भी सोमेश्वर का वर्णन मिलता है और उन्हीं साधनों के आधार पर हम सोमेश्वर की शेष जीवनी की कतिपय घटनाएँ नीचे लिखते हैं।

एक समय गौड़देशी हरिहर नाम का एक पंडित बड़े ठाट के साथ गुजरात में आया और पाटण में आकर उसने अपने एक चतुर शिष्य के हाथ राणा वीरधवल, मंत्री वस्तुपाल और पुरोहित पंडित सोमेश्वरदेव के लिए पृथक् पृथक् आशीर्वाद भेजे। शिष्य पहले वस्तुपाल से मिला, उसको आशीर्वाद सुनाया और वह उससे प्रसन्न होकर उसे राजा के पास ले गया। शिष्य ने राजा को भी आशीर्वाद सुनाया। राजा ने मंत्री से पूछा कि इस विषय में क्या करना उचित है। उसने उत्तर दिया कि दूसरे दिन प्रातःकाल धूम-

धाम से पंडितजी का प्रवेशोत्सव और समुचित सत्कार करना चाहिए।

राजा ने मंत्री के कहने को स्वीकार किया। वह शिष्य मंत्री और राजा से मिलकर सोमेश्वरदेव के पास गया और तीसरा आशीर्वाद जिसकी कविता में व्याज-स्तुति से कुछ उसका मात्सर्य द्योतित किया हुआ था उसको दिखाया। उसने उसे ले लिया परंतु उसका चित्त अप्रसन्न हो गया जिसके कारण वह दूसरे दिन उस सभा में नहीं आया। फिर एक समय राजसभा लगी हुई थी और दैवयोग से सोमेश्वर और हरिहर, जिनमें वैमनस्य हो चुका था, दोनों ही वहाँ विद्यमान थे। राजा ने हरिहर से कहा कि हमने इस नगर में वीरनारायण नाम का मंदिर बनवाया है और सोमेश्वरदेव से उसकी १०८ श्लोकों में प्रशस्ति लिखवाई है। आप भी तनिक उस काव्य को देख लो जिससे उसका निर्दोष होना निश्चय हो जाय। हरिहर ने कहा अच्छा! श्लोक सुनवाइए। सोमेश्वर ने अथ से इति तक अपनी रचना पढ़ सुनाई। सब सुनकर हरिहर कहने लगा कि श्लोक बहुत अच्छे हैं। हमारे जाने हुए हैं। हम मालवे में उज्जैन गए थे। वहाँ सरस्वती-कंठाभरण पाठशाला में एक पट्टी पर श्रीभोजदेव का वर्णनात्मक काव्य लिखा हुआ है उसमें से ये श्लोक उतारे गए हैं। यदि हमारे कहने में आपको विश्वास न हो तो आप इनको हमसे क्रमशः कंठस्थ सुन लीजिए और यों कहकर उसने वे सुना भी डाले। इस घटना से राजा खिन्न हो गया, दुष्ट लोग प्रसन्न हुए, वस्तुपाल आदि सज्जनों के हृदयों में दारुण संताप हुआ और सोमेश्वर तो लज्जा के कारण मृतवत् हो गया। यह उसके साथ बड़ा भारी छल किया गया। वह वस्तुपाल के पास गया और कहने लगा कि ये श्लोक मेरे ही बनाए हुए हैं। मेरी कवित्वशक्ति आपको विदित ही है। हरिहर ने जानकर मेरी निंदा करवाई है। वस्तुपाल सोमेश्वर को हरिहर के पास ले गया और वह इसको देखते ही उठ खड़ा हुआ और उसने इसका अतिशय सत्कार किया। अंत में सत्य बात

प्रकट हो गई और उसका वर्णन यह लिखा है कि दूसरे दिन जब हरिहर राजसभा में गया तो प्रस्तावना में बोला "जयति परमेश्वरी भारती, यत्प्रसाददेवं मम शक्तिः" अर्थात् श्री सरस्वतीजी की जय हो जिनकी कृपा से मुझ में ऐसी शक्ति है। राजा सुनते ही बोला—क्या कहा, क्या कहा ? आपमें क्या शक्ति है। हरिहर ने उत्तर दिया कि मैंने कावेरी नदी के तट पर सारस्वत मंत्र सिद्ध किया जिसके प्रभाव से १०८ श्लोक तक एक ही बार सुनकर कंठ कर लेता हूँ। उसने इस विषय की परीक्षा भी दे डाली, फिर क्या था राणा को यह निर्भ्रांत विश्वास हो गया कि उक्त प्रशस्ति के श्लोक सोमेश्वर के निज निर्मित थे, और हरिहर ने भी अपना छल स्वीकार कर लिया। राजा के यह पूछने पर की तुमने सोमेश्वर को क्यों दूषित किया, हरिहर ने उत्तर दिया कि यह मेरा निरादर किया करता था अतः अवसर पाकर मैंने यों बदला लिया। राजा ने कहा खैर ! जो हो गया सो तो हो गया। आप दोनों सरस्वती के पुत्र हैं, आपका आपस में स्नेह होना ही उचित है। यों कहकर उसने दोनों को गले लगा दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि पीछे इन दोनों विद्वानों में मेल रहा क्योंकि सोमेश्वर ने लिखा है कि हरिहर उसकी प्रशंसा करता था।

एक समय का वृत्तांत है कि वस्तुपाल और तेजपाल मंत्रियों ने सोमेश्वरादि कवियों को भूमि आदि के दान द्वारा पुष्कल आजीविका कर दी जिसकी कृतज्ञता प्रकाशित करते हुए सोमेश्वरदेव ने कहा—

सूत्रे वृत्तिः कृता पूर्वं दुर्गसिंहेन धीमता।
विसूत्रे तु कृता तेषां वस्तुपालेन मंत्रिणा॥

आशय—पूर्व काल में बुद्धिमान् दुर्गसिंह ने सूत्रों में (व्याकरण के सूत्रों में) वृत्ति (व्याख्या) की परंतु अद्भुत तो यह है कि वस्तुपाल ने विसूत्रों (बिना सूत्रों की रचना पर भी) में वृत्ति (आजीविका) कर दी।

एक समय मंत्री वस्तुपाल धोलका से स्तंभपुर (खंभात) गया।

जब वह वहाँ पहुँचा तो उस समय कुछ घोड़े भी नावों में लाए हुए थे, जो वहाँ उतारे जा रहे थे। उसने उस समय उन घोड़ों की ओर समुद्र की ओर देखा और एक समस्या दी।

"प्रावृट्काले पयोराशिः कथं गर्जितवर्जितः ?

अर्थात्—वर्षाऋतु में यह समुद्र विना गर्जना के क्यों है। सोमेश्वर उस समय पास ही था उसने शीघ्र ही—

"अंतःसुप्तजगन्नाथनिद्राभंगभयादिव" कहकर श्लोक की पूर्त्ति कर दी। सोमेश्वर के उत्तरार्ध का आशय है कि समुद्र अपने भीतर शयन करते हुए विष्णु भगवान् की नींद उचट जाने के भय से वर्षाकाल में भी विना गर्जना के हो रहा है। वस्तुपाल ने प्रसन्न होकर उसी समय वे अतुल्य १६ घोड़े सोमेश्वर को भेंट किए।

फिर एक समय कई एक कवि बैठे हुए थे और परस्पर में मनोहर संभाषण कर रहे थे। वस्तुपाल और तेजपाल भी उस मंडली में विद्यमान थे। उस समय तेजपाल ने एक समस्या दी "काकः किंवा क्रमेलकः" अर्थात् कौवा या ऊँट। इन असंगत शब्दों से तुरंत युक्तियुक्त श्लोक बना डालना जन्मसिद्ध कवि का ही काम है। इस अवसर पर भी सोमेश्वर ही बाजी ले गया। उसने कहा—

येनागच्छन्ममाख्यातो येनानीतश्च मे पतिः।
प्रथमं सखि ! कः पूज्यः काकः किंवा क्रमेलकः॥

आशय—कोई स्त्री अपनी सहेली से पूछ रही है कि हे सखी ! जिस (काक) ने परदेश से आते हुए मेरे पति की मुझे सूचना दी और जिस (ऊँट) ने अपनी पीठ पर बिठाकर उसे मेरे समीप ला दिया इन दोनों उपकारियों अर्थात् कौवे और ऊँट में से कौन प्रथम सत्कार करने के योग्य है, समस्या की इस उत्कृष्ट पूर्ति से मंत्री बहुत प्रसन्न हुआ। और उसने सोलह सहस्र द्रम्म सोमेश्वर के भेंट किए।

एक समय जब कि मंत्री वस्तुपाल किसी गूढ़ विचार में संलग्न होकर नीचे भूमि की ओर दृष्टि किए हुए बैठा था सोमेश्वर उसके पास आया और उस अवसर के योग्य निम्नलिखित श्लोक बोला—

प्रकार का पक्षी) वाला आपका सरोवर सुशोभित हो रहा है।" इस संबंध में उसको सोलह सहस्र द्रम्मों का उपहार मिला।

एक दिन सोमेश्वर वस्तुपाल के धवल गृह पर गया परंतु श्रेष्ठ आसन सामने किए जाने पर भी वह नहीं बैठा। मंत्री ने न बैठने का कारण पूछा तो कवि ने कहा—

अन्नदानैः पयःपानैर्धर्मस्थानैश्च भूतलम्।
यशसा वस्तुपालेन रुद्धमाकाशमण्डलम्॥

अर्थात्—"अन्नदान, जलदान, धर्मस्थानों के बनवाने से पृथ्वी, और आपके यश से आकाशमंडल तक पहले ही रुक चुका है अब जगह कहाँ रही जहाँ पर मैं बैठूँ ?"

इसको सुनकर मंत्री ने उसे नव सहस्र द्रम्म दिए।

एक अवसर पर मंत्री नेमिनाथ के मंदिर में पूजा कर रहा था। वहाँ पर उसने नाना प्रकार के दान भी दिए। आरति करने के समय अर्थी लोग एकदम उसके ऊपर झटप पड़े। उस अवसर पर सोमेश्वर ने कहा—

इच्छासिद्धिसमुन्नते सुरगणे कल्पद्रुमैः स्थीयते
पाताले पवमानभोजनजने कष्टं प्रणष्टो बलिः।
नीरागानगमन्मुनीन्सुरभयः चिन्तामणिः काप्यगात्
तस्मादर्थिकदर्थतां विपहतां श्रीवस्तुपालः क्षितौ॥

आशय—"जिनके मनोभिलाष अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं ऐसे देवताओं के पास तो कल्पवृक्ष चले गए और पाताल में सर्पों के बीच में बलि फँस गया, कामधेनु निष्काम मुनियों के पास चली गई, रहा चिंतामणि वह भी न जाने कहाँ गया, इसलिये क्या करें, अब इस संसार में अर्थी जनों की आकांक्षाएँ पूर्ण करने को वस्तुपाल ही रह गया है।"

इस पर मंत्री ने सोमेश्वर को सवा लाख द्रम्म दिए।

सोमेश्वर देव की थी कीर्त्ति और प्रत्युत्पन्नमति को प्रकट करने के लिये यहाँ तक उद्धृत किए हुए श्लोक पर्याप्त हैं। इन सब श्लोकों

में वस्तुपाल से संबंध होने का वर्णन पढ़कर कदाचित् ऐसी शंका उठ सकती है कि इस कवि का राजा से संबंध इतना अच्छा न रहा हो कि जो स्मरण के योग्य समझा जावे। यह बात नहीं है। उदाहरण के लिये हरिहर के प्रसंग में हम सोमेश्वर का वीरधवल के यहाँ आना जाना बता ही चुके हैं। और भी एक अवसर पर जब कि घूघुल मंडलीक को पराजित करके तेजपाल को सम्मानित करने को वीरधवल ने बहुत बड़ी सभा कराई तब उसने सोमेश्वर की ओर दृष्टि फैलाई और उस अवसर पर कवि ने निम्नलिखित श्लोक कहा—

> मार्गे कर्दमसङ्कुले जलभृते गर्त्ताशतैराकुले।
> छिन्ने शाकटिके भरेऽतिविषमे दूरं गते रोधसि।
> शब्देनैतदहं ब्रवीमि सततं कृत्वोच्छ्रितां तर्जनी।
> मीहृते विषमे विहाय धवलं वोढुं भरं कः क्षमः॥

आशय—ऐसी कठिन अवस्था आ पड़े कि मार्ग में सैकड़ों गड्ढे हों, जल भरा हो, कीचड़ हो, सवारी भी टूट गई हो, बोझा बहुत सा हो और किनारा भी दूर हो तो मैं दावा करके कहता हूँ कि सिवाय धवल (राजा वीरधवल) और बलिष्ट बैल के कौन भार उठा सकता है।

महाराजा वीरधवल के दो पुत्र थे। एक वीरम और दूसरा वीसल। वीरधवल के स्वर्गवास होने पर यद्यपि ज्येष्ठ होने के कारण वीरम सिंहासन का अधिकारी था परंतु किसी कारण विशेष से वीसल सिंहासनासीन हुआ। इसके राजा होने पर भी सोमेश्वर का प्रभाव अन्यून रहा। इस राजा ने "नागड" नाम के एक ब्राह्मण को प्रधान बना दिया और वस्तुपाल के अधिकार न्यून कर दिए। इतना ही नहीं किंतु एक मुँह लगे समरक नाम के प्रतीहार के कहने पर इन दोनों भाइयों से यह बलात्कार धन माँगने लगा। उन्होंने कहा कि हमारे पास जो धन था वह हम शत्रुंजय आदि तीर्थस्थानों पर लगा चुके और अब कुछ नहीं रहा है। वस्तुपाल ने समरक को पहले किसी अपराध पर दंड दिया था। उसने अपने अनुकूल हुए राजा

को ऐसा सिखा पढ़ा दिया था कि उसने तनिक भी न माना और वह यह कहने लगा कि अच्छा, यदि तुम्हारे पास धन नहीं है तो तुम "दिव्य" दो। इन्होंने राजा से पूछा आप क्या दिव्य चाहते हैं ? उसने एक घड़े में साँप रखवाकर सामने किया और कहा कि यह दिव्य है। यदि तुम सच कहते हो कि तुम्हारे पास अब धन नहीं है तो तुम इस घड़े में हाथ डालो, साँप नहीं काटेगा। बड़ी कठिन अवस्था आ पड़ी। राजा यमराज से भी भयंकर हो गया। उसको कौन न्याय मार्ग पर लावे ? जब यह अनर्थ हो रहा था उस समय सोमेश्वर भी वहाँ विद्यमान था। उसके लिये भी यह बड़े संकट की अवस्था थी। एक ओर तो उसका इन उपकारी भाइयों के प्रति प्रेम, दूसरी ओर अविनीत राजा की अप्रसन्नता का विचार, हैरान कर रहा था। वह विचार करता रहा और तुरंत निम्नलिखित अन्योक्ति द्वारा उसने राजा को उपदेश देकर अनर्थ करने से बचाया और इन दोनों भाइयों का, जिन्होंने उसे अनेक बार द्रव्यादि से सम्मानित किया था, प्रत्युपकार किया।

मासान्मांसलपाटलापरिमलव्यालोलरोलम्बतः
प्राप्य प्रौढिमिमां समीर ! महतीं हन्त त्वया किं कृतम्।
सूर्याचन्द्रमसौ निरस्ततमसौ दूरं तिरस्कृत्य य-
त्पादस्पर्शसहं विहायसि रजः स्थाने तयोः स्थापितम्॥

आशय—"हे वायु ! एक अरसे तक गुलाब की सुगंधि में घूमने के बाद अब इस प्रवृद्ध अवस्था को प्राप्त होकर तू ने यह क्या अनर्थ कर डाला ! अरे जिन सूर्य और चंद्रमा ने अंधकार को दूर किया उन्हींका निरादर करके आज तू आकाश में उनके स्थान पर पैरों के स्पर्श करनेवाली धूलि को स्थापित कर रहा है।"

सोमेश्वर का इन दोनों भाइयों को सहायता देने का यह अंतिम अवसर नहीं था। एक और भी दुर्घटना एक समय समुपस्थित हुई। जब वस्तुपाल धोलके में ठहरा था वहाँ पर उसकी पौषध-शाला से उसके एक सेवक ने कूड़ा फेंका जो दैववशात् उसी मार्ग

से पालकी में बैठकर जाते हुए महाराजा वीसलदेव के मामा "सिंह" के सिर पर जा गिरा। उसको बहुत क्रोध आया। पालकी में से उतर वह तुरंत उस स्थान में घुस गया और उसने उस सेवक को खूब पीटा और कहा कि तुझे दिखता नहीं मैं कौन हूँ ? इधर वह अपने घर गया और उधर वह सेवक बुरी तरह से रोता चिल्लाता मंत्री वस्तुपाल के पास गया जो उस समय भोजन करने के लिए बैठा ही था। मंत्री भोजन को त्यागकर उठ खड़ा हुआ। उसने उस सेवक को सांत्वना दी परंतु गर्व में चूर होकर राजा के मामा सिंह ने सेवक के अल्प अपराध पर कठोर दंड दिया यह उसके लिये असहनीय हुआ। उसने अपने सिपाहियों से कहा क्या तुममें से कोई ऐसा है कि जो मेरे मनोदाह को दूर कर सके ? इसको सुनकर एक "भूण पाल" नाम का क्षत्रिय बोला कि आप आदेश दीजिए, मैं सेवा करने को तत्पर हूँ। वस्तुपाल ने कहा कि बस आदेश यही है कि तुम जेठूया (जेठवा) वंशी सिंह का दाहिना हाथ काट कर ले आओ। उस वीर ने ऐसा ही किया। मंत्री ने उस हाथ को अपने मकान पर लटकवा दिया। इस भयंकर कार्य के दुष्परिणाम से वस्तुपाल अनभिज्ञ नहीं था। उसने अपने आश्रितों से कहा कि हमने बलवान् से महा वैर उत्पन्न कर लिया है, अब हमारी मृत्यु में कोई संदेह नहीं है। अतः हमारे साथ रहनेवालों में से जिनको अवश्यंभावी हानि से भय हो उनको चाहिए कि वे पहले ही से यहाँ से चले जावें। उधर सिंह ने भी अपना दल जमाया और वस्तुपाल को सकुटुंब मारने का विचार कर प्रस्थान किया। राजा को भी यह समाचार विदित हो गया। उसने तुरंत सोमेश्वर को बुलाया और उसकी सलाह ली। सोमेश्वर वस्तुपाल के पास गया और अपनी बुद्धिमत्ता से उसने सिंह के साथ मेल करा दिया और राजा को भी शांत कर दिया। इसके पीछे विक्रम संवत् १२६८ में वस्तुपाल बीमार हो गया। उसने अपने जैनी भाइयों को *नागड ब्राह्मण* के सिपुर्द करके कहा कि आपको इनकी रक्षा करनी चाहिए और

उससे तथा राजा से अंतिम विदा मांग शत्रुंजय को प्रस्थान किया परंतु वहाँ तक वह पहुँच नहीं सका, मार्ग ही में उसका शरीरांत हो गया। ये घटनाएँ प्रबंधकोष, वस्तुपालचरित, सुकृतसंकीर्तन आदि ग्रंथों में लिखी हुई मिलती हैं। बहुधा जिन जिन ग्रंथों में वस्तुपाल का चरित अंकित किया गया है उन सब में सोमेश्वर का कुछ न कुछ वृत्तांत मिल ही जाता है। जगडू चरित में भी सोमेश्वर का उल्लेख मिलता है।

सोमेश्वरदेव का समय

इस कवि का गुजरात के राजा भीमदेव (दूसरे) और उसके सामंत धोलका के वीसलदेव के राज्य में होना पाया जाता है। भीमदेव का राज्यकाल वि० सं० १२३५ से १२९८ तक रहा और वीसलदेव ने गुजरात का राज्य भीमदेव (दूसरे) के उत्तराधिकारी त्रिभुवनपाल से छीनकर वि० सं० १३०० के आस पास से लगाकर १३१८ तक अनहिलवाड़ा (पाटण) में राज्य किया। अतः सोमेश्वर का वि० सं० १२३५ और १३१८ के बीच में होना सिद्ध है। सोमेश्वर की संतान आदि का कुछ भी पता नहीं चलता। वास्तव में उसके ग्रंथ ही उसकी सच्ची संतान हैं, जो उसके यश को स्थापित कर रहे हैं।

कीर्तिकौमुदी का सारांश

इस महाकाव्य में ९ सर्ग हैं और सारे श्लोकों की संख्या ७२२ हैं परंतु ये सब के सब श्लोक ऐतिहासिक अंश के अभिधायक नहीं हैं, क्योंकि कवि को इनमें से बहुत से तो महाकाव्य के लक्षणों का निर्वाह करने के लिये, प्रातःकाल, सायंकाल, ऋतु, चंद्रोदय, क्रीड़ा आदि के वर्णन करने तथा छंदरचना में अपनी बुद्धि का वैभव दिखाने के लिये ही रचने पड़े। ऐसा होने पर भी जैसा कि निम्नलिखित प्रत्येक सर्ग के सार से प्रतीत होगा उसका ऐतिहासिक अंश भी बड़े महत्त्व का है।

प्रथम सर्ग—नगर वर्णन, श्लोक ८१। श्रीविष्णुभगवान्, शंकर

और सरस्वती के विषय के मंगलाचरण के श्लोक लिखकर कवि ने सत्काव्य की प्रशंसा की है। तदनंतर वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, माघ, भारवि, बाण, धनपाल, बिल्हण, हेमसूरि, नीलकंठ, प्रह्लादनदेव, नरचंद्र, विजयसिंह, सुभट, यशोवीर, और वस्तुपाल की प्रशंसा में चमत्कृत श्लोक लिखे हैं। फिर सज्जनों के स्वभाव की स्तुति और दुर्जनों के दोषों की निंदा को कुछ श्लोकों में बताकर लिखा है कि वस्तुपाल की कुलीनता, दानशीलता, परसत्कार परायणता, सदाचार, प्रज्ञा, दया, न्याय तथा अपने में भक्ति देखकर उसके स्वरूप का निरूपक काव्य लिखने को मैं प्रस्तुत हुआ हूँ। यों भूमिका समाप्त कर अणहिल्लपुर (पाटण) का वर्णन करना प्रारंभ किया है। उसके विषयमें लिखा है कि वह परकोटे से युक्त बहुत श्रेष्ठ नगर है जिसमें कहीं वेद मंत्रों की ध्वनि, कहीं मंगल गीत और कहीं भाटों के प्रशंसा के शब्द गूँज रहे हैं। वहाँ बड़े बड़े राजमहल हैं और अनेक सम्पन्न पुरुषों के लंबे चौड़े निवास-स्थान ऐसे अच्छे लगते हैं कि मानों वे चाँदी के बने हुए हों। जैसे यमुना मधूपघ्न (मथुरा) को, सरयू साकेत को और गंगा गजाह्वयपुर (हस्तिनापुर) को सेवती है वैसे ही सरस्वती नदी उस पुर को सेवती है। उस नगर के समीप ही नाना प्रकार के कमल आदि पुष्पों से सुशोभित, हंस, शङ्ख, चक्र (घड़ियाल) आदि से युक्त एक बहुत गंभीर तथा विस्तृत सर (झील) है जिसके किनारे पर एक बहुत ऊँचा उज्वल कीर्तिस्तंभ स्थापित किया हुआ है। जहाँ अनेक बड़े बड़े देवालय हैं। उनमें शंकर का एक मंदिर तो बड़ा ही सुंदर है। यज्ञों का धुआँ आकाश में फैलता है। इधर उधर कहीं भी देखो अप्रतिम सुंदर स्त्रियाँ विहार करती हुई दिखलाई पड़ती हैं। उस नगर की शोभा का कहाँ तक वर्णन लिखें न लंका, न चंपा, न विदिशा, न काशी, न मिथिला, न त्रिपुरी, न मथुरा, न धारा उसकी बराबरी कर सकती है।

द्वितीय सर्ग—नरेन्द्रवंश वर्णन, श्लोक १०५। अनेक राजाओं को जीतनेवाला चौलुक्य कुलारणय "मूलराज" जिसका गर्जरेश्वर की

राजपश्री ने स्वयम् अपनी इच्छा से वरा था उपरोक्त अणहिलपुर में राज्य करता था। उस असामान्य पराक्रमी ने लाटेश्वर के सेनापति बारप को युद्ध में मारा और उसके हाथियों को छीन लिया। कच्छ के लक्ष (लाखा फुलार) को भी मारा। उसने अपने दान से प्रजा के दारिद्य को और शौर्य से दुर्जनों को दूर करते हुए चिर काल तक राज्य किया। उसका उत्तराधिकारी इस महीमंडल का मंडन "चामुंडराज" हुआ जिसके पास शत्रुओं को भय दिलानेवाली सेना तथा कोश बहुत था। उसके पीछे "वल्लभराज" नाम का राजा हुआ। वह इतना उग्र था कि एक समय उसके डर के मारे मालवा के राजा के हाथ से तलवार नीचे गिर पड़ी। अपने शत्रुओं को बुरी तरह रौंधने से उसका नाम "जगत्कंपन" पड़ गया। उसका उत्तराधिकारी उसका भ्राता "दुर्लभराज" हुआ जिसकी विद्यमानता में शत्रु लोग उसके राज्य को कुछ भी हानि न पहुँचा सके। उस सौभाग्यशाली का हाथ कभी भी दूसरे की स्त्री और ब्राह्मणों के धन पर नहीं पड़ा। उसके स्वर्गवास होने पर उसके भाई का पुत्र "भीम" नाम का राजा हुआ। उसने संग्राम में धारापति (भोज) को जीता परंतु उसको गुणवान जानकर उसके घोड़े ही छीने, प्राण नहीं। उसके पीछे "कर्ण" नाम का राजा हुआ जो पराक्रम में तो अपने पिता के समान था परंतु आकृति में साक्षात् कामदेव था। उसका भी यश दूर दूर तक फैला। उसके अपूर्व-गुण-धाम जगज्जयी "जयसिंह" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बाल्यावस्था से ही अपना पौरुष दिखाने लगा। उसने युद्ध में सौराष्ट्र (जूनागढ़, गिरनार) के शूर वीर "खंगार" को बुरी तरह पछाड़ा, अति-सेना-संपन्न सिंधराज को कैद किया और अर्णोराज (अजमेर का चौहान राजा आना) को भी मथ डाला। उसमें और विष्णु में इतना ही भेद था कि उन्होंने अर्णोराज (समुद्र) को मथ कर उसकी पुत्री (लक्ष्मी) को ले लिया परंतु उस (जयसिंह) ने अर्णोराज (आनाक, आना) को मथने पर भी अपनी पुत्री (कांचन देवि) उसे ब्याह दी और उस शाकंभरीश्वर (अर्णोराज)

की ही एक (बघेल) शाखा में उत्पन्न राजर्षि "अर्णोराज" सहन न कर सका। उसने अपने वीरपुत्र धवल तथा अन्य सुभटों को लेकर राष्ट्र को निष्कंटक करना प्रारंभ किया और अपने बुद्धि तथा भुजबल से शांति स्थापित की। उस धवल का शूरवीर पुत्र "लावण्यप्रसाद" है जिसके कारण वह राजकुल ऐसा सुशोभित तथा अजेय हो रहा है कि जैसे आकाश चंद्रमा से। उसने अपनी तलवार से नड्डुल (नाडौल) के स्वामी को मार डाला। उसके उग्र निदर्शन से राजा लोग अभी तक काँपते हैं। उसके राज्य में कोई चोर या डाकू किसी प्रकार का भी बिगाड़ नहीं करता और उसकी सेना जहाँ जाती है वहाँ विजय प्राप्त करती है। धारा के (परमार) राजा ने उसके विरुद्ध आक्रमण करने का साहस किया परंतु उसको सुस्थिर देखकर वह वापिस लौट गया। इसी प्रकार से दक्षिण देश का भी राजा जिसके पास सेना तो बहुत थी परंतु जो स्वयं पराक्रमी नहीं था इस अल्प-सैन्य और अति पराक्रमी के सामने से भाग गया। उस लावण्य-प्रसाद का पुत्र वीरशिरोमणि वीरधवल है जो गुणों में अपने पिता से किसी भी तरह कम नहीं है। उसका वंश ऐसे सद्गुणसंपन्न पिता पुत्रों से अधृष्य (वैरियों से अजेय) हो गया है। एक समय लावण्यप्रसाद ने शय्या से उठते ही रात्रि में देखे हुए स्वप्न को निवे-दन करने तथा उसका फल जानने के लिये अपने शिष्ट पुरोहित सोमेश्वरदेव को बुलवाया और उसके आने पर सत्कारपूर्वक नम-स्कार किया। पुरोहित ने आशीर्वाद देकर आसन ग्रहण किया। राजा (लावण्यप्रसाद) ने जिसके समीप उसका पुत्र वीरधवल भी उपस्थित था सादर यों अपना स्वप्न वर्णन करना प्रारंभ किया। "भगवन्! आज स्वप्न में मैंने क्या देखा कि मैं कैलास पर्वत पर गया और वहाँ जाकर साक्षात् श्रीशंकर भगवान् का अर्चन किया और अर्चन करके ज्योंही समाधिमुद्रा लगाकर ध्यानावस्थित हुआ त्यों ही राका (पूर्णमासी अथवा वह स्त्री जिसे पहले पहल रजोदर्शन हुआ हो) के समान आकारवाली एक सुंदरी दिखाई पड़ी। श्वेत चंद्रमा

के समान वदनवाली, श्वेत वस्त्र पहिने हुए, श्वेत चंदनादि लगाए हुए, हाथों में श्वेत माला लिए हुए उस बाला को देखकर मैं अति विस्मित हो गया। मैंने उससे पूछा कि तू किसकी है, कौन है, यहाँ क्यों खड़ी है? तो वह बोली कि हे वीर! तू मुझको गुर्जरराजलक्ष्मी जान! मैं आज शत्रुओं से संतापित हूँ। हाय! वे गुर्जरेंद्र तथा कुंजरेंद्र (बड़े हाथी) आज नहीं हैं जिनकी भुजा और दाँतों में मेरा निवासस्थान था। जो आजकल भूपाल है वह दुर्बल बालक है. रहे मंत्री तथा मांडलीक, उनमें न क्रम (ढंग, बुद्धि) है, न पराक्रम। देखो मैं उनके अन्नदाता की अर्द्धांगिनी हूँ। जब वे मुझको ही कामदृष्टि से देखने लग गए तब उनसे राज्य-प्रतिपादन में क्या प्रतिकार की संभावना हो सकती है। आज वह धर्मात्मा पुरोहित आमशर्मा विद्यमान नहीं है जिसने मेरी रक्षा की थी। आज वह (कर्णराज के मंत्री) मुंजाल का पुत्र भी नहीं है जिसने अपने मंत्रों से प्रतिपक्षी क्षत्रियों का क्षय किया था! आज वह युद्धवीर राठोड़ प्रतापमल्ल नहीं है जो गंधद्विप के समान वैरियों के गजों की मंद गंध भी नहीं सहन करता था! क्या कहूँ एक जगद्देव के, जिसके होते हुए शत्रु लोग गुजरात के राजा की राजधानी में प्रवेश नहीं कर सकते थे, न होने से घरकों ही ने मुझको इस दीन दशा को पहुँचा दिया है। आज वह पुरोहित-कुमार भी न रहा कि जिसने चेदी देश की राज्यलक्ष्मी को लाकर मेरी सपत्नी बनाया था। जो राजधानी मूलराज के वंशज राजाओं के तेज से देदीप्यमान थी आज उसमें सूर्य के अस्त होने पर दीपक भी नहीं जलता। जो निरंतर इधर उधर घूमते हुए गजों की घंटियों की गूँज गूँजती थी वह निरानंद नगरी आज गीदड़ों के नादों का प्रतिनाद कर रही है। अरे क्या कहूँ आज उसकी फुलवारी लुट गई, उसके वृक्षों के खंडित खंड मुंड के समान पड़े हैं तथा गूर्जरधराधिपों की राजधानी दूर ही से सौभाग्यहीन दीन विधवा की नाई दीख पड़ती है! अतएव मैं तुमसे अनुरोध करती हूँ कि तू और अपने वीर पुत्र वीरधवल को साथ लेकर मेरा

निस्तार कर और राज्य का उद्धार कर। फिर मुझे क्या करना चाहिए उसका आदेश देकर उसने सहसा एक पुष्पमाला मेरे गले में पहिना दी और मेरी नींद के साथ साथ वह भी अंतर्धान हो गई। अब आप कृपा करके बताइए कि यह क्या बात है।" सोमेश्वर ने उत्तर दिया कि श्रीमान् आप धन्य हैं। आपने जो स्वप्न वर्णन किया है उसका सार यही है कि लक्ष्मी ने जैसे विष्णु भगवान् को वरा था वैसे ही जयश्री आपको स्वयम् वरती है। अब आप शीघ्र उद्योग प्रारंभ करिए और सबसे पहले चतुर मंत्री स्थापित करिए क्योंकि—

> दृप्यद्भुजाः क्षितिभुजः श्रियमर्जयन्ति,
> नीत्या समुन्नयति मन्त्रिजनः पुनस्ताम्।
> रत्नावलीं जलधयो जनयन्ति किं नु,
> संस्कारमत्र मणिकारगणः करोति ॥२।११३॥

आशय—यद्यपि राजा की वीर्य्यवान् भुजाएँ विजय प्राप्त कर लेती हैं यह सही है तथापि विजय किए हुए देश की नीति द्वारा उन्नति करना नितांत मंत्रिमंडल का ही काम है। देखिये महासागर नाना प्रकार के रत्न उत्पन्न करते हैं परंतु उनको सुधार कर ठीक बना देना जौहरियों का ही काम है।

तृतीय सर्ग—मंत्रिस्थापना, श्लोक ७६। वैश्य जाति में एक प्राग्वाट (पोरवाड़) वंश चला जिसमें अनेक सुप्रसिद्ध पुरुष हुए और अधिकतर उनकी प्रसिद्धि का कारण उनका विद्वान् होना हुआ। उनमें सब से पहला पुरुष चंडप हुआ। यह चातुर्य में चाणक्य के, विद्या में अंगिरा के पुत्र बृहस्पति के और गंभीरता में समुद्र के समान था। उसके चंडप्रसाद नाम का मृदुभाषी और कुशाग्रबुद्धि पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने मंत्री-पद पर ऐसी योग्यता के साथ काम किया कि राजा उसको क्षण भर भी अलग न होने देता था। उसके पुत्र का नाम सोम था। वह एक साधु,

जा दक्षिण देश के राजा सिंहन के लिए संतापकारी हुई। उसने अचानक आक्रमण करने के लिए अपनी सेना रवाना कर दी। इस दुर्घटना से सारी प्रजा में सहसा त्रास उत्पन्न हो गया। ज्यों ज्यों शत्रु की सेना आगे बढ़ती गई त्यों त्यों आस-पास के दुर्बल लोग अपने अपने निवासस्थानों को त्याग कर भागने लगे। इधर लावण्य-प्रसाद और वीरधवल के पास यद्यपि सेना थोड़ी थी तथापि वे निर्भयतापूर्वक बड़े साहस के साथ शत्रु की सेना से, जो भृगुकच्छ (भड़ोच) तक बढ़ आई थी, सामना करने को चले। इन पिता-पुत्रों को इधर इस तरह फँसे हुए देखकर मारवाड़ के चार राजाओं ने भी गुजरात पर चढ़ाई कर दी। यों एकाएक एक नई घटना उपस्थित हो गई। इतना ही नहीं किंतु गोद्रह (गोधरा) और लाट (गुजरात का दक्षिण देश) के राजा, जो इन पिता-पुत्र के साथ संग्राम में सहायक होकर गए थे, मारवाड़ के राजाओं से मिल गए और उन्होंने इन्हें रामभरोसे छोड़ दिया। क्या ही अद्भुत आपत्ति आई! ऐसी अवस्था में धीर से धीर भी भयभीत हो जाता है परंतु इन राजकार्य-कुशल असामान्य वीरों ने तनिक भी धैर्य न छोड़ा। इन्होंने पहले तो अपने पूर्ण-बल से यादवों का सामना किया और उन पर ऐसे टूट पड़े कि उस सेना (सिंहन के सैन्य) के पैर उखड़ गए। तदनंतर फिर उन्होंने छः राजाओं अर्थात् मारवाड़ के चार राजाओं * एवं गोधरा और लाट के राजाओं से मेल कर लिया। फिर मालवा के शत्रुओं के संघात के सामने आप और यों अपूर्व चतुरता के साथ अपना काम सँभाला।

इधर जब कि राजा यों संग्राम में आसक्त था दैवयोग से वस्तु-पाल की बुद्धि और वीरता की परीक्षा का भी अवसर आ उपस्थित हुआ। राजा सिंधुराज के पुत्र शंख ने वस्तुपाल के पास एक दूत भेजा। उसने आकर पहले तो अपने स्वामी के गौरव और वीरता का वर्णन

* मारवाड़ के इन चार राजाओं में से तीन के लिए देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० १३४।

किया और उसका दक्षिण के राजा सिंहन से हारकर कैद हो जाने तथा फिर छूट जाने का ऐसे ढंग से उल्लेख किया कि जिससे उसकी अधिक मानहानि न हो। फिर राजकीय संदेशा सुनाने लगा कि आपको भी ज्ञात होगा कि यह स्तंभपुर (खंभात) हमारे महाराज की कुल क्रमागत संपत्ति है। अब उन्होंने इसे माँगा है और इस ही लिए मुझको आपके पास भेजा है। यदि आप समयज्ञ हैं तो इसे अर्पण कर दीजिए। यदि मेरे कथन को स्वीकार करते हुए आपको अपने भोगपति (शासक) के स्थान छूट जाने का विचार आता हो तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आप चलकर हमारे महाराज को प्रणाम कीजिए और आपकी अधिकारमुद्रा ज्यों की त्यों बनी रहेगी। साथ ही साथ उन्होंने यह भी कहला भेजा है कि यदि आपके मन में कुछ अन्यथा ही जँचे तो असाध्य विरोध के साधन के लिए प्रतिभू उनकी तलवार उपस्थित है। यों यद्यपि शत्रु ने युक्ति, प्रलोभन और भय द्वारा वस्तुपाल के मन को, एक ऐसे समय में कि जब राजा उसकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता था, खींचा परंतु यह सर्वथा निर्लेप रहा। दूत जब अपने कथन को समाप्त कर चुका तब इसने निर्भयता के साथ उसके वचनों का यथाक्रम उत्तर देना प्रारंभ किया और कह दिया कि तुम लोग इन कपोल कल्पनाओं को सर्वथा त्याग दो। इस ही में तुम्हारा कल्याण है और यदि दुर्भाग्यवश तुम्हारे स्वामी की बुद्धि न्यायमार्ग का अवलंब करने से घृणा करती है तो तुम जाकर उससे स्पष्ट रूप से कह दो कि हम भी उसके अखंड उद्योग का खड्ग द्वारा खंडन करने के लिए पूर्ण रूप से उद्यत हैं। ऐसा रूखा उत्तर सुनकर दूत खिसिया गया और साहंकार बोला—

> कुर्वाणस्त्वयि शस्त्रधारणमसावसत्पतिर्लज्जते
>
> ये नैकेन रणाङ्गणेऽपगणितः सेनाघनः सिंघनः।
>
> तच्चेतसि चेद्विचारकणिका काप्यस्ति तन्मुच्यताम्
>
> मानोऽयं नयवेदिनाथ भवता धर्मेऽनमामुच्यताम् ॥४।६०॥

आशय—जिस हमारे महाराज ने अकेले ही रणांगण में सिंघन जैसे वीर की सेना-समूह को कुछ भी न गिना; उसको तुम जैसे व्यक्ति के सामने शस्त्र उठाते लज्जा आती है। मैं इसलिए तुमसे फिर कहता हूँ कि यदि तुम्हारे मस्तिष्क में विचारशक्ति का लेश भी है तो तुम जैसे नीतिज्ञ को अवश्य निरर्थक अभिमान त्याग देना चाहिए। दूत अंत तक भग्न-मनोरथ ही रहा और मंत्री को युद्ध में तत्पर जान उसने अपने स्थान को प्रस्थान किया।

पाँचवाँ सर्ग—युद्ध वर्णन, श्लोक ६८। दूत ने वापस जाकर सब समाचार शंख से कहे जिनको सुनकर वह कुपित हुआ और युद्ध के लिये तुरंत अपनी सेना सजा वटकूप (जिसे आज कल वडकुआ कहते हैं) सर के तट पर आकर उसके अपने नगारों के घोष से अपना आगमन विदित किया और वह शनैः शनैः आगे बढ़ने लगा। यद्यपि गंभीर स्वभाववाला होने से मंत्री ने अपने मुख से अपना भाव नहीं प्रकट किया था तो भी उस (वस्तुपाल) का उठा हुआ रोम रोम उसका भाव प्रकट कर रहा था। उसने झट निर्भय होकर अपनी सेना सजाई और वह अपने अश्व पर, जो दाहिने पैर से भूमि को खोदकर जय की सूचना दे रहा था, सवार हुआ और अपने स्वामी का हृदय में स्मरण कर प्रस्थान किया। यद्यपि उसके आगे आगे भुवनपाल आदि वीरभट भी चले तथापि वह वीरता के कारण अग्रगंता गिना गया। मंत्री ने बड़ी बुद्धिमानी तथा वीरता के साथ नगर की रक्षा की और शत्रु को उसमें प्रवेश न करने दिया। मंत्री आगे बढ़ा और फिर क्या था, दोनों सेनाओं में घोर संग्राम होने लगा। तलवारवाला तलवारवाले से, कुंतवाला कुंत-वाले से, योधा योधा से और सवार सवार से लड़ा। मंत्री ने भी चट अपनी तलवार म्यान से बाहर की और अहिंसा व्रत को त्याग पुरुष व्रत का निर्वाह किया। पृष्ठ से अपने प्रभु के प्रोत्साहन ने तथा सामने मागधों (भाटों) के उत्तेजन ने उसके विक्रम को और भी अधिक बढ़ाया। उधर वीर संग्रामसिंह ने जिसको शंख भी कहते

नगर के समीप खुले मैदान में था, वंदना करने के लिये गया। यद्यपि उस समय उसके साथ थोड़ा ही परिच्छद (हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सवार आदि) था परंतु उसके दर्शन करने की उत्सुकता वाले स्त्री पुरुष इतने उलट पड़े की मार्गों में वे समाए भी नहीं। स्त्रियाँ उसको देखते ही बड़े चाव से कहने लगीं यह है हमारा दाता, संरक्षक, विजयी, वाग्मी, नीतिमान्, क्षमावान् रक्षक, और उनके स्वाभाविक चंचल नेत्र उसके स्वरूप में स्थिर हो गए।

मंदिर में पहुँचकर मंत्री ने दूध, दही, मधु, घृत, खाँड, जल, पुष्प, कपूर, अगर, चंदनादि से देवी का श्रद्धापूर्वक अर्चन किया और यही वरदान मांगा कि वह देवी निरंतर उसके स्वामी की तलवार में तथा उसके हृदय में निवास किया करे। पूजा समाप्त करके वह कील वन में, जो नाना प्रकार के घने वृक्षों से ऐसा सुशोभित था कि मानो अंधकार और शीतलता सूर्य्य से भयभीत होकर वहाँ निवास कर रहे हों, विहार करने को चला गया। ग्रीष्म ऋतु के कारण उसका चित्त उस समय वहाँ पर बहुत प्रसन्न हुआ और वहाँ पर उसने विद्वत् मंडली के साथ गोष्ठी की। कवीश्वरों की वाणी ने उसके कर्णों को तृप्त किया और उस उदारचित्त ने उन्हें द्रव्य से हर्षित किया। उस उद्यान में वह दिन बिताकर सायंकाल के समय अपने निवास स्थान को लौटा।

सातवाँ सर्ग—चंद्रोदय वर्णन, श्लोक ८३। इस सर्ग में कोई ऐतिहासिक बात नहीं किंतु कवि कल्पना की उन्नत तरंगों का ही विकास है।

आठवाँ सर्ग—परमार्थ-विचार, श्लोक ७१। एक दिन वस्तुपाल प्रातःकाल होते ही उठा और उठकर रात भर के लिये ही चकवा चकवी का मिलाप देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। क्यों न हो? "परकष्टे प्रनष्टे हि सतां प्रीतिः प्रचीयते"—सज्जनों की प्रसन्नता दूसरों के दुःख दूर होने पर बढ़ा ही करती है। उसने उस ही घड़ी एक ओर तो कुमोदनी का म्लान होना और दूसरी ओर कमलों का विकास

होना देखकर मन में निश्चय किया कि यह विभूति तो क्षणभंगुर है, वास्तव में चिरस्थाई आनंद उत्पन्न करनेवाली वस्तु कुछ और ही है। उसका ध्यान प्रातःकाल में अनायास उपस्थित होनेवाली नाना प्रकार की घटनाओं पर गया। क्या देखता है कि,

विलोललोचनाः प्रातर्मौलिमाल्यानि तत्यजुः।
लोके हि कारणेनैव गौरवं गुणिनामपि ॥८।२५॥

आशय—स्त्रियों ने अपने सिर की उन मालाओं को (कि जिन्होंने रात भर अपनी सुगंध से उनको तृप्त किया था) प्रातःकाल होते ही उतारकर फेंक दिया, क्योंकि इस संसार में गुणवालों का गौरव भी कारण (स्वार्थ) से ही हुआ करता है। ऐसे ऐसे विचारों की लहरों में स्नान करते हुए उस धर्मात्मा ने फिर शुद्ध जल से स्नान किया और त्रिकालज्ञ जगत्पूज्य (जिन) की पूजा में बैठ गया। उसको तिलक लगाए पूजा में बैठे हुए देखकर यही भान होता था कि मानो अन्य पुरुषों के मत्सर ज्वर से संतप्त मनों को त्यागकर भगवान् आदिनाथ इसके सौहार्द्र से शीतल मन में आ विराजे हैं। पूजा समाप्त करके उसने गुरुजनों को प्रणाम किया, सुपात्रों को दान दिया और सात्विक वृत्ति से यह सोचने लगा कि इन सांसारिक कामों की भरमार में फँसे हुए मनुष्य की कभी निवृत्ति तो होती नहीं, अपितु उनका प्रभाव इसपर इतना अधिक पड़ जाता है कि शनैः शनैः यह भले बुरे की साक्षी आत्मा में विराजमान जो धर्म है, उसकी भी उपेक्षा करने लगता है। देखो, कहीं तो कोई बेतरह धन के लिए मर रहा है, कहीं कोई भोग विलास में लीन हो रहा है, परंतु यह नहीं देखता कि—

यस्मिन्सन्निहिते वह्निविषाद्याः प्रभवन्ति न।
धर्मोऽप्यपरमस्त्यन्यः शरण्यः शरीरिणाम् ॥८।२८॥
धर्मस्थितौ भृशं सिद्धिर्युक्ताप्युक्तयोरपि।
दुग्धोपलम्भे सुलभा संपत्तिर्दधिसर्पिषोः ॥८।२६॥

आशय—जिसके पास होने से शक्ति और विष आदि भी अपने

प्रभावों से हीन हो जाते हैं उस धर्म के सिवाय और कौन शरीरधारियों को शरण्य है। ठीक तो यही है कि मनुष्य पहले धर्म की सिद्धि प्राप्त करे .तदनंतर अर्थ और काम तो सहज ही में प्राप्त हो जाते हैं, जब दूध पास में हो गया तब दही और घृत की संपत्ति तो सुलभ है।

. वास्तव में ये सांसारिक भोग विलास तब ही तक मन को मुदित करते रहते हैं जब तक यमराज के डंकों की चोट का शब्द कानों में नहीं सुनाई पड़ता। कालरूपी कसाई से लिया जाता हुआ यह पुरुषरूपी पशु आस पास की विषयरूपी घास में भले ही मुँह मार लें, अन्यथा सच तो यही है कि "यत्सुखं स सुखाभासो यद्दुखं.दुःखमेव तत्" जो सुख दिखता है वह सुखाभास है दुःख तो दुःख है ही परंतु–

मदान्धास्ते परं लोकं कथं पश्यन्तु भूभुजः।
तमोमण्डलमध्यस्थाश्छत्रच्छायाच्छलेन ये ॥८।४४॥

आशय—मदांध राजा परलोक को कैसे देख सकते हैं ? छत्र की छाया के छल से ये तो तमोमंडल में स्थापित कर दिए गए।

धन्य तो वे ही हैं जो अपने मन, वचन और कर्म से धर्म मार्ग में संलग्न है।

कायः कर्मकरोयं न तत्र कार्यातिलालना।
भृतिमात्रोचितो ह्येष प्रपुष्टो विचिकीर्षते ॥८।४८॥

आशय—यह काया तो कर्मकर (मजदूर कर्म करने का साधन) है इसे अधिक लाड़ नहीं लड़ाना चाहिए, इसके लिए तो भृतिमात्र (वेतन—निर्वाह) उचित है अधिक पोषण करने पर यह कुचेष्टा करने लगती है।

अतः विवेकपूर्वक वर्तना चाहिए। अविवेकी पुरुषों के हृदयों में जलती हुई काम क्रोधादि दुःखों की अग्नियाँ कभी नहीं बुझतीं।

अविद्यामेव सेवन्ते हन्त विद्यां व्युदस्य ये।
ते दूत्यांमनुरज्यन्ते वरारोहां विहायिनः ॥८।५२॥

पास) पर्वत के सुंदर शिखर पर पहुँचा और उसने कपर्दी यक्ष की अनेक पुष्पों द्वारा पूजा की। वहाँ पर उसने श्रीनेमिनाथ और पार्श्वनाथ के दो विशाल मंदिर बनवाए और पिछले मंदिर के मंडप में अपने पूर्वजों तथा सुहृदों की एवं अपनी और अपने भाइयों की घोड़ों पर सवार मूर्तियाँ स्थापित करवाईं और उस पर्वत के समीप एक ऐसा सरोवर बनवाया जिसका जल बहुत शीतल था। कुछ दिन वहाँ रहकर, दान पुण्य कर, वह रैवतक (गिरनार) की ओर चला। मार्ग में ऐसा सुप्रबंध रहा कि न तो कोई रोगग्रस्त हुआ, न कोई बात ही बिगड़ी और न किसी वस्तु की कमी हुई। पर्वत पर न चल सकनेवाले रथ, बैलियाँ आदि को नीचे छोड़कर वह ऊपर श्रीनेमिनाथ के मंदिर में गया और वहाँ अत्यंत श्रद्धा से पत्र, पुष्प, कपूर, चंदन, धूप आदि सुगंधित वस्तुओं से उनका पूजन किया जिससे सारा पर्वत मँहक उठा। इस रम्य स्थान पर धर्म परिचर्या करते हुए उसने बहुत दिवस बिताए। फिर वह वहाँ से सौराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़) को गया और वहाँ पर उसने श्रीसोमनाथ की भक्तिपूर्वक पूजा की। यहाँ से जिनेंद्र पदारविंद को अंतिम प्रणाम और अर्थीजनों को दानों से कृतार्थ कर वह अपने नगर को लौट गया।

> व्यावर्तमानमथ मानवराजमंत्रि-
> राजं मुदा प्रतिपथं प्रमदास्तदानीम्।
> पश्यन्त्यदृष्टमिव तं शतशोपि दृष्टं
> तृप्तिर्भवेन्नहि दृशां प्रियदर्शनेषु ॥ ६। ७६ ॥

आशय—जब इस मानव-रत्न मंत्रीराज को लौटा हुआ देखा तो उमंग से भरी हुई स्त्रियाँ, जिन्होंने उसे सैकड़ों बार देखा था तो भी पहले कभी न देखा हो इस तरह, देखने लगीं, ठीक है प्रियदर्शनों के दर्शनों से नेत्रों को तृप्ति होती ही नहीं।

नगर में पहुँचकर उसने राजा के चरण स्पर्श किए और संघ के लोगों का सत्कार कर उन्हें विदा किया।

परिशिष्ट

पूर्वलिखित कीर्तिकौमुदीसार में वस्तुपाल की संक्षिप्त जीवनी आ चुकी है। वस्तुपाल और तेजपाल का वृत्तांत सोमेश्वर के अतिरिक्त अरिसिंह के 'सुकृतसंकीर्तन', जयसिंह के 'हम्मीरमदमर्दन', तथा आचार्य उदयप्रभ के 'धर्माभ्युदय' तथा 'सुकृतकल्लोलिनी', में भी मिलता है। ये सब ग्रंथ संवत् १२८६ के पूर्व कि जब इन भाइयों की सौभाग्य-श्री पूर्ण विकसित थी, लिखे गए थे। तदनंतर बालचंद्र-सूरि ने, जो वस्तुपाल का समकालीन था, उसकी मृत्यु के पश्चात् 'वसंतविलास महाकाव्य' लिखा। पीछे से मेरुतुंगाचार्य ने अपने 'प्रबंधचिंतामणि' और राजशेखर सूरि ने 'प्रबंधकोश' में इनकी संक्षिप्त जीवनी को स्थान दिया, परंतु इन भाइयों के विषय में सबसे अधिक वृत्तांत देनेवाला ग्रंथ जिनहर्ष का बनाया हुआ 'वस्तुपाल चरित्र' है। इस छोटे से प्रबंध में जो वस्तुपाल के विषय में लिखा जा चुका है वह दिग्दर्शन मात्र समझना चाहिए। वस्तुपाल के विषय में दो चार और विशेष बातें इस परिशिष्ट में अन्य ग्रंथों से लिए देते हैं।

मेरुतुंगाचार्य ने प्रबंधचिंतामणि में यों लिखा है—"मंत्रिणस्तु जन्मवार्त्ता चैवं। कदाचिच्छ्रीमत्पत्तने भट्टारकश्रीहरिभद्रसूरिभिर्व्याख्यानावसरे कुमारदेव्यभिधाना काचिद्विधवातीव रूपवती मुहुर्मुहुर्निरीक्ष्यमाणा तत्र स्थितस्याशराजमंत्रिणश्चित्तमाचकर्ष। तद्विसर्जनानंतरं मंत्रिणानुयुक्ता गुरव इष्टदेवतादेशादमुष्याः कुक्षौ सूर्याचंद्रमसोर्भाविनमवतारं पश्यामः, तत्सामुद्रिकानि भूयो विलोकितवंत इति प्रभोर्विदिततत्वः स तामपहृत्य निजां प्रेयसीं कृतवान्। क्रमात्तस्या उदरेऽवतीर्णौ तावेव ज्योतिष्केंद्राविव वस्तुपालतेजःपालाभिधानौ सचिवाभूताम्।"

(हाशिया: इनकी उत्पत्ति)

आशय—मंत्री के जन्म की वार्त्ता इस प्रकार है। एक समय पाटण में भट्टारक श्रीहरिभद्रसूरि व्याख्यान करते समय कुमारदेवी नाम की एक अतीव रूपवती विधवा को वारंवार देखते थे। वहाँ पर आशराज (अश्वराज) मंत्री भी उपस्थित था। उसका ध्यान

(स ओर गया और सभा के विसर्जन होने पर उसने गुरुजी से इस विषय में प्रश्न किया। उन्होंने उत्तर दिया कि इष्ट देवता के आदेश से इसकी कुक्षी में सूर्य और चंद्रमा के समान होनेवाले अवतार को मैं देखता हूँ, इसलिए सामुद्रिक लक्षणों को वारंवार जाँच रहा था। गुरु से ऐसा तत्व जानकर मंत्री ने उस विधवा को अपनी प्रेयसी बना लिया। कालांतर में उसके उदर से ज्योतिष्केंद्रों के समान वस्तुपाल और तेजपाल नाम के सचिव उत्पन्न हुए।

इस रहस्य को सोमेश्वरादि कवियों ने नहीं लिखा है।

ये दोनों भाई योद्धा भी थे। वस्तुपाल के शंख के साथ युद्ध का वर्णन कर चुके हैं। तेजपाल के विषय का भी एक उदाहरण लिखते हैं। महीतट (महीकांटा) नाम के देश का घूघुल नाम का राजा था। उसकी राजधानी गोध्रा थी। वह गुजरात देश में व्यापार करने को आते जाते हुए व्यापारियों के माल को छीन लिया करता था और वीरधवल के कहने सुनने की कुछ भी परवाह नहीं करता। इन दोनों भाइयों ने एक समय उसके पास दूत भेजा और यह कहलाया कि उसे राणा वीरधवल की आज्ञा माननी चाहिए। परंतु उसने उत्तर में राणा के लिए एक काजल की डिबिया और एक शाटिका (ज़नानी धोती) भेज दी। राणा ने अपने सैनिकों से कहा कि घूघुल से युद्ध करने के लिए कौन बीड़ा उठाना चाहता है? तेजपाल ने ही उसे ग्रहण किया और वह सेना लेकर रवाना हुआ। उसने अपने थोड़े से सिपाही आगे भेज दिए जिन्होंने वहाँ पहुँच कर ग्वालियों को पीटा और उनकी गायें पकड़ लीं। घूघुल के पास ज्योंही यह समाचार पहुँचा वह उठ खड़ा हुआ और कहने लगा—

तेजपाल का युद्ध

> वृत्तिच्छेदविधौ द्विजातिमरणे स्वामिग्रहे गोग्रहे,
> सम्प्राप्ते शरणे कलत्रहरणे मित्रापदां वारणे।
> आर्तत्राणपरायणैकमनसां येषां न शस्त्रग्रहः,
> तानालोक्य विलोकितुं मृगपते सूर्योऽपिसूर्यान्तरम्॥

अर्थात् जो ऐसी अवस्थाओं में कि जैसे परंपरा की आजीविका का नाश होता हो, ब्राह्मण के प्राण जाते हों, अपना स्वामी क़ैद होता हो, गौ मारे जाने के लिए पकड़ी जाती हो, शरणागत की रक्षा करनी हो, स्त्री हरी जा रही हो, मित्र की आपत्ति दूर करनी हो, शस्त्र ग्रहण नहीं करते उनके लिए यह अत्यंत लज्जा की बात है।

घूघुल सिपाहियों को ले घोड़े पर चढ़ लड़ने के लिए गया और उसने बड़े पराक्रम के साथ मंत्री की सेना का सामना किया। परंतु द्वंद्व युद्ध में तेजपाल से हार गया और क़ैद कर लिया गया। वीरधवल ने काजल की डिबिया घूघुल के गले में बाँध दी और वह साड़ी उसी को पहना दी। घूघुल को बड़ी लज्जा हुई और वह अपने दाँतों से अपनी जीभ काटकर मर गया। राजा ने तेजपाल को बहुत पुरस्कार दिया।

मुज्जुदीन बहरामशाह के साथ युद्ध

एक समय चर पुरुषों ने दिल्ली से आकर वस्तुपाल को सूचना दी कि मौजदीन सुरत्राण (दिल्ली का मुइज्जुद्दीन बहरामशाह) पश्चिम दिशा की ओर सेना लेकर रवाना हुआ है। मंत्री ने तुरंत उन लोगों को वीरधवल के पास भेजा और उसने इसी को इस विषय का प्रबंध करने के लिए नियत किया। इसने अर्बुदगिरि के नायक धारावर्ष को कहलाया कि जब यवन सेना दक्षिण की ओर आ जावे तो वह घाटों को रोक दे। उसने वैसा ही किया। वस्तुपाल अचानक उन पर टूट पड़ा। यवन तोबा तोबा कर इधर उधर भागने लगे परंतु मार्ग रुके हुए थे। निदान वे बुरी तरह मारे गए और वस्तुपाल ने उनके (तच्छीर्षलक्षैः शकटानि भृत्वा) लाखों मुंड छकड़ों में लदवा कर धोलका में ला वीरधवल को दिखाए।

मद्रेश्वर के राजा भीमसिंह से युद्ध

जावालिपुर (जब्बलपुर) में उदयसिंह (चौहान) नाम का एक राजा राज्य करता था। उसके तीन भाई-बेटे जिनके नाम सामंतपाल, अनंतपाल और त्रिलोकसिंह थे। अपनी आजीविका न्यून होने के कारण

वीरधवल के पास सेवार्थी होकर आए। राजा को इन वीर राजपूतों की आकृति, तेज और उद्यमशीलता पसंद आई, परन्तु जब वेतन के लिए पूछा तो उन्होंने एक एक लाख द्रम्म माँगे। इस पर राजा ने कहा कि इतने द्रव्य में तो सैकड़ों योद्धा नियोजित किए जा सकते हैं। तुम उनसे अधिक क्या करोगे। यों कह उनको बीड़ा दे बिदा किया। मंत्रियों ने राजा से इनकी शिफारिश भी की और कहा कि पुरुषों की योग्यता के सामने धन कुछ भी नहीं, परंतु उसने न माना। निदान वे लोग भद्रेश्वर (कच्छ में) के राजा भीमसेन (या भीमसिंह) के पास चले गए जो बली और धनी था और वीरधवल से बैर रखता था। उसने इनको अपने यहाँ सत्कार-पूर्वक रख लिया और उनकी सहायता से वीरधवल को युद्ध के लिए ललकारा। घोर युद्ध हुआ। वीरधवल "ऊपरवट" नाम के घोड़े से गिरा दिया गया। इन राजपूतों ने यह समझ कर कि उन्होंने वीरधवल का पान खाया था इस लिये उसे जान से नहीं मारा। परंतु यह ताना अवश्य मारा कि वे तुम्हारे सैकड़ों योद्धा कहाँ हैं? वीरधवल नम्रानन हो गया और कहने लगा कि अवसर पर आ जावेंगे। मंत्रियों ने राजा को अपनी भूल का याद दिलाया और वे बड़ी वीरता के साथ लड़े। अंत में संधि होकर युद्ध का अंत हुआ।

वस्तुपाल का धनसंग्रह

वस्तुपाल के पूर्वज मंत्रियों के अधिकार पर नियुक्त रहे थे। उसके पिता अश्वराज के विषय में सोमेश्वर ने लिखा है—

आनीतं न्यायतो वित्तं व्ययितं धर्मकर्मसु।
यशस्तु जगति स्तुत्यं केवलं यस्य तिष्ठति॥

कीर्त्तिकौमुदी सर्ग ३ श्लोक १६

अर्थात् जगत् में यश उसीका फैलता है जिसने न्याय से धन संग्रह किया और उसे धार्मिक कार्यों में लगाया। इसके अतिरिक्त वस्तुपाल और तेजपाल भी मंत्री बने। धनसंग्रह के इन कारणों के अतिरिक्त नीचे लिखे हुए कारण भी उपलब्ध होते हैं—

१—वस्तुपालचरित् में लिखा है कि एक समय ये अपने धन को "हट्टालक" (काठियावाड़ में) स्थान पर गाड़ने गए तो वहाँ पर इनको गड्ढ़ा गड़ाया बड़ा भारी खजाना मिला।

२—जब वस्तुपाल स्तंभतीर्थ पर मंत्री होकर गया तो एक मुसलमान सौदागर जो "सैयद" नाम से प्रसिद्ध था, उसकी आज्ञा के पालन करने में इनकार करने लगा। इस सौदागर के जहाज चला करते थे और वह बहुत धनवान था। इसने भृगुपुर (भड़ौच) से शंख को अपनी सहायता के लिए बुलवाया और उसको वस्तुपाल के सम्मुख युद्ध करने को तत्पर कर दिया। वस्तुपाल ने शंख को पराजित किया और सैयद को कैद कर उसकी संपत्ति अपहरण कर ली। जब इसकी सूचना लवणप्रसाद को दी गई तो उसने आज्ञा दी कि जो बहुमूल्य है वह राज में जमा कर दी जाय। वस्तुपाल ने विज्ञापित किया कि वह सौदागर इतना धनिक है कि उसके यहाँ की गृहरेणु भी बहुमूल्य है। राजा ने गृहरेणु मंत्री के समर्पण कर दी। दैवयोग से इस ही काल में सैयद के कुछ जहाजों में आग लग गई और बहुत सा बहुमूल्य धातुमय सामान रेणु हो गया जो राजा के आज्ञानुसार वस्तुपाल का निज का द्रव्य बन गया।

इन दोनों भाइयों ने दक्षिण में श्रीशैल, पश्चिम में प्रभास, उत्तर में केदार और पूर्व में काशी तक इतने धर्मस्थान बनवाए कि जिनका गिनना कठिन है। आबू की प्रशस्ति में लिखा है कि इनके खुदवाए हुए कुएँ, बावड़ी, सरोवर और नए बनवाए तथा सुधरवाए हुए स्थानों का हिसाब यह पृथ्वी ही जानती होगी। शत्रुंजय, गिरनार और आबू पर तो इन्होंने अलौकिक देव-मंदिर बनवाए। इन मंदिरों में क्रमशः अट्ठारह करोड़ नब्बे लाख, बारह करोड़ अस्सी लाख और बारह करोड़ तिरपन लाख व्यय हुए। कहा जाता है कि इन्होंने कुल मिलाकर तीन अरब और चौदह लाख रुपया धर्मकार्यों में व्यय किया।

धन का उपयोग

कहते हैं कि एक समय जब कि ये दोनों भाई यह सोच रहे थे कि अपने धन का क्या उपयोग करें उन्होंने एक जैन साधु के मुख से निम्नलिखित श्लोक सुना—

> कोशं विकाशय कुशेशय संश्रितालौ
> प्रीतिं कुरुष्व यदयं दिवसस्तवास्ते।
> दोपोदये निविडराजकरप्रतापे
> ध्वांतोदये तव समेष्यतिकः समीपम्॥

आशय—हे कमल! इस समय दिन है, तू अपनी कली को खिला ले और अपना आश्रय लेनेवाले भ्रमर पर प्रेम कर। अरे, जब रात हो जायगी और अंधकार फैल जायगा अथवा चंद्रमा की किरणें तुमको दुखदाई होंगी तब भला कौन तेरे पास आवेगा? इस अन्योक्ति का आशय यह है कि जिस समय मनुष्य समृद्ध हो उस समय उसे दान दया आदि के कार्य करने चाहिएँ। श्लोक में भिन्नाक्षरों में शब्द द्व्यर्थक हैं अतः इसमें अंतरनिहित संकेत यह है कि तुम अपने कोश को प्रकाशित करो, अपने आश्रितों में धन को बाँटो, ये दिन तुम्हारे लिए हितकारी हैं। जब तुम्हारे दोष सामने आवेंगे और तुम पर राजा की क्रूर दृष्टि होगी तब कौन तुम्हारे समीप आवेगा? इसको सुनकर उन्होंने अपनी रुचि को धर्मकार्यों में और भी अधिक लगाया। यह भी कहा जाता है कि अपनी माता की प्रेरणा से इन्होंने देव-मंदिरों के बनवाने में अपना बहुत कुछ द्रव्य लगाया।

---

(२) अर्वाचीन अपढ़ धर्म्मप्रचारक

[लेखक—रायबहादुर बाबू हीरालाल बी० ए०, अमरावती]

गत शत-वर्ष के भीतर छत्तीसगढ़ और उड़ीसा में कई धर्मप्रचारक हो गए और होते जाते हैं जो कि पढ़े लिखे बिलकुल नहीं थे परंतु उन्होंने अपना प्रभाव लोगों पर ऐसा डाला कि उनके लाखों अनुयायी हो गए। यद्यपि इनके चलाए हुए पंथों में विशेष नूतनता नहीं है, उनके सिद्धांत किसी प्राचीन धर्म या पंथ से लिए गए हैं तथापि उन्होंने इतनी अदल बदल कर डाली है जिसको मनन करने से आश्चर्य होता है। इनमें से पहला घासीदास है जिसने छत्तीसगढ़ में सतनामी पंथ चलाया। यह एक गरीब चमार था जो अपने गाँव में मजदूरी न मिलने के कारण निकटस्थ दूसरे गाँव में जाकर एक किसान के यहाँ हल जोता करता था। लेखक ने यद्यपि घासीदास को नहीं देखा परंतु उसके मालिक को देखा है और उसके हरवाहे का चरित्र उसके मुँह से सुना है। छत्तीसगढ़ मध्यदेश की एक कमिश्नरी है। यह वही स्थान है जिसको पहले महाकोशल या दक्षिण कोशल कहते थे। घासीदास के समय में इस कमिश्नरी में तीन जिले थे अर्थात् रायपुर, बिलासपुर और संबलपुर। घासीदास बिलासपुरांतर्गत गिरौद नामक गाँव में पैदा हुआ था और वहीं रहता था। नवीन परिवर्त्तन में संबलपुर उड़िया जिला होने के कारण उड़ीसा में मिला दिया गया। तब छत्तीसगढ़ के शेष भाग के तीन जिले फिर बनाए गए जिसके कारण गिरौद अब रायपुर जिले में सम्मिलित हो गया है। यों तो चमार सर्व्वत्र अधिक हैं परंतु छत्तीसगढ़ में उनकी संख्या बहुत ही अधिक है। इनमें विद्या का प्रचार बहुत ही कम है और घासीदास के समय में और भी कम था। धर्म विषयक ज्ञान का फिर क्या कहना है। अन्य नीच जातियों के समान

वे अनेक देव देवी और भूत प्रेत की पूजा में लिन थे। ऐसे मूर्खों का अपने अंध विश्वास से हटाना, उनके देवता फिकवा देना, पहली श्रेणी के मांसाहारियों का मांस भक्षण ही नहीं वरन उसके समान वस्तुओं का भक्षण, यथा लाल मिरचा, बगन इत्यादि का परित्याग करवा देना, मदिरा की कौन कहे तमाखु पीना भी बंद करा देना और निराकार के नाम की आराधना पर उनका चित्त और भक्ति जमा देना किसी प्रभावशाली धुरंधर पंडित के लिए भी सरल काम नहीं था। परंतु यह सब क्षुद्र "घसिया" ने कर दिखाया। छत्तीस गढ के सतनामी चमार कबीरपंथियों की नाईं मांस मदिरा का उपयोग नहीं करते, मूर्ति की पूजा नहीं करते, केवल सत्यनाम का भजन करते हैं। घासीदास ने इसका प्रचार सन् १८२० और १८३० ई० के बीच में किया। उस समय उसकी इच्छा पुरी आकर जगन्नाथ के दर्शन करने की हुई। तब वह घर से पंद्रह बीस मील चल कर सारंगगढ़ पहुंचा। वहाँ कुछ दिन ठहर कर घर लौट आया और उसने रात दिन 'सत्तनाम सत्तनाम' की रट लगा दी। लोगों ने समझा कि वह विक्षिप्त हो गया है। एक दिन उसकी स्त्री ने जलाने की लकड़ियाँ न पाकर अपने पति से क्रोध में आकर कहा 'तुम तो रात दिन सत्तनाम सत्तनाम रटते हो, रोटी बनाने को घर में लकड़ियाँ तक नहीं हैं, अब मैं क्या तुम्हारा सिर जलाऊँ'। यह सुनकर घासी

सारे छत्तीसगढ़ में फैल गई। दूर दूर के लोग उसके आशीर्वाद के लिये आने लगे। उसके जातीय लोग उसके पाँव धोकर चरणामृत ले जाने लगे। इसकी इतनी अधिकता हुई कि सोनाखान जमींदारी का बाँस का जंगल नष्ट हो गया, क्योंकि चमार लोग चरणामृत बाँस के पोंगरों में ले जाते थे। उसके जातीय लोग उससे दीक्षा लेने के लिए उत्सुक हुए। तब उसने उपदेश किया कि सार वस्तु 'सतनाम' है उसीको भजो और सब पाखंड परित्याग कर दो, मांस मदिरा छोड़ दो और मांस के समान चीजों का उपयोग न करो। ये सब उपदेश संयुक्त प्रांत के जगजीवनदास के चलाए हुए सतनामी पंथ से इतने अधिक मिलते हैं कि इसमें संदेह नहीं कि घासीदास को जगजीवनदास के किसी चेले द्वारा सारंगगढ़ में शिक्षा मिली, जिसके कारण वह पुरी न जाकर घर लौट आया और सत्तनाम का भजन करने लगा। जगजीवनदास का पंथ भी मौलिक नहीं है। उसने उसे कबीरपंथ के आधार पर चलाया था। बहुतेरे लोग उसे कबीर का चेला समझते हैं।

घासीदास ही की श्रेणी का पंथप्रचारक छत्तीसगढ़ से लगे हुए उड़ीसा देश में भीमभोई हुआ जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक जीवित था। वह जाति का कंध था। कंध एक निपट जंगली जाति है जिसको अँग्रेजी में खोंड लिखते हैं। इन लोगों में नरबलि का इतना प्रचार था कि उसके दमन करने के लिए एक विशेष अफसर नियत किया गया था जो कई सालों तक काम करता रहा। यह प्रथा अब बहुत कुछ मिट गई है परंतु पक्की तौर से अब तक भी दावा नहीं किया जा सकता कि गहन जंगलों के बीच यदा कदा उनके देवताओं की मनुष्य के रक्त से तृप्ति न की जाती हो और धरती माता को उर्वरा करने के लिए बलि का अंश खेतों में न गाड़ा जाता हो। पुलिस की रिपोर्टों के पढ़ने से जान पड़ेगा कि जंगलों क्या मैदानों में भी और कभी कभी तो शहरों के मध्य में भी ऐसी घटनाएँ हो जाया करती हैं। भीमभोई नरबलि देनेवालों का सजातीय

होकर भी 'अहिंसा परमो धर्मः' का उपदेशक हो गया और बौद्ध-धर्म का तारतम्य वर्तमान समय तक लगा गया। लोगों का विश्वास है कि शंकराचार्य ने बौद्धधर्म की जड़ उखाड़ कर फेंक दी जिससे भारतवर्ष में कई शताब्दियों से उस धर्म का नाम तक न रह गया, परंतु यह तो 'फूलै फलै न बेंत' का किस्सा है। एक महात्मा ने ऐसा कह दिया इसलिए बहुत से लोग यही समझते हैं कि बेंत फूलता फलता ही नहीं। बेंत की नाईं बौद्ध धर्म भी उड़ीसा में अभी फूलता फलता है। बौद्धतरु अवश्य काट डाला गया परंतु उसकी जड़ कभी नहीं उखड़ी, वह उलहती ही रही। उसके कोमल पल्लव तरुता या तरुणता को अलबत्तह कभी नहीं प्राप्त हुए इसलिए परिवर्तित नाम ही में छिपे रह गए। इस विषय पर राय साहब नगेंद्रनाथ वसु प्राच्यविद्यामहार्णव सिद्धांतवारिधि ने अपनी मयूरभंज की पुरातत्व विषयक रिपोर्ट में सयुक्तिक विवेचन किया है जिससे स्पष्ट है कि बौद्धधर्म उड़ीसा में अब भी वर्तमान है, केवल नाम बदलकर वैष्णव कर दिया गया है और हिंदू धर्म के दायरे में सम्मिलित कर लिया गया है। उड़ीसा में अच्युतानंददास, बलराम-दास, जगन्नाथदास, अनंतदास, यशोवंतदास और चैतन्यदास बड़े महात्मा और वैष्णवाचार्य समझे जाते हैं। ये श्रीकृष्ण के परम भक्त थे परंतु थे सब शून्यवादी। अच्युतानंद ने शून्यसंहिता लिखी है जिसमें शून्य ही की महिमा गाई है और अपनी अनादि संहिता और अनाकार संहिता में 'अनाकार' 'निराकार' 'निरंजन' 'अजर' 'अनाद' और 'अक्षय' को शून्य ही का पर्य्यायवाचक बतलाया है। जगन्नाथदास अपने तुलाभिना नामक ग्रंथ में लिखते हैं "सकल मंत्र तीर्थ स्नान। बोइला शून्य ये प्रमाण॥ देवे बढ़िबु मो पार्श्वती। वे सर्वे शून्य रे अच्छन्ति॥ महाशून्यरु शून्य जात। से शून्य प्रणव सम्भूत। प्रणव परमह अदि। सकल शास्त्र रे कोमाड।

[सब मंत्र तथा तीरथ स्नान। है शून्य के हित सब प्रमान॥
देवेश बड़ों हे पार्वती। इन सबको शून्य माहिं बनो॥

है महाशून्य से शून्य जात। वहि शून्य से हि हुव प्रणव जान ॥
परम कहावत सोइ ओंकार। सब शास्त्र यही कहते पुकार ॥]
चैतन्यदास अपने निर्गुण माहात्म्य में लिखते हैं—
ए देह गले ब्रम्ह याइ। महाशून्य रे विश्रामइ ॥
पिंडरू गले प्राण। से घट हय महाशून्य ॥
[यह देह जाय जब ब्रह्मधाम। महशून्य माँहि लेवे विश्राम ॥
जब पिंड छोड़कर जात प्रान। घट महाशून्य ह्वै जात जान ॥]

बलरामदास अपनी विराटगीता में श्रीकृष्ण से ही कहलवाते हैं—'मोहर शून्य रे विश्राम। से ठारे कहु आछे नाम॥ [है मेरा शून्य मांहि विश्राम। उस ठौर काहि कहता हूँ नाम ॥] पुनः अपनी भूगोल-गीता में उन्हीं से कहलवाते हैं—केहि न थिले हे अर्ज्जुन। महाशून्य रे मोर जन्म ॥ [अर्ज्जुन रहो नहिं कोई प्रथम। महाशून्य से हुव मेरा जनम ॥] इन पङ्दासों की पुस्तकों से जो सोलहवीं शताब्दी में जीवित थे प्रकट हो जायगा कि बौद्धधर्म का शून्य-वाद वैष्णव संप्रदाय में कितना अधिक सम्मिलित कर दिया गया, यहाँ तक कि बौद्धधर्म के पंचध्यानी बुद्ध पंचविष्णु मान लिए गए और उनकी पूजा वैष्णवों द्वारा होने लगी। सभी को विदित है कि पुरी के जगन्नाथ बौद्ध अवतार माने जाते हैं। अभी तक वहाँ जाति पाँति का झगड़ा नहीं है। वहाँ जाकर सभी जातियाँ एक दूसरे का छुआ खाती हैं। यथार्थ में पुरी में असल मंदिर बुद्ध ही का था परंतु हिंदुओं ने उसे वैष्णवीय कर डाला और बुद्ध की असल मूर्त्ति जो अभी तक विद्यमान है एक दीवाल उठाकर छिपा दी। कदाचित् ऐसा करने से तात्कालिक बहुत सी अड़चनें मिट गईं। यदि वे ऐसा न भी करते तब भी बुद्ध को वैष्णव कर डालने में बड़ी बाधा न पहुँचती। इसका जीता जागता उदाहरण बुद्धगया है जिसके महंत हिंदू ही हैं और बुद्ध की पूजा हिंदू प्रणाली के अनुसार होती आ रही है।

बौद्धधर्मवालों का विश्वास है कि बुद्ध का अवतार पुनः होगा।

वैष्णव वेषधारी उड़ीसा के गुप्त बौद्धों के अनुसार यह अवतार उन्नीसवीं सदी में हो चुका। उड़ीसा में एक रजवाड़ा बौद्ध नाम का है उसमें गोलासींगा नाम का एक गाँव है। उस गाँव को भगवान् बुद्ध ने श्रेय दिया। उस समय श्रीजगन्नाथजी नीलाचल को छोड़कर बुद्ध के दर्शन को आए और प्रश्न किया "किसकी आज्ञा से और किस निमित्त आप यहाँ पधारे। भगवान् ने उत्तर दिया—मैं निराकार अलेख की आज्ञा से यहाँ आया हूँ, वही महाशून्य, अरूप अनादि गुरुस्वामी है। कलिकाल में पाप बहुत बढ़ गया है उसके नाश करने के लिये आया हूँ। मैं तुम्हें सत्यधर्म की दीक्षा देता हूँ। अब तुम परमार्थ के हेतु कपिलास को जाकर समाधिस्थ रह कर पश्चात् मनुष्यजाति का उद्धार करो।" कपिलास ढेंकानाल रजवाड़े में है। जगन्नाथजी वहाँ जाकर बारह वर्ष तक समाधि में रह आए। इनको यहाँ के लोग गोविंद कहा करते थे। जब वे कपिलास से उतरे तब उन्होंने भीमभोई को वरदान दिया और महिमाधर्म की महिमा फैलाने के लिए आदेश किया तथा अंतर्धान हो गए। उड़िया भाषा में महिमा का अर्थ केवल गौरव ही नहीं होता परंतु उसमें सेवा भी सम्मिलित है, इसलिए महिमाधर्म का अर्थ सेवाधर्म होता है। कोई कोई इसे अलेखधर्म भी कहते हैं। बौद्ध लोग अपने धर्म को बौद्धधर्म कभी नहीं कहते थे। यह नाम अन्य धर्मावलंबियों का रखा हुआ है। उनके ग्रंथों में उसका नाम केवल 'धर्म' या 'सद्धर्म' पाया जाता है। उन्नीसवीं सदी के बौद्धधर्म का नाम महिमाधर्म या अलेखधर्म था।

पहनो] अर्थात् तुम लोग पाट (रेशम) पहन सकते हो। रेशम तो सबको मिल नहीं सकता इसलिए बहुतेरे भगवा वस्त्र पहनते हैं।

भीमभोई जन्म का अंधा था। बाबू विजयचंद्र मजुमदार की खोज के अनुसार वह रेढ़ाखोल नामक रजवाड़े में पैदा हुआ था और १६ वर्ष की आयु तक एक किसान के ढोर चराया करता था। उड़ीसा के खेड़ों में बहुधा एक अलग झोपड़ी रहती है जिसे भागवत-घर कहते हैं। संध्या समय वहाँ लोग जमा होते और भागवत पुराण या अन्य धर्मविषयक पुस्तकों को सुना करते हैं। भीमभोई भी भागवत घर को नित्य जाया करता था और जो कुछ वहाँ कहा जाता था कंठस्थ कर लेता था और वहीं खेतों में जाकर उसे गाया करता था। उसकी रुचि धर्म की ओर झुकी और जब वह बारह ही वर्ष का था उसे कुंभीपटियों के विचार अच्छे लगने लगे। जब वह सोलह वर्ष का हुआ तो ढेंकानाल को जाकर महिमागुरु के पास रहने लगा। सन् १८७५ ई० में महिमागुरु की मृत्यु हो गई, तब वह वहाँ से चल दिया और अनेक स्थानों में उपदेश करता हुआ अंत में सन् १८७७ ई० में सोनपुर रजवाड़े के खलियापाली नामक ग्राम में बस गया। अपढ़ और अंधा होने पर भी वह शुद्ध और विमल उड़िया में बहुत ही अच्छे गीत बना सकता था जिसके कारण उसकी कीर्त्ति और भी अधिक बढ़ गई, यहाँ तक कि कई ब्राह्मण भी जनेऊ फेंककर उसके शिष्य हो गए। उसकी इतनी बड़ी जमात हो गई कि उसने एक बार अपने अनुयायियों को पुरी के जगन्नाथ को जला देने की आज्ञा दी और वे पुरी चढ़ धाए, पुरी के राजा से लड़ाई हुई और कुछ लोग मारे भी गए। पीछे से धर पकड़ हुई और कई एक को यथोचित दंड मिला। भीमभोई के अनुयायियों का विश्वास था कि उसमें दैवी शक्ति है क्योंकि वह दूषणरहित मनोहर छंदों में बिना प्रयास सुगम रीति से वार्तालाप करता था। उसके शिष्य उसकी वाणी को लिपिबद्ध करते जाते थे। इसके चलाए हुए धर्म में जाति पाँति का भेद नहीं, देवी देवता की

पूजा नहीं। महिमाधर्म के यशोमती-मालिका नामक ग्रंथ में लिखा है:—"सुजातियें कुलधर्म समस्त छाडिये। होमकर्म योग क्रिया सकल त्यजिबे-॥ दारासुत वित्त धृत क्रिया त्याज्य करि। कुंभिपट पिंधि शिरे थिवे जटाधरि॥ अनाकार महिमा नामकु करि शिक्षा। नवशूद्र घरे माँगि खेलुथिबे भिक्षा॥ नवशूद्र घरे अन्न भिक्षाकु भुजिबे। नगर बाहारे काल निद्राकु काटिबे। दिवसरे निद्राफले काल करे थास। रात्रे अन्न भोजन आहारे हय दोष॥ जप नाहि तप नाहि उदासी भाव रे। एका महिमाकु नाम जपिकु हृद रे॥

[भिक्खु स्वकुलधर्म्म जिते सो समस्त छोड़िहैं।
होम कर्म याग क्रिया सो समस्त त्यागिहैं॥
दारा पुत्र वित्त व्रत क्रिया परित्याग कर।
कुंभीपट धारण कर रहें सीस जटा धर॥
अनाकार महिमा के नाम की कर शिक्षा।
नवशूद्रहिं घरे जाय खावैं माँगि भिक्षा॥
नवशूद्रहिं गेह अन्न भीख माँग खायहैं।
निशि को नगर बाहिरे सोइबे सुजायहैं॥
नींद लेय दिवस माँहि तहाँ काल वास है।
भोजन आहार रात करने में दोष है॥
जप नहीं तप नहीं तू रह उदासि भाव से।
एक महिमा का हि नाम जप सहृदय भाव से॥]

• इससे ऐसा जान पड़ेगा कि अलेखपंथी कदाचित् ब्रह्मचारी ही रहते होंगे, परंतु उनमें गृहस्थ भी रहते हैं। गृहस्थों के नियम कड़े हैं। पुरुष स्त्री के पास गर्भ की ऋतु ही में जा सकता है अन्यथा नहीं। इसका अभिप्राय यह बतलाया जाता है कि इस प्रकार के आचरण से भक्ति शुद्धाचरणशाली पैदा होगी और ऐसा होने से थोड़े ही समय में मुक्ति प्राप्त हो सकेगी। परंतु साधुओं को ब्रह्मचारी रहना आवश्यक है। ऐसा होने पर भी भीमभोई के दो स्त्रियाँ

की और एक के लड़का और दूसरी के लड़की हुई। इस पर से उसके कोई कोई शिष्य असंतुष्ट हुए, परंतु उसने समझा दिया कि इस संसार को एक आदर्श पुरुष और एक आदर्श स्त्री दिखलाने के लिये मैंने उन्हें पैदा किया। भीमभोई प्रायः ४० वर्ष की अवस्था में सन् १८९५ ई० में मर गया। अब कुंभीपटियों के दो विभाग हो गए हैं—ढेंकानाल के आदि मठवाले भीमभोई के विवाह कर लेने के अलग हो गए, तिस पर भी खलियावाली के मठ के अनुयायी सब से अधिक हैं।

कुंभीपटिया स्नान करने की परवाह नहीं करते। वे कहते हैं कि मन शुद्ध होना चाहिए, तन की शुद्धि की इतनी आवश्यकता नहीं है। वे उन ब्राह्मणों के यहाँ का भोजन नहीं करते जो अपने देवताओं को भोग लगाते हैं, क्योंकि वे देवी देवताओं को नहीं पूजते। वैसे वे किसी भी जाति के यहां खा लेते हैं। ये बड़े तड़के उठकर सूर्य को साष्टांग दंडवत करते हैं। वैसे ही ये सूर्यास्त के समय अलेख अलेख ध्वनि के साथ नमन करते हैं।

महिमाधर्म के मैथुन संबंधी कड़े नियम के विपरीत उड़ीसा में एक वैष्णव पंथ परमार्थी नाम का है। इसके नियम वाम मार्ग की नाईं गुप्त रक्खे जाते हैं। कहते हैं कि आदि में केवल कृष्ण की भक्ति के सिवाय कुछ नहीं किया जाता था, अब तो कृष्णलीला होने लगी है। इसमें स्त्रियाँ और पुरुष दोनों सम्मिलित रहते हैं और दीक्षित होने पर परपुरुष या परस्त्री से संबंध आवश्यक होता है, तत्पश्चात् आत्मसमर्पण की विधि होती है। इसमें दीक्षित अपनी स्त्री गुरु के समर्पण करता है। स्त्री कृष्ण और गुरुजी राधा बनते हैं। स्त्री के पति को किसी सखी का नाम दिया जाता है और कृष्ण राधा का योग सब परमार्थियों के सामने किया जाता है। यह किसने चलाया इसका पता नहीं लगता, क्योंकि इस पंथ की बातें बहुत गुप्त रक्खी जाती हैं। बिलासपुर में एक डेढ़ ने भी कुछ ऐसा ही पंथ चलाया था। वह कहता था कि बहिन भाई में विवाह करने में कोई हानि

के बाहर जला दिया जाता है। इसके पश्चात् धर्मेश को फल फूल चढ़ाए जाते हैं।

ताना (निकालो) शब्द के अधिक उपयोग से ये लोग 'ताना' या 'ताना भगत' कहलाने लगे हैं। वे स्वयं उसे 'कुड़ुख धर्म' या 'भक्ति धर्म्म' कहते हैं। उराँव लोग अपनी भाषा में अपनी जाति को कुड़ुख कहते हैं। ताना पंथ उराँवों में बहुत फैलता जाता है। बहुत सी बातें हिंदुओं के धर्म्म से ली गई हैं। कुछ क्रिस्तानों से और कुछ अपने आदिम धर्म्म से लेकर यह एक विचित्र खिचड़ी तैयार हो गई है। धर्मेश अर्थात् सबसे बड़ा देव कदाचित् बौद्ध धर्म से पहले ही से शामिल कर लिया गया है। इस देवता के लिंग भेद में बड़ी गड़बड़ है। कोई उसे पुरुष, कोई स्त्री समझते हैं। ख्रीष्टीय पाँचवीं शताब्दि में बौद्ध लोग धर्म्म की मूर्ति देवी रूप में बनाने लगे। नेपाल के नेवार बौद्ध उसे आदि धर्म्म, प्रज्ञा पारमिता, धर्म्म-देवी, आर्य तारा या गयेश्वरी कह कर पूजते हैं। धर्म्म और शीतला की पूजा उड़ीसा में अब तक सर्वत्र होती है। ये दोनों बौद्ध धर्म्म के देवता हैं। शीतला का प्रसार तो सारे हिंदुस्तान में फैल गया है।

प्रमाण पुस्तकावली

1. Russell and Hiralal's Tribes and Castes of the Central Provinces. Articles Satnami, Chawar and Parmarthi.
2. Nagendra Nath Vasu's Archaeological report of Mayurabhanja state Vol I
3. Mazoomdar's Sonpur.
4 Man in India (Anthropological Journal from Ranchi) Vol I
6. Indian Antiquary Vol XXXVII.
7. श्यामसुंदरदास कृत साहित्यालोचन।
8. पार्वतीबाई कृत ईश्वरदास।

दुःख होता है और अकाल में उनकी रक्षा नहीं हो सकती। और दूसरी जाति के यहाँ मजदूरी मत करो। इसके सिवाय धर्मेश ने यह आज्ञा दी है कि जितने चेले हो सकें उन सब को इकट्ठा करके मंत्र सिखलाओ, ये मंत्र मुझे आपसे आप आ जायँगे, उनसे रोग भी हट जायँगे। उसने यह भी डर बतला दिया कि जो उसके चेले न होंगे वे गूँगे हो जायँगे। स्वप्न की बात बतलाते ही उसके सहस्रेक चेले तुरंत हो गए। इन लोगों ने पहले भूत भगाना आरंभ किया। वे इकट्ठे होकर अपने देवताओं का आवाहन करते हुए किसी गाँव में प्रवेश करते हैं। जब किसी को भाव आ जाता है, तब वे लोग निम्नलिखित मंत्रों का उच्चारण करने लगते हैं—

ताना बाबा ताना भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।
ताना बाबा ताना कोनकुची भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।

× × × × ×

चंद्र बाबा सूरज बाबा।
धरती बाबा तारेगन बाबा।
नाम से अर्जी माँगते हैं।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।
डाइन के नासन घायल भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।

× × × × ×

मुरगी खैया भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।
कारा* खैया भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।

---

* भैंसा।

के बाहर जला दिया जाता है। इसके पश्चात् धर्मेश को फल फूल चढ़ाए जाते हैं।

ताना (निकालो) शब्द के अधिक उपयोग से ये लोग 'ताना' या 'ताना भगत' कहलाने लगे हैं। ये स्वयं उसे 'कुड़ुख धर्म' या 'भक्ति धर्म्म' कहते हैं। उराँव लोग अपनी भाषा में अपनी जाति को कुड़ुख कहते हैं। ताना पंथ उराँवों में बहुत फैलता जाता है। बहुत सी बातें हिंदुओं के धर्म्म से ली गई हैं। कुछ किस्तानों से और कुछ अपने आदिम धर्म्म से लेकर यह एक विचित्र खिचड़ी तैयार हो गई है। धर्मेश अर्थात् सबसे बड़ा देव कदाचित् बौद्ध धर्म्म से पहले ही से शामिल कर लिया गया है। इस देवता के लिंग भेद में बड़ी गड़बड़ है। कोई उसे पुरुष, कोई स्त्री समझते हैं। ख्रीष्टीय पाँचवीं शताब्दि में बौद्ध लोग धर्म्म की मूर्ति देवी रूप में बनाने लगे। नैपाल के नेवार बौद्ध उसे आदि धर्म्म, प्रज्ञा पारमिता, धर्म्म-देवी, आर्य तारा या गयेश्वरी कह कर पूजते हैं। धर्म्म और शीतला की पूजा उड़ीसा में अब तक सर्वत्र होती है। ये दोनों बौद्ध धर्म्म के देवता हैं। शीतला का प्रसार तो सारे हिंदुस्तान में फैल गया है।

प्रमाण पुस्तकावली

1. Russell and Hiralal's Tribes and Castes of the Central Provinces. Articles Satnami, Chawar and Parmarthi.
2. Nagendra Nath Vasu's Archaeological report of Mayurabhanja state Vol I.
3. Mazoomdar's Sonpur.
4. Man in India (Anthropological Journal from Ranchi) Vol I.
6. Indian Antiquary Vol XXXVII.
7. श्यामसुंदरदास कृत साहित्यालोचन।
8. पार्वतीबाई कृत ईश्वरदास।

भेड़ा गैया भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।
आदमी गैया भूतनि के ताना।
ताना बाबा ताना तान तोन ताना।

जिस समय यह पंथ प्रचलित हुआ उस समय जर्मन युद्ध हो रहा था। इन लोगों ने जर्मन शक्ति का विवरण जर्मन मिशन द्वारा बहुत कुछ सुना था। इसलिये अपने देवताओं में 'जर्मन बाबा' को भी शामिल कर लिया था और उसका आवाहन यों करते थे--

ताना बाबा ताना
अगिनबोट के ताना।
ताना बाबा ताना
रेलगाड़ी के ताना।
ताना बाबा ताना
बाइसिकिल के ताना।
ताना बाबा ताना
तान तोन ताना।

मंत्रोच्चारण के पश्चात् मांत्रवाला चिल्लाता है 'हटो हटो भागो भूत।भागो भूत भागो' रात भर यह क्रिया जारी रहती है, प्रातःकाल एक सफेद बकरा सूरज बाबा के नाम पर छोड़ दिया जाता। फिर वे किसी घर में घुसते और गाते हैं--

"बाबा-बाबा-चंद्राबाबा-चंद्राबाबा
काँहाँ है--सूरज बाबा-काँहाँ है"
उनमें से कोई उत्तर देता है--
'हियाँ है, हियाँ है'

घर के हर एक कोने की तलाशी ली जाती। उनमें से कोई लकड़ी या तिनका लेकर निकल आता है और कहता यह पकड़ लिया है। कभी कभी जमीन खोदकर भूत की खोज की जाती है जिसमें कि वह किसी जगह छिपकर न रह जाय। फिर वह पकड़ा हुआ भूत बस्ती

के बाहर जला दिया जाता है। इसके पश्चात् धर्म्मेश को फल फूल चढ़ाए जाते हैं।

ताना (निकालो) शब्द के अधिक उपयोग से ये लोग 'ताना' या 'ताना भगत' कहलाने लगे हैं। वे स्वयं उसे 'कुडुख धर्म्म' या 'भक्ति धर्म्म' कहते हैं। उराँव लोग अपनी भाषा में अपनी जाति को कुडुख कहते हैं। ताना पंथ उराँवों में बहुत फैलता जाता है। बहुत सी बातें हिंदुओं के धर्म्म से ली गई हैं। कुछ क्रिस्तानों से और कुछ अपने आदिम धर्म्म से लेकर यह एक विचित्र खिचड़ी तैयार हो गई है। धर्म्मेश अर्थात् सबसे बड़ा देव कदाचित् बौद्ध धर्म्म से पहले ही से शामिल कर लिया गया है। इस देवता के लिंग भेद में बड़ी गड़बड़ है। कोई उसे पुरुष, कोई स्त्री समझते हैं। खीष्टीय पाँचवीं शताब्दि में बौद्ध लोग धर्म्म की मूर्ति देवी रूप में बनाने लगे। नैपाल के नेवार बौद्ध उसे आदि धर्म्म, प्रज्ञा पारमिता, धर्म्म-देवी, आर्य तारा या गयेश्वरी कह कर पूजते हैं। धर्म्म और शीतला की पूजा उड़ीसा में अब तक सर्वत्र होती है। ये दोनों बौद्ध धर्म्म के देवता हैं। शीतला का प्रसार तो सारे हिंदुस्तान में फैल गया है।

प्रमाण पुस्तकावली

1. Russell and Hiralal's Tribes and Castes of the Central Provinces. Articles Satnami, Chawar and Parmarthi.
2. Nagendra Nath Vasu's Archaeological report of Mayurabhanja state. Vol. I.
3. Mazoomdar's Sonpur.
4. Man in India (Anthropological Journal from Ranchi) Vol I.
6. Indian Antiquary Vol XXXVII.
7. श्यामसुंदरदास कृत साहित्यालोचन।
8. पार्वतीबाई कृत ईश्वरदास।

(३) श्रीमती मैनाबाई

(लेखक—मुंशी देवीप्रसादजी, जोधपुर)

धार संस्थान के पँवार वंश में यशवंत नाम के एक प्रसिद्ध राजा हुए। उनके पोते आनंदराव दूसरे* थे। श्रीमती मैनाबाई इन्हीं आनंदराव पँवार की धर्मपत्नी थी जो बड़ी पतिव्रता, प्रजापालन में दक्ष, धैर्यवती और ईश्वरभक्त थी, परंतु दैवयोग से युवावस्था में ही विधवा हो गई थी। आनंदराव के मरने के पीछे इनके सिवाय राज्यशकट का चलानेवाला और कोई नहीं था। देश में चारों तरफ अशांति फैली हुई थी। आस पास के राजाओं ने इनके राज्य में बड़ी धूमधाम मचा दी थी और इनके अमात्य और संबंधियों में से भी कितने जनों ने अपने बड़े बड़े पक्ष बना लिए थे और राज्य पर हक जता जता कर राजधानी छीन लेने के लिए भारी भारी प्रयत्न किए थे, परंतु मैनाबाई ने परमेश्वर पर भरोसा रखकर बड़ी युक्ति और धैर्य से अपना, अपने पुत्र और राज्य का रक्षण किया, देश में शांति स्थापित की और उत्तमता से प्रजा को पाला।

इस वीर बाप की बेटी और वीर पति की पत्नी पर कैसे कैसे संकट पड़े और इन्होंने किस किस तरह से उनका निवारण किया इसका कुछ हाल आगे की पंक्तियों के पढ़ने से मालूम होगा।

इस भारतवर्ष में अब तक देश के भूषण रूप जितने स्त्रीरत्न परमेश्वर ने निर्माण किए हैं उनमें मैनाबाई की भी गणना करना आवश्यक है।

---

* पहले आनंदराव, जसवंतराव के बाप थे जिन्होंने बाजीराव पेशवा से धार वगैरह कई परगने मालवे की जागीर में पाए थे। इनका देहांत संवत १८०६ में, जसवंत राव का १८१८ में और खंडेराव का १८४६ में हुआ। दूसरे आनंदराव खंडेराव के बेटे थे, जो संवत १८६४ में मरे थे।

मैनाबाई पर वास्तव में बड़ा कठिन क्लेश आ पड़ा था क्योंकि प्रथम तो उनको युवावस्था में वैधव्य प्राप्त हुआ, दूसरे राज्य चलाने का अनुभव नहीं था, तीसरे किसी का आश्रय भी नहीं था। इनको अबला देखकर सींधिया होलकरादि सजाति बांधवों ने भी इनके राज्य में लूट मचा दी। रंगराव दीवान अवड़ीकर ने जो आनंदराव के समय से ही धार संस्थान को अपने कब्जे में कर लेने की कोशिस कर रहा था अब अवसर पाकर मनोकामना सिद्ध करने का बड़ा प्रयत्न किया। उधर आनंदराव की बहन ने भी अपने नाम से कोई लड़का दत्तक लेकर गद्दी को मूसना चाहा, परंतु मैनाबाई के कारण इन सब शत्रुओं की आशा पूरी न हुई। उन्होंने अपनी हिम्मत और युक्ति से इन सबके उद्योग को विफल कर दिया।

इन सब शत्रुओं में मुरारिराव नाम का एक बहुत प्रबल शत्रु मैनाबाई का था। यह यशवंतराव पँवार का दासीपुत्र था और आनंदराव के बाद अपने को गद्दी का मालिक समझने लगा था। इसने राज्य में अपना बड़ा पक्ष खड़ा किया और लोभ दे देकर राज्य के बहुत से अधिकारियों को अपने वश में कर लिया। मैनाबाई का तिरस्कार करके उनको मारने के लिए इसने कपट का एक प्रपंच रचा, तब मैनाबाई अपना और अपने गर्भ का रक्षण करने के लिए कई वृद्ध मंत्रियों के मंत्र और प्रबंध से धार छोड़कर मांडव के किले में चली गईं। वहाँ जाने के बाद थोड़े ही दिनों में इनके पुत्र जन्मा, पुत्र का मुख देखकर मैनाबाई को अति हर्ष हुआ। पुत्र होने की आशा से ही वे इतने कष्ट सहन कर रही थीं। अब पुत्र का मुख देखकर उनको जो आनंद हुआ उसका वर्णन करना असंभव है। समस्त मांडव में लोगों ने बड़ा उत्सव मनाया। मैनाबाई ने भी गरीबों को वस्त्र और धन बहुत सा दिया और बड़ा उत्सव दान धर्मपूर्वक किया।

राजकुमार का नाम रामचंद्र राव रखा गया। जब उसके पैदा होने की शुभ वार्ता सब राज्य में फैली तो प्रजा के मन में आनंद ही आनंद भर गया। मैनाबाई के हृदय में तो आनंद समाता भी नहीं

और सेवकों ने भी कहा, परंतु अब तक उनके संकटों का अंत नहीं आया था इसलिए उन्होंने वृद्ध सेवकों के सदुपदेश को नहीं माना। परिजनों को लेकर अपने बच्चे समेत उन्होंने धार जाने के लिए मांडव से प्रयाण किया। मुरारि राव लवाजमा के साथ थोड़ी सी फौज लेकर मैनाबाई और राजकुमार रामचंद्र राव की पेशवाई के लिए धार के बाहर खड़ा था, जिसके साथ बड़े ठाट से मैनाबाई का नगर में प्रवेश हुआ। उन्होंने किले पर रथ को ले जाने के लिए हुक्म दिया। धार का किला बड़ा मजबूत था और किलेदार मैनाबाई के पक्ष का था जिससे वह किला मुरारि राव के हस्तगत नहीं हुआ था। इसी लिए मैनाबाई ने किले में जाना चाहा था कि वहाँ प्रवेश होने के बाद फिर किसी का डर नहीं रहेगा। परंतु मुरारि राव ने उनको किले पर न जाने देकर दूसरे मकान में ठहराया जिसको उसकी फौज ने चारों तरफ से घेर लिया। मैनाबाई को अपने वृद्ध सेवकों के सदुपदेश नहीं मानने का बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

मैनाबाई बड़ी सत्यप्रिया दयावती और सुशीला थीं। अपने प्राण देकर भी शरणागतों और विश्रब्धों का रक्षण करना अपना व्रत समझती थीं, परंतु कम उमर होने से उनको जगत् का अनुभव नहीं था, सब मनुष्यों के स्वभाव की पहचान नहीं थी कि कोई कोई नराधम स्वार्थसिद्धि के लिए पशु-तुल्य वृत्ति धारण करके अनेक दुष्ट कर्म करने को प्रवृत्त हो जाते हैं और कुल मानव जाति को कलंक लगाने से नहीं चूकते।

कैद करने के बाद मुरारि राव क्या करेगा और क्या नहीं इसका भी पता न लगने से मैनाबाई को बड़ी चिंता थी। वे अपनी जान की तो कुछ परवा नहीं करती थीं परंतु अपने साथ राजकुमार की जान को भी जोखिम में पड़ी देखकर उनको बड़ा खेद होता था।

इधर मुरारि राव मैनाबाई को कैद करके संतुष्ट न हुआ। उसकी यह इच्छा थी कि मकान में आग लगाकर मैनाबाई, उसके बेटे और नौकरों को भीतर के भीतर ही जला दें और उसने उसकी तैयारी भी

पहले से कर रखी थी। जब मैनाबाई के सेवकों को यह हाल मालूम हुआ तो बड़ी गड़बड़ मची। सब लोग घबड़ा गए। ऐसे विकट समय में जिस प्रकार बुद्धिमान् और धैर्यवान् पुरुष प्रयत्न करता है उसी तरह से मैनाबाई ने भी अपने पुत्र के बचाने का यह उपाय किया कि अपनी एक दासी को बुलाकर कहा कि तू अपना पुत्र तो मुझे दे और इस युवराज को किले में ले जाकर किलेदार को मेरी तरफ से नम्रतापूर्वक कह कि यह तुम्हारा मालिक है परंतु इस समय इसको मालिक न समझो, अपना लड़का जानकर इसकी रक्षा वैसे ही करो जैसे कि दुनिया में बाप अपने बेटे की करता है।

रानी ने यह कहकर जब अपना लड़का दासी के हाथ में दिया तब उनकी छाती भर आई और वे फिर उससे कहने लगीं कि मैं यह अपना पुत्र तेरे हाथ में नहीं देती हूँ किंतु अपना प्राण देती हूँ इसको ले और जा।

जाते समय उन्होंने अपने बालक को आशीर्वाद देकर कहा कि हे पुत्र! तुम आनंद से रहो, परमेश्वर तुमको चिरायु करे और तुम्हारा संकट सब हर ले।

दासी भी समय को देखकर रानी का काम करने को तैयार हुई। युवराज को लेकर उसने अपना ऐसा भेष बदला कि विचक्षण पहरेवालों को भी भूल में डाल दिया और योग्य समय पर राजकुमार को किले में पहुँचाकर जो धर्म सच्चे सेवकों का होता है वही उसने प्रतिपादित किया।

मैनाबाई ने इतने गुप्त-रूप से राजकुमार को किले में पहुँचाया था तो भी यह हाल मुरारि राव को मालूम हो गया और वह दुष्ट उसको दुःख देने पर उतारू हुआ। उसके दिल में की ज्वाला मुँह से निकलने लगी, गुस्से से उसकी आँखें लाल हो गईं और उसने मैनाबाई से कहलाया कि मुझे धोखा देकर राजपुत्र को किले में भेजा है उसकी सजा तुमको दूँगा और घर जलाकर तेरा प्राण लूँगा और तेरे पुत्र को भी किलेदार सहित दंड दिए बिना न छोड़ूँगा, देखूँ

तू आज कैसे जीती रहती है, कोई तेरा बचानेवाला हो तो उसे पुकार। यह सुनकर मैनाबाई के सेवक कहने लगे कि आप हठ करके अपने सुकुमार शरीर को मत जलने दो, यह दुष्ट तुम्हारा घर जलाकर बदला लेगा इसलिए क्षण भर भी यहाँ ठहरना उचित नहीं है, अपना भला विचार कर इस घर को छोड़ दो, जहाँ निर्भय रह सको चली जाओ।

इस तरह से सेवकों के बहुत सा समझाने पर भी वे अपनी जगह से नहीं हटीं और कहने लगीं कि मैं दुष्कीर्ति से जैसी डरती हूँ वैसी मरने से नहीं डरती। मेरा यश रहते हुए मौत भी आवे तो भले ही आवे। यदि मेरे शत्रु का हित सिद्ध हो गया और मेरी मौत आ गई तो पति के साथ नहीं जाने की जो गलती मैंने की है उसको सुधार लूँगी।

मैनाबाई ने इस तरह से सेवकों को समझाकर मुरारि राव को जो उत्तर भेजा उससे उनका बड़ा धैर्य प्रकट होता है। उन्होंने कहा कि सच्चा राजपुत्र बालक है तो भी मालिक और सब लोगों का पालक है, तू भी उसको ऐसा ही समझ, वह तेरे हाथ नहीं लगेगा, उसका अरिष्ट टल गया है, वह शत्रु रूपी राहु के स्थान से निकल गया है, उसको निर्भय स्थान में देखकर मेरा चित्त बहुत सुखी हुआ है, अब तू मजे से भले ही मुझे तकलीफें दे, मैं सब संकटों को सहर्ष सहूँगी, लोग तो तुझे बुरा कहेंगे पर मैं तो तेरा ऐसा उपकार समझूँगी कि जो और किसी से नहीं हो सकता था।

मैनाबाई ने मुरारि राव को ऐसा जवाब भेजकर किलेदार से भी अपना यह आशय कहलाया कि तुम्हारा मालिक तुम्हारे हाथ आ गया है, अब तुम अच्छा और गुप्त स्थान देखकर इसकी रक्षा करो। पापरूपी गुहा में तुम मत गिरो। तुम राजघराने के स्तंभ हो, तुम्हारा ही मुझे पूरा भरोसा है, सत्य को स्मरण करके चलो, परमेश्वर जगत् की रक्षा करता है इसको तुम भी याद रखो; मेरे मन के डर को अपने पास से दूर करो, प्राण जाय या रहे पर

दूत भेजे, पत्र लिखे, सबसे बालक राजा को बचाने की प्रार्थना की परंतु सहायता करना तो कैसा किसी ने उत्तर भी न दिया। तब बाई साहिबा ने अपने सगे संबंधियों का आसरा लिया और उन्हीं के आगे अपने शोक संताप का विलाप किया। निदान गायकवाड़ महाराज ने उस वीर विधवा की पुकार सुनी और बड़ौदे से सखाराम चिमनाबाई के साथ कुछ फौज भेजी*। वह अभी रास्ते में ही थी कि मुरारि राव उसका आना सुनकर मारे डर के भाग गया, बाई साहिबा के सिर से यह बला भी टली, परंतु उसकी जगह यह दूसरी उपाधि और भी बड़ी हो गई कि गायकवाड़ का अभिप्राय इस सहायता से धार संस्थान को अपने वश में कर लेने का था, जिसका उपाय सखाराम ने वहाँ पहुँचते ही अनेक प्रकार से करना शुरू कर दिया। बाई साहिबा ने इस अवसर पर ऐसी बुद्धिमानी का बर्ताव किया कि उसकी मनोकामना भी पूरी न हुई और उसको बाई साहिबा की ओर से कुछ धृष्टता भी न जान पड़ी। वह पड़ा पड़ा करजदार हो गया और थोड़े दिनों में मर भी गया। उसकी जगह बापू रघुनाथ सेनापति होकर आया। उसने भी अपने स्वामी का हित साधन करने के लिए बहुत उपाय किए, पर वे सब बाई साहिबा की सावधानी से व्यर्थ गए। वह बाई साहिबा के सद्व्यवहार से अपनी खटपट छोड़कर ऐसा सीधा सरल हो गया कि नौकर तो गायकवाड़ का था और काम मैनाबाई साहिबा का करता था। धार में जो उपद्रव उठते थे उनसे धार के राज्य को बचाता था। मुरारि राव धार से तो निकल गया था परंतु उसके मन से राज का लोभ नहीं निकला था। इसलिए उसने इस बीच में कई बार चढ़ाई की। बाई साहिब भी उससे मुँह फेरनेवाली नहीं थीं, बराबर लड़ती और उसको भगाती रहीं।

---

* बड़ौदे में मैनाबाई की फूफी गहिनाबाई गोविंदराव महाराज की रानी थी। उसने महाराज पर जोर डालकर सखाराम को भिजवाया था जो बड़ौदे के कारबारी सीताराम पंत का भाई था।

रहे हैं उनका सिर तोड़ना भी जरूरी है, नहीं तो ये प्रजा को पीस डालेंगे, रही सही बस्ती भी उजाड़ देंगे।

बाई साहिबा ने रोकर कहा मेरा जी तो जीने को भी नहीं चाहता दूसरी बात तो दूर रही, पर जो कुछ तुम हित से कहते हो और आगे भी कहोगे वही करूँगी। अपना दुःख सहूँगी तुम सब के सुख की बात करती रहूँगी। यह कहकर वे शोक-गृह से निकल आईं और कचहरी दरबार में बैठने लगीं। सब कारबारियों से उन्होंने अपना अपना काम करने और प्रजा को सुख देने को कह दिया। फिर राज का हित विचार कर सब सरदारों की सम्मति से अपनी बहन के बेटे को गोद लिया जो इसी पँवार खानदान में पैदा हुआ था और उसका रामचंद्र राव नाम रखकर गद्दी पर बैठाया। वह भी बालक ही था जिससे राज्य का प्रबंध बाई साहिबा को ही करना पड़ा। वे प्रबंध भी करती थीं और मुरारि राव से भी लड़ती थीं। निदान मुरारि राव थककर धार से निकल गया और कुछ दिनों पीछे कहीं मर खपा। उस प्रबल बैरी से बाई साहिबा का पीछा छूटा। प्रजा की भी जान में जान आई। राज्य का रंग बदला, देश भी बसने लगा, आगे को सुख मिलने की आशा हुई, परंतु अभी समय अनुकूल नहीं हुआ था। मुजफ्फर नाम का एक मकरानी लुटेरा अलीमोहन में आ बसा था और धार में अशांति देखकर लूट मार करने लगा था। बढ़ते बढ़ते अब उसने कसबे कूकसी पर धावा किया और धार के आदमियों को निकाल कर अपना अमल जमाया। ऐसे नाजुक समय में गायकवाड़ का सरदार सीताराम बाई साहिबा को अकेली छोड़कर बड़ौदे चला गया और अपनी फौज को भी ले गया। उसके जाते ही महाराज दौलतराव सींधिया की फौज खिरनी का रुपया लेने को धार पर आई। उसने और भी आफत मचाई। उधर से महाराज होलकर ने भी चढ़ाई की। इन सब प्रबल शत्रुओं के मारे धार के राज्य का पूरा पूरा सत्यानाश हो गया। बाई साहिबा किले में घिरी बैठी थीं तो भी हिम्मत नहीं हारी

पट्टे पर मजबूती के लिए राजा रामचंद्र राव और रजीडेंट के दस्तखत करा दिए।

जब इस तरह बाई साहिबा को सब झगड़ों बखेड़ों से अवकाश मिल गया तो वे बहुत से आदमियों को साथ लेकर बड़ी धूमधाम से तीर्थ यात्रा करने को निकलीं और काशी वगैरह पुनीत धाम और तीर्थों में खूब रुपया लुटा कर धार में लौट आईं।

अब राजा रामचंद्र राव भी जवान हो गए थे। बाई साहिबा ने उनका विवाह महाराजा दौलतराव सींधिया की बेटी अन्नपूर्णा बाई से किया।

सींधिया पहले धार का बहुत बिगाड़ कर चुके थे और बाई साहिबा को भी बड़े बड़े कष्ट दे चुके थे। परंतु जब समय आया तो बाई साहिबा ने बुद्धिमानी से उनकी बेटी भी ली और एक परगना भी उनका दायजे में अपने बेटे को दिलाया। बेटे का ब्याह करने के पीछे बाई साहिबा को पोते की आशा लगी हुई थी। पर हाय! वह तो पूरी न हुई, उलटा यह दुसह दुःख फिर देखना पड़ा कि राजा रामचंद्र राव भरी जवानी में अकस्मात् संवत १८८६ में मर गए। अन्नपूर्णा बाई भी विधवा हो गईं। मैनाबाई साहिबा जैसे २२ वर्ष पहले अपने बेटे के वास्ते रोई थीं उससे ज्यादा अब इस दत्तक के वास्ते रोईं। रोते रोते मुरदा जैसी हो गईं। अब उनको फिर एक लड़का गोद लेना पड़ा। गवर्मेंट से मंजूरी मँगाकर दक्खिन के पँवार सरदारों में से एक लड़का बुलाया और अन्नपूर्णा बाई की गोद बैठाया। उसका नाम यशवंत राव रखा गया। वह भी बालक ही था इसलिए राज्य का काम फिर मैनाबाई साहिबा को करना पड़ा जिससे अन्नपूर्णा बाई नाराज हुईं और कहने लगीं कि जब तक इनका बेटा जीता था यह काम करती रहीं अब यह राजा मेरा बेटा है इसलिए मैं काम करूँगी इनको नहीं करने दूँगी।

मैनाबाई साहिबा सब बातों से खबरदार थीं, बहुत कुछ बुरा भला देख चुकी थीं, अन्नपूर्णा बाई साहिबा ने कुछ काम नहीं किया

पट्टे पर मंजूरी के लिए राजा रामचंद्र राव और रजीडेंट के दस्तखत करा दिए।

जब इस तरह बाई साहिबा को सब झगड़ों बखेड़ों से अवकाश मिल गया तो वे बहुत से आदमियों को साथ लेकर बड़ी धूमधाम से तीर्थ यात्रा करने को निकलीं और काशी वगैरह पुनीत धाम और तीर्थों में खूब रुपया लुटा कर धार में लौट आईं।

अब राजा रामचंद्र राव भी जवान हो गए थे। बाई साहिबा ने उनका विवाह महाराजा दौलतराव सींधिया की बेटी अन्नपूर्णा बाई से किया।

सींधिया पहले धार का बहुत बिगाड़ कर चुके थे और बाई साहिबा को भी बड़े बड़े कष्ट दे चुके थे। परंतु जब समय आया तो बाई साहिबा ने बुद्धिमानी से उनकी बेटी भी ली और एक परगना भी उनका दायजे में अपने बेटे को दिलाया। बेटे का ब्याह करने के पीछे बाई साहिबा को पोते की आशा लगी हुई थी। पर हाय! वह तो पूरी न हुई, उलटा यह दुसह दुःख फिर देखना पड़ा कि राजा रामचंद्र राव भरी जवानी में अकस्मात् संवत १८८६ में मर गए। अन्नपूर्णा बाई भी विधवा हो गई। मैनाबाई साहिबा जैसे २२ वर्ष पहले अपने बेटे के वास्ते रोई थीं उससे ज्यादा अब इस दत्तक के वास्ते रोईं। रोते रोते मुरदा जैसी हो गईं। अब उनको फिर एक लड़का गोद लेना पड़ा। गवर्मेंट से मंजूरी मँगाकर दक्खिन के पँवार सरदारों में से एक लड़का बुलाया और अन्नपूर्णा बाई की गोद बैठाया। उसका नाम यशवंत राव रखा गया। वह भी बालक ही था इसलिए राज्य का काम फिर मैनाबाई साहिबा को करना पड़ा जिससे अन्नपूर्णा बाई नाराज हुईं और कहने लगीं कि जब तक इनका बेटा जीता था यह काम करती रहीं अब यह राजा मेरा बेटा है इसलिए मैं काम करूँगी इनको नहीं करने दूँगी।

मैनाबाई साहिबा सब बातों से खबरदार थीं, बहुत कुछ बुरा भला देख चुकी थीं, अन्नपूर्णा बाई साहिबा ने कुछ काम नहीं किया

थीं। अपने देश को बचाने के लिये उसी तरह से चालें सोचती थीं जैसे शतरंज के खिलाड़ी घेरे में दबे हुए बादशाह के लिए सोचते हैं। बापू रघुनाथ के पास आठ नौ सौ सवारों और पैदलों की फौज थी। उसी को लिए हुए वह दुश्मनों का मुल्क लूटता फिरता था। डूँगरपुर से नीमाड़ तक लूट लूटकर अपना और अपनी फौज का गुजारा करता था। इधर बाई साहिब के पास किले में थोड़े से आदमी थे और मुल्क भी कुल ३५ हजार रुपए की आमदनी का उनके कब्जे में रह गया था। इसी आमदनी से वे किले में बैठी हुई ऐसे दारुण दुश्मनों के साथ लड़ रही थीं और परमात्मा से अपने बचाव की प्रार्थना कर रहीं थीं। निदान ईश्वरकृपा से उनके दिन फिरे। मालवे में अँग्रेजी फौज लूट मार का बंदोबस्त करने को आई। बाई साहिबा ने उसके अफसर सर जान मालकम साहिब के पास बापू रघुनाथ को भेजा और सब हाल कहलाया। जनरल ने उससे कहा कि तुम ही इतनी बहुत फौज लिए हुए मुल्कों को लूटते फिरते हो, इसे तो मौकूफ करो फिर दूसरी बात कहना। उसने जवाब दिया कि इसी फौज से तो यह थोड़ा सा मुल्क हमारे पास रहा है इसको भी मौकूफ कर देंगे तो रहा सहा राज्य भी खो बैठेंगे। जनरल ने कहा कि तुम्हारे मुल्क की रखवाली हम करेंगे और जो दुश्मनों ने दबा लिया है वह भी दिलवा देंगे। तब बापू ने उनकी बात मान ली, फौज मौकूफ की और अँगरेजी सरकार से रुपया करज लेकर उसकी तनख्वाह चुका दी। जनरल ने भी महाराजा दौलत राव सींधिया से कह सुनकर बदनावर और बेरसये के परगने छुड़ा दिए और कुकसी वगैरह भी पिंडारों और मकरानियों से छीन लिए। फिर चैत सुदी १ संवत १८७६ को अँग्रेजी सरकार से अहदनामा होकर दुश्मनों का दुःख

पट्टे पर मजबूती के लिए राजा रामचंद्र राव और रजीडेंट के दस्त-खत करा दिए।

जब इस तरह बाई साहिबा को सब झगड़ों बखेड़ों से अवकाश मिल गया तो वे बहुत से आदमियों को साथ लेकर बड़ी धूमधाम से तीर्थ यात्रा करने को निकलीं और काशी वगैरह पुनीत धाम और तीर्थों में खूब रुपया लुटा कर धार में लौट आईं।

अब राजा रामचंद्र राव भी जवान हो गए थे। बाई साहिबा ने उनका विवाह महाराजा दौलतराव सींधिया की बेटी अन्नपूर्णा बाई से किया।

सींधिया पहले धार का बहुत बिगाड़ कर चुके थे और बाई साहिबा को भी बड़े बड़े कष्ट दे चुके थे। परंतु जब समय आया तो बाई साहिबा ने बुद्धिमानी से उनकी बेटी भी ली और एक परगना भी उनका दायजे में अपने बेटे को दिलाया। बेटे का ब्याह करने के पीछे बाई साहिबा को पोते की आशा लगी हुई थी। पर हाय! वह तो पूरी न हुई, उलटा यह दुसह दुःख फिर देखना पड़ा कि राजा रामचंद्र राव भरी जवानी में अकस्मात् संवत १८८६ में मर गए। अन्नपूर्णा बाई भी विधवा हो गईं। मैनाबाई साहिबा जैसे २२ बर्ष पहले अपने बेटे के वास्ते रोईं थीं उससे ज्यादा अब इस दत्तक के वास्ते रोईं। रोते रोते मुरदा जैसी हो गईं। अब उनको फिर एक लड़का गोद लेना पड़ा। गवर्मेंट से मंजूरी मँगाकर दक्खिन के पँवार सरदारों में से एक लड़का बुलाया और अन्नपूर्णा बाई की गोद बैठाया। उसका नाम यशवंत राव रक्खा गया। वह भी बालक ही था इसलिए राज्य का काम फिर मैनाबाई साहिबा को करना पड़ा जिससे अन्नपूर्णा बाई नाराज हुईं और कहने लगीं कि जब तक इनका बेटा जीता था यह काम करती रहीं अब यह राजा मेरा बेटा है इसलिए मैं काम करूँगी इनको नहीं करने दूँगी।

मैनाबाई साहिबा सब बातों से खबरदार थीं, बहुत कुछ बुरा भला देख चुकी थीं, अन्नपूर्णा बाई साहिबा ने कुछ काम नहीं किया

भी अच्छा न था जिससे राजा साहिब भी उनसे नाराज हो गए। माँ बेटे में बिगाड़ रहने लगा। संवत १९०३ में पहले इनका फिर मैनाबाई साहिब का देहांत हुआ। राजा यशवंत राव बेखटके राज करने लगे जिसकी मैनाबाई साहिबा ने जान झोंक कर सींधिया जैसे शत्रुओं से रक्षा की थी। मैनाबाई की मूर्ति धार के छत्री बाग में राजा आनंद राव पँवार दूसरे की मूर्ति के पास विराजमान है। हमने भी दर्शन किए हैं। मूर्ति प्रभावशालिनी है।

धार के रहनेवालों में मैनाबाई साहिब की भी वैसी ही श्रद्धा और ममता है जैसे कि इंदौर में अहिल्याबाई साहिबा की है। अहिल्याबाई साहिबा के पीछे मैनाबाई साहिबा के बराबर मालवे में धीर प्रकृति और शुद्ध वृत्ति की कोई रानी नहीं हुई। वे राज-क्रिया में भी बड़ी कुशल थीं, बिगड़ी हुई बात को बनाने और क[ष्ट] आ पड़ने पर अधीर न होने का कितना बड़ा गुण उनमें था, घर और बाहर के वैरियों से कैसे कैसे कष्ट पाए, दैव गति से भी क्या क्या शोक संताप देखे, पर कभी हिम्मत न हारी, बुद्धिमानी और सावधानी से सब अनर्थ सहे और उनके उपाय भी यथायोग्य किए।

एक नहीं तीन तीन बालक राजाओं को पाला, राज्य को शत्रुओं से बचाया और अपना धर्म भी निभाया जिससे आज तक ऐतिहासिक जगत में सुवासना फैल रही है। धार की प्रजा भी अब तक उनके सद्गुणों और उपकारों को नहीं भूली है। वे भी अपने दुःखों के दिन उमर भर नहीं भूली थीं। अच्छा खाना और अच्छा पहिनना उनके मन को नहीं भाता था, बहुत सादगी और सीधी तरह से अपने दिन बिताती थीं। राजकाज से बाकी बचा समय ईश्वर के भजन स्मरण और धर्म पुण्य के कामों में लगाती थीं। इन्हीं बातों से वे प्रजा को बहुत प्यारी थीं कि उनके देहांत से देश भर में शोक संताप फैल गया था और प्रजा उनके वियोग से बहुत दुःखी होकर बहुत दिनों तक रोती रही थी।

---

(४) मंत्री मंडन और उसके ग्रंथ।

[लेखक—पंडित शोभालाल शास्त्री, उदयपुर]

भारतवर्ष किसी दिन ज्ञान और विद्या का भांडार था। यहाँ के राजा महाराजा और उनके मंत्री बड़े बड़े विद्वान् होते थे। उनका ज्ञान केवल युद्धविद्या और राज्यप्रबंध में ही मर्यादित नहीं होता था किंतु काव्य, साहित्य, संगीत आदि अन्य विषयों में भी वे असाधारण ज्ञान रखते थे। चित्तौड़ के सुप्रसिद्ध महाराणा कुंभकर्ण (कुंभाजी) की बनाई हुई रसिकप्रिया नामक गीतगोविंद की टीका और "स्तंभों के लक्षण" विषयक शिल्पशास्त्र का ग्रंथ,* अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज का बनाया हुआ हरकेलि नाटक†, मंत्री यशःपाल रचित मोहराजपराजय नाटक, विशाखदत्तकृत मुद्राराक्षस आदि कहाँ तक गिनाएँ, अनेक ग्रंथ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान हैं। राज्य के भीतरी प्रबंध और बाहिरी संधि-विग्रहादि कार्यों में व्यस्त रहने पर भी ऐसे ऐसे ग्रंथ लिखना उस समय के नरपतियों तथा मंत्रियों के प्रौढ़ विद्यानुराग को सूचित करता है। आज मैं पाठकों के सम्मुख एक ऐसे ही मंत्रिरत्न के चरित्र को उपस्थित करता हूँ, जो प्रायः पौने पाँच सौ वर्ष पूर्व भारतवर्ष को उज्ज्वल कर चुका है, और जिसकी अलौकिक प्रतिभा के कुछ नमूने उसके स्मृति-चिह्न स्वरूप आज भी हमें दृष्टिगोचर होते हैं।

---

* इसको महाराणा कुंभाजी ने शिलाओं पर खुदवाया था परंतु दुर्भाग्यवश वे शिलाएँ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। केवल प्रारंभ की शिला का कुछ अंश मिला है जो इस समय उदयपुर म्यूजिअम में सुरक्षित है।

† यह भी शिलाओं पर खुदा हुआ अजमेर के "ढाई दिन के झोंपड़े" नामक स्थान में मिला था और इस समय राजपूताना म्यूजिअम अजमेर में रक्खा हुआ है। यह भी अपूर्ण है।

इसका नाम मंडन था और जालौर के सोनगरा (चौहान क्षत्रियों के) वंश में इसका जन्म हुआ था। प्राचीन काव्यों में प्रायः ग्रंथकर्ता का वर्णन बहुत ही कम मिलता है। अधिकांश ग्रंथकर्ता केवल अपना नाम देकर रह जाते हैं। परंतु सौभाग्य की बात है कि मंडन ने अपने बनाए ग्रंथों में अपने विषय में जो कुछ लिखा है उसके सिवाय मंडन के समकालीन महेश्वर कवि का बनाया हुआ "काव्यमनोहर" नामक काव्य मिल गया है जिसमें मंडन के वंश आदि का सविस्तर वर्णन है। काव्यमनोहर के अंत में लिखा है कि "महेश्वर ने अपनी बुद्धि से बड़े परिश्रम के साथ यह "काव्यमनोहर" विद्वान् मंडनेंद्र को कहने (सुनाने) के लिए बनाया"*। इससे और सप्तम सर्ग के ४०वें श्लोक से लेकर ४४वें श्लोक तक जो मंडन के दीर्घायुष्य होने की प्रार्थना की है उससे† विदित होता है कि महेश्वर मंडन का समकालीन था और मंडन की जीवित अवस्था में ही उसने अपना ग्रंथ समाप्त कर लिया था। आश्चर्य की बात है कि महेश्वर ने मंडन के दान और भागका तो कई सर्गों में सविस्तर वर्णन किया परंतु उसके राज्य संबंधी कार्यों और उसके बनाए ग्रंथों के विषय में कुछ भी न लिखा। मालूम होता है कि महेश्वर कवि बाहर का था और मंडन से पूर्णतया परिचित न था। केवल उसके

---

* एवं विधं काव्यमनोहरं वै महेश्वरेणात्ममतिप्रभावात् ।
अकारि यत्नेन महीयसेदं श्रीमण्डनेन्द्राय विदेऽभिधातुम् ॥

काव्यमनोहर स० ७ श्लो० ४७

† आचन्द्रतारं भुवि मोदमानः श्रीमान्यशस्वी भव मण्डन त्वम् ॥४०॥
धमालोके सुधिरायुर्भवतु गुणनिधिर्मण्डनो वै वदान्यः ॥४१॥
दीर्घायुर्भव मण्डन चिंतितफले कीर्त्यैकचित्तः सदा ॥४२॥
आयुष्मान् भव मण्डनाऽवनितले संस्तूयमानो जनैः ॥४३॥
यस्या यान्ति गुणैस्त्वं मनु भुवः सार्थं चिरायुर्भव ॥४४॥

का० म० स० ७

दान की प्रशंसा सुन कुछ पाने की आशा से वह मांडू में आया था। ऐसा भी प्रतीत होता है कि मंडन के वंश आदि का वृत्तांत लोगों से पूछ पाछ कर उसने अपने काव्य के लिए सामग्री एकत्रत की हो। यही कारण है कि उसने अपने काव्य में मंडन के विवाह का, उसके श्वशुर-गृह की भव्यता और समृद्धि का और उसकी पत्नी के रूप और गुणों का तो बहुत ही आडंबर के साथ वर्णन किया है, परंतु न तो पत्नी का नाम लिखा है न उसके पिता आदि के नाम का ही कहीं निर्देश है। न उनके ग्राम आदि का वर्णन है कि वे कहाँ रहते थे और न उनके गोत्र का ही नाम बतलाया है। इसी प्रकार मंडन के भाई का नाम लिखने में भी महेश्वर ने गलती की है। उसने मंडन के बड़े भाई का नाम समुद्र* संघप† लिखा है परंतु

* श्रीमद्बाहड संघपस्य तनयौ द्वावुत्तमाभौ भृशं
राजेतेतु समुद्रसंघपइतिख्यातया विशिष्टो भुवि।
श्रीमन्मण्डन संघपस्तदनुजः श्रीमालभूपामणि-
र्दारिद्र्यौघतमः प्रचण्डतरणिः सत्सूरि चिन्तामणिः।

का० म० स० ७ श्लो० २४

† प्राचीन समय में जब कि आजकल की तरह यात्रा के उपयुक्त साधन नहीं थे, यात्रियों को मार्ग में अनेक कष्ट उठाने पड़ते थे, चोरों और लुटेरों का सदा भय बना रहता था और एक दो आदमियों के लिए लंबी तीर्थयात्रा करना असंभव था। अतः बहुत से लोग एकत्र होकर यात्रा किया करते थे। यह संघ कहलाता था। जब कोई धनी पुरुष यात्रार्थ निकलता तो उसके साथ सब प्रकार का प्रबंध होने के कारण अन्य लोग भी उसके साथ हो जाया करते थे। वह उन सब लोगों के भोजन, वस्त्र और सवारी आदि का सब प्रबंध अपने व्यय से करता था और संघ में एक प्रकार से राजा की तरह होता था। इस प्रकार अनेक लोगों के संघ को साथ लेकर जो यात्रा करता था वह "संघपति" अथवा "संघप" कहलाता था। "संघपति" पद प्राप्त करना एक प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। कभी कभी संघ में यात्रियों की संख्या हजारों ही नहीं किंतु लाखों तक पहुँच जाती थी। राजशेखर सूरि ने अपने जिन-चतुर्विंशति-प्रबंध के

मंडन ने अपने बनाए हुए काव्यमंडन के अंत में अपने बड़े भाई का नाम समुद्र नहीं किंतु समधर लिखा है*। संभव है कि किसी ने उसे लौकिक नाम "समधर" बतलाया हो और उसने उसका संस्कृत रूप "समुद्र" बनाकर लिख दिया हो। मंडन के जन्म, विवाह, दान और छहों ऋतुओं के विविध विलास के वर्णन के बाद अंत में सातवें सर्ग में पृथक् रूप से मंडन के वंश का वर्णन भी इसी बात को सूचित करता है कि काव्य बना लेने बाद उसको मंडन के वंश का विस्तृत वर्णन मिला था।

महेश्वरकृत काव्यमनोहर और मंडन के ग्रंथों के आदि अंत में लिखे हुए आत्मवर्णन से मंडन के विषय में जो जो बातें ज्ञात हुई हैं वे नीचे लिखे अनुसार हैं—

मंडन के पूर्व पुरुष

जाबालपत्तन (जाबालिपुर=जालौर) में स्वर्ण गिरीय† (सोन-

अंतर्गत वस्तुपाल-प्रबंध में वस्तुपाल की यात्रा की संघ में सात लाख मनुष्य होने का उल्लेख किया है। यही "संघपति" अथवा "संघप" शब्द पीछे से द्विवेदी, चतुर्वेदी आदि शब्दों की तरह वंश का वाचक शब्द हो गया। इस समय भी जैन वैश्यों में ऐसा समुदाय है जो "संघवी" "सिंघी" या "सिंहवी" कहलाता है। ये शब्द संघपति शब्द के ही बिगड़े हुए रूप हैं।

* कृतिनो हृदसत्यस्य कृष्णान्येवाच्युतात्मनः।
भ्राता समधरो यस्य बलभद्र इवाभवत् ॥

कादंबरीमंडन १ परिच्छेद श्लो० १२

† गोत्रे स्वर्णगिरीयके समभवज्जाबाल गत्पत्तने
बाहूरित्यभिधानभृन्मतिमतां वर्यं प्रभावेश्वर।

काव्यमनोहर स० ७ श्लो० ३

वंशः सोनगिरोनाम वर्धते वसुधातले।
श्रीमाल इति विख्यात श्रूयते यः शुभाकर ॥

का० दर्पण श्लो० १

जालौर का दूसरा नाम स्वर्णगिरि या सोनगढ़ है। स्वर्णगिरि के नाम से

गरा) गोत्र में, जो श्रीमाल नाम से भी विख्यात था, आभू नामक एक व्यक्ति हुआ। यह बड़ा ही बुद्धिमान था। सोमेश्वर राजा का यह मुख्य मंत्री था और संपूर्ण कार्यों में इसकी बहुत ही कीर्ति थी। ये सोमेश्वर अजमेर के राजा और भारत के सुप्रसिद्ध अंतिम हिंदू सम्राट पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर हों ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि उस समय जालौर* नागौर आदि प्रदेश इन्हीं के अधीन थे। सोमेश्वर के समय के ५ शिलालेख वि० सं० १२२६, १२२८, १२२६, १२३० और १२३६ के मिले हैं† अतः उनके मंत्री आभू का समय भी इसी के आस पास मानना चाहिए।

आभू

आभू का पुत्र अभयद नामक हुआ। यह आनंद नामक राजा का मंत्री था। इसने गुजरात के राजा से विजयलक्ष्मी प्राप्त की थी। यह आनंद कौन था इसका ठीक तरह पता नहीं चलता। संभव है कि यह आनंद सोमेश्वर का पिता अर्णोराज हो जिसके दूसरे नाम आनल्लदेव, आनक और आनाक भी थे। पृथ्वीराजविजय

अभयद

ही चौहानों की एक शाखा स्वर्णगिरीय अथवा सोनगरा कहलाई। इनमें से कुछ लोग जो जालौर से श्रीमाल (आधुनिक भिनमाल) को चले गए वे श्रीमाल वंशी अर्थात् श्रीमाली कहलाए। सोनगरा और श्रीमाल जातियाँ वैश्यों में भी पाई जाती हैं। ये लोग पहले क्षत्रिय थे परंतु पीछे से इन्होंने जैन मत स्वीकार कर लिया और लड़ना भिड़ना आदि क्षत्रियोचित कार्यों को हिंसात्मक समझ छोड़ दिया तथा जिससे पढ़ने और व्यापार संबंधी कार्यों से ये निर्वाह करने लगे। जैन मत स्वीकार करने और वैश्योचित कार्यों के करने से इनकी गणना वैश्यों में होने लग गई।

* बीजोलिया (मेवाड़) के सोमेश्वर के समय के शिलालेख से पाया जाता है कि सोमेश्वर के पूर्वज विग्रहराज ने जाबालिपुर जालोर को बर्बाद किया था।

जाबालिपुरं ज्वालापुरं कृतापल्लिकापि पल्लीव।
नड्वल तुल्यं रोषान्न ड्(डू)ल येन सौ(शौ)र्येण ॥२१॥

ए० ए० सो० ब० सन १८८६

† देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका भा० १, अं० ४, पृ० ४०१

में लिखा है कि अर्णोराज के दो रानियाँ थीं एक मारवाड़ की सुधवा और दूसरी गुजरात के राजा (सिद्धराज) जयसिंह की पुत्री कांचनदेवी* । इस कांचनदेवी का पुत्र सोमेश्वर हुआ । पृथ्वीराज रासो में सोमेश्वर के पिता का नाम आनंदमेव† लिखा है इससे अनुमान होता है कि आनंद या आनंदमेव अर्णोराज ही के नामांतर हैं । पृथ्वीराज रासो में यह भी लिखा है कि आनंदमेव (अर्णोराज) ने सोमेश्वर को राज्य दिया, सोमेश्वर ने गुजरात और मालवे पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन किया ।

मालूम होता है कि अभयद ने अपनी युवावस्था में ही जब कि उसका पिता विद्यमान था आनंद के मंत्री का पद प्राप्त कर लिया था, और आनंद के बाद सोमेश्वर के सिंहासनारूढ़ होने पर भी वह उस पद पर बना रहा तथा सोमेश्वर ने गुजरात पर जो आक्रमण किया उसमें या तो यह भी साथ था या सोमेश्वर ने स्वयं न जाकर इसे ही गुजरात जीतने को भेजा हो। इसके बाद सोमेश्वर ने इसके पिता अभयद को जो उस समय भी वर्तमान था मंत्री बनाया हो ।

आंवड़

अभयद का पुत्र आंवड़ हुआ। इसने स्वर्णगिरि (जालौर के किले) पर विग्रहेश को स्थापित किया ‡। यहाँ पर विग्रहेश से

---

* देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका भा० १, अं० ४, पृ० ३०४ .

† सो (जयसिंह) बरस अट्ठ लग राज कीन आनंदमेव तिर पुत्र दीन
तहँ नदिय तीर आनंदमेव, आराह रूप दिय्यो सुदेव ॥११॥
भावी विहार आयास सार, मंत्री सुमति सुट्ठर [illegible]
सो बरस राज सत चंद कीन, तिर तत पुत्र सोमेस दीन
सोमेस सूर गुज्जर नरेस, मालवी राज सब खग्ग लेस

पृथ्वीराज रासो आदिपर्व

‡ [illegible] (तो) [illegible] ।

[illegible] श्लो० १

शायद सोमेश्वर का बड़ा भाई विग्रहराज चौथा, जिसका उपनाम वीसलदेव था, निर्दिष्ट किया गया हो अर्थात् आंवड़ ने जालौर का किला विग्रहराज के अधीन कराया हो। ईश शब्द राजाओं के नाम के अंत में भी आता है जैसे अमरसिंह के लिए अमरेश* और शिव के नामों के अंत में भी आता है जैसे समाधीश, अचलेश आदि। यहाँ यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है कि विग्रहेश से यहाँ विग्रहराज ही से अभिप्राय है जैसा कि ऊपर बतलाया है अथवा विग्रहराज के नाम से किसी शिवालय के बनवाने का उल्लेख है।

आंवड़

आंवड़ का पुत्र सहणपाल हुआ। यह मोजदीन नृपति के सब प्रधानों में मुख्य था। मोइजुद्दीन नाम के दो बादशाह हिंदुस्तान में हुए हैं। एक रज़िया बेगम का भाई मोइजुद्दीन बहराम, जिसने ई० सन १२३९-४० से (वि० सं० १२९६-९७) से ई० स० १२४१-४२ (वि० सं० १२९८-९९) तक तीन वर्ष छ महीने राज्य किया था। दूसरा गयासुद्दीन बलबन का पोता मोइजुद्दीन कैकोबाद था जिसने ई० सं० १२८६ (वि० सं० १३४२) से ई० स० १२९० (वि० सं० १३४६) तक राज्य किया था। यद्यपि यह ठीक तरह निश्चय नहीं होता कि सहणपाल किस मोइजुद्दीन का प्रधान था, परंतु समय का हिसाब लगाने से यह मोइजुद्दीन बहराम का मंत्री हो ऐसा प्रतीत होता है। सहणपाल अभयद का पौत्र था। अभयद सोमेश्वर (वि० सं० १२२६-१२३४, ई० स० ११६९ से ११७७) का समकालीन था जैसा कि ऊपर बतलाया गया है। यदि सहणपाल को बहराम मोइजुद्दीन का मंत्री न मानकर कैकोबाद का माना जाय तो पितामह और पौत्र के समय में करीब ११७ वर्ष का अंतर पडता है जो बहुत है। बहराम का मंत्री मानने में केवल ७० वर्ष का अंतर आता है जो उचित और संभव है। सहणपाल के पुत्र नैणा को जलालुद्दीन फीरोज़ का संग-

सहणपाल

* अमरेशनरेशस्याभिषेकगुणवर्णनम्

अमरसिंहजी के राज्याभिषेक का काव्य

सन् १३२१ में खिलजी वंशीय मलिकखुस्रू से जिसका उपनाम नसीरुद्दीन भी था राज्य छीना और ४ वर्ष तक राज्य किया था।

दुसाजु का पुत्र वीका हुआ जो वीतराग का परम भक्त था। वीका के वर्णन में काव्यमनोहर में दो श्लोक* ऐसे लिखे हैं जिनमें अशुद्धि हो जाने के कारण उनका अर्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, तथापि उनका अभिप्राय कुछ ऐसा मालूम होता है कि "वीका ने शक्तिशाह को जो पादलक्षाद्रि (सपादलक्ष पर्वत, साँभर के आसपास का प्रदेश) को उपभोग कर रहा था सात राजाओं के साथ कैद कर लिया और उसका अधिकार छीन लिया। पातशाह (गयासुद्दीन तुगलग) ने उसके इस कार्य को उचित समझ उसे दान मान आदि से खुश किया। वीका ने भी बादशाह से बड़ा भारी मान पाने से प्रसन्न हो उस प्रदेश पर गाजीक (गयासुद्दीन) का अधिकार स्थापित कर दिया। यह शक्तिशाह किसी मुसलमान बादशाह का नाम प्रतीत होता है जिसे संस्कृत में रूपांतर दे दिया गया है। एल्फिंस्टन † ने लिखा है कि "गुजरात के बादशाह अहमदशाह ने ईडर, जालौर और खान देश पर आक्रमण किए थे और एक अवसर पर वह मारवाड़ के उत्तर में अवस्थित नागौर तक बढ़ आया था, जहाँ उसका चचा देहली के सैयद खिजरखाँ के विरुद्ध उपद्रव कर रहा था"। संभव है कि "शक्तिशाह" अहमदशाह या उसके किसी सेनापति का नामांतर हो, जिसने सपादलक्ष प्रदेश पर कब्जा कर लिया हो और वीका ने उससे इस प्रदेश का पीछा छुड़ाया हो।

वीका ने दुर्भिक्ष के समय चित्रकूट (चित्तौड़) के अकाल-

---

* शक्तिशाह निवद्धंतु सप्त भूपै समन्वितम्।
पादलक्षाद्रिभोक्तारं मोचये (?) योधिकारवान् ॥१४॥
सर्वं तदुचितं ज्ञात्वा पातसाहेन रञ्जित।
अतिमानेन सोऽप्यस्य गाजीक प्त्यरोपयत् ॥१५॥ काव्यमनोहर स० ७

† एल्फिंस्टन की हिस्ट्री ऑफ इंडिया—अपेंडिक्स पृ० ७६३

सन् १३२१ में खिलजी वंशीय मलिकखुस्रू से जिसका उपनाम नसीरुद्दीन भी था राज्य छीना औ ४ वर्ष तक राज्य किया था।

दुसाजु का पुत्र वीका हुआ जो वीतराग का परम भक्त था। वीका के वर्णन में काव्यमनोहर में दो श्लोक* ऐसे लिखे हैं जिनमें अशुद्धि हो जाने के कारण उनका अर्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, तथापि उनका अभिप्राय कुछ ऐसा मालूम होता है कि "वीका ने शक्तिशाह को जो पादलक्षाद्रि (सपादलक्ष पर्वत, साँभर के आसपास का प्रदेश) को उपभोग कर रहा था सात राजाओं के साथ कैद कर लिया और उसका अधिकार छीन लिया। पातशाह (गयाँसुद्दीन तुगलग) ने उसके इस कार्य को उचित समझ उसे दान मान आदि से खुश किया। वीका ने भी बादशाह से बड़ा भारी मान पाने से प्रसन्न हो उस प्रदेश पर गाजीक (गयासुद्दीन) का अधिकार स्थापित कर दिया। यह शक्तिशाह किसी मुसलमान बादशाह का नाम प्रतीत होता है जिसे संस्कृत में रूपांतर दे दिया गया है। एल्फिंस्टन † ने लिखा है कि "गुजरात के बादशाह अहमदशाह ने ईडर, जालौर और खान देश पर आक्रमण किए थे और एक अवसर पर वह मारवाड़ के उत्तर में अवस्थित नागौर तक बढ़ आया था, जहाँ उसका चचा देहली के सैयद खिजरखाँ के विरुद्ध उपद्रव कर रहा था"। संभव है कि "शक्तिशाह" अहमदशाह या उसके किसी सेनापति का नामांतर हो, जिसने सपादलक्ष प्रदेश पर कब्जा कर लिया हो और वीका ने उससे इस प्रदेश का पीछा छुड़ाया हो।

वीका ने दुर्भिक्ष के समय चित्रकूट (चित्तौड़) के अकाल-

---

* शक्तिसाह निवद्धतु सप्त भूपैःसमन्वितम् ।
पादलक्षाद्रिभोक्तारं मोचये (?) योधिकारवान् ॥१४॥
सर्वं तदुचितं ज्ञात्वा पातसाहेन रञ्जितः ।
अतिमानेन सोऽप्यस्य गाजीक्र मरपरीपयत् ॥१५॥ काव्यमनोहर स० ७

† एल्फिस्टन की हिस्ट्री ऑफ इंडिया—अपेंडिक्स पृ० ७६३

गुजरात में है) के राजा गोपीनाथ का मंत्री था। यह देवता और गुरुओं (जैनसाधुओं) का परम भक्त था। इसने प्रह्लादन नामक नगर* (प्रह्लादनपुर = पालनपुर) में शांतिनाथ का बिंब (मूर्ति) स्थापित किया, संघपति बनकर यात्राएँ कीं और संघ के सब मनुष्यों को पहिनने के लिए वस्त्र, चढ़ने को घोड़े और मार्गव्यय के लिए द्रव्य अपनी ओर से दिया। कीर्ति प्राप्त करने के लिए इसने कई उद्यापन किए, जैन साधुओं के रहने के लिए कई पुण्यशालाएँ बनवाईं और बहुत से देवमंदिर बनवाए।

नांद्रीय (नांदोड)† से यह मालवे की राजधानी मंडपदुर्ग (मांडू) को चला आया था। मांडू उस समय मालवे की राजधानी होने से बड़ा ही संपत्तिशाली नगर था। अनेक कोटिपति और लक्षाधीश इस नगर को अलंकृत करते थे। कहते हैं कि इस शहर में कोई भी गरीब जैनश्रावक नहीं था। कोई जैन गरीबी की दशा में बाहर से आता तो वहाँ के धनी जैन उसे एक एक रुपया देते थे। इन धनियों की संख्या इतनी अधिक थी कि वह दरिद्र उस एक एक रुपए से ही सम्पत्तिशाली बन जाता था‡।

मांडू में उस समय आलमशाह × राज्य करता था। इसने पूर्व

---

* इसे आबू के राजा "धारावर्ष" के छोटे भाई प्रह्लादन ने अपने नाम से बसाया था। वह अच्छा विद्वान् था। इसका बनाया हुआ "पार्थपराक्रम" नामक नाटक उपलब्ध हुआ है। देखो ना० प्र० प० भाग २ अंक ३ पृष्ठ १३६ का टिप्पण।

† यह नर्मदा के किनारे अवस्थित है और गुजरात के रेवाकांठा प्रदेश में है।

‡ मुनि जिनविजयजी लिखित—विज्ञप्तित्रिवेणी—प्रस्तावना पृ० ६२

× अस्त्येतन्मण्डपाख्यं प्रथितमरिचमूदुर्गमं दुर्गमुच्चै-
यस्मिन्नालम्मसाहिर्निवसति बलवान्दुःसहः पार्थिवानाम्

काव्यमण्डन स० १२ श्लो० ५१

और दक्षिण के राजाओं तथा गुजरात के नरेशों को हराया था*। झंझण की बुद्धिमत्ता और राज्यप्रबंध-कुशलता देख आलमशाह ने इसको अपना मंत्री बनाया†। फरिश्ता ने मालवा के बादशाहों की जो नामावली दी है उसमें आलमशाह नामक किसी बादशाह का नाम नहीं है। संभव है कि आलमशाह से अभिप्राय दिलावरखाँ के लड़के हुशंग गोरी से हो जिसने मालवे का स्वतंत्र राज्य स्थापित किया, मांडू का किला बनवाया और धार से उठाकर मांडू को राजधानी बनाया। मालवे के सिंहासन पर अधिकार करने के पूर्व इसका नाम अलपखाँ था। संभव है कि अलपखाँ को आलमखाँ समझकर उसका संस्कृत रूप पंडितों ने आलमसाह कर दिया हो।

आलमशाह के समय का वि० सं० १४८१ का एक जैन शिला-लेख‡ ललितपुर प्रांत के देवगढ़ के पास मिला है। उसमें किसी

---

* प्राचीनाः प्रासचीना अपि कपिकुलनदाविशान्याङ्गगाम्या
क्षोणी: क्षोणीमहेन्द्रा विजहति इतिभिर्जर्जरा गुर्जराश्च
अन्ये मन्ये नमन्ये चलचलनिचयाः किं[?]सनेऽप्यगर्वाः
यस्मिन्नालम्मसाहि क्षितिभृतिविहित प्रस्थितौ दिग्जयार्थम्

शृंगारमण्डन श्लो० १०४

† श्रीमालोदकुले किलातिविमले जातो यदीयोऽभवत् ।
मन्त्री सोनगिरान्वयः क्षितद्युपः श्रीझञ्झणो नाम तः ॥ १०५

‡ बंगाल ए० सो० ज० भा० ५१ पृ० ७०

अथ संवत्सरेऽस्मिन्नृपविक्रमादित्य गताब्द १४८१ शाके श्रीशालिवाहनो १३४६ वैशाख मास शुक्लपक्षीय पूर्णिमायां गुरुवासरे। स्वातिनक्षत्रे। सिंह लग्नोदये। अति विक्र......येऽब्दे चन्द्रा-द्वयधीन्दु......वैशाखे पूर्णेराकायां मृगयोदये ॥......ताकृष्ट कृपाण पाणि विलसत्तीव्रप्रतापानल ज्वालाजाल समाकुलीकृत गजाधीशाश्वरीशेपणे। श्रीमन्मालवपालके शकनृपे गौरीकुलोद्योतके निःक्रान्ते विजयाय मण्डपपुरान्मुही गाढ़िधाक्रमके......पदपस......श्रुतधिरे श्रीपाद......प स्या(स्सा)हि आलम्मः ॥१॥ श्रीमालवाधिपतनुजेऽसिमूप मौलिमाणिक्ये (क्ये)। गर्जतिगर्जनस्थाने ......गौरीकुलं कुलकपेऽस्मिन्।

मंदिर के बनवाने का समय लिखने के प्रकरण में लिखा है कि "राजा विक्रमादित्य के गताब्द १४८१ और शालिवाहन के शाक १३४६ वैशाखशुक्ल १५ गुरुवार स्वाति नक्षत्र और सिंह लग्न के उदय के समय अपने भुजबल के प्रतापरूपी अग्नि की ज्वाला से गजाधीश (दिल्ली के बादशाह) को व्याकुल कर देनेवाला गोरीवंशी मालवे का राजा श्री शाह आलम्मक विजय के वास्ते जब मंडलपुर (मांडू) से निकला उस समय" और अंत में भी साहि आलम्मः का नाम लिखा है और बाद में लिखा है कि "उस समय साहि आलम्म का पुत्र गर्जन ख्वान (गज़नी) में गर्ज रहा था"। मालवे का बादशाह होना और मांडू से विजय के लिए निकलना इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि यह साहि आलम्मक और हमारे मंडन मंत्री का आश्रयदाता आलम्मशाह एक ही थे। उपरोक्त शिलालेख के संपादक श्रीयुत् राजेंद्रलाल मित्र महोदय का भी मत यही है कि यह साहि आलम्म हुशंगगोरी ही का नाम है। इसका उपनाम अलपखाँ था और इसीका विद्वानों ने संस्कृत रूप साहि आलम्म बना दिया है*। मित्र महोदय ने इसका नाम आलम्भक पढ़ा है और इसे मालव के अतिरिक्त पोलकेश देश का भी राजा माना है परंतु यह ठीक नहीं है। मंडन के ग्रंथों तथा महेश्वर के काव्यमनोहर में इसका नाम स्पष्ट आलमसाहि और आलम्मसाहि लिखा है। शिलालेख के बहुत से अक्षर टूटे हुए होने से "म" को "भ" पढ़ लेने के कारण यह भूल हुई है। आलमशाह (हुशंग गोरी) को पालकेश देश का राजा मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि "पालकेश" इस नाम के देश का कहीं भी वर्णन नहीं आता। यह भूल ठीक पदच्छेद न कर सकने के कारण हुई है। उन्होंने "मालव-पालकेशक नृपे" ऐसा पदच्छेद समझ उपरोक्त अर्थ किया है परंतु वस्तुतः पदच्छेद "मालव पालके-शक-नृपे" है, जिसका अर्थ "मालवा की रक्षा करनेवाले मुसलमान बादशाह के" ऐसा होता है।

---

* ब० ए० सो० ज०, जि० ४२ भा० १, पृ० ६६

झंझण का तीसरा पुत्र देहड़ था। इसने भी संघपति बनकर अर्बुद (आबू) पर नेमिनाथ की यात्रा संघ के साथ की। संघ को

देहड़

किसी प्रकार का कष्ट न हो इसका यह बहुत ही विचार रखता था। इसने राजा केशिदास, राजा हरिराज और राजा अमरदास को जंजीरों में पड़े थे परोपकार की दृष्टि से छुड़ाया। इनके सिवाय वराट, लूणार और वाहड़ नाम के ब्राह्मणों को भी बंधन से छुड़ाया था*। इसके धन्यराज नामक एक पुत्र था। इसका दूसरा नाम धनपति और धनद भी था। इसने भर्तृहरिशतकत्रय के समान, नीतिधनद, शृंगारधनद और वैराग्यधनद नामक तीन शतक बनाए थे। ग्रंथ की प्रशस्ति नीतिधनद के अंत में दी है। इससे विदित होता है कि इसने नीतिधनद सबसे पीछे बनाया था। ये शतक काव्यमाला के १३ वें गुच्छक में प्रकाशित हो चुके हैं। नीतिधनद के अंत की प्रशस्ति से विदित होता है कि इसकी माता का नाम गंगादेवी था और इसने ये ग्रंथ मंडपदुर्ग (मांडू) में संवत् १४९० वि० में समाप्त किए थे†।

---

* श्रीकेशिदासनृपति हरिराज तत्र भूप तथाप्यमरदासमहीपतिश्च
योऽमोचयद्गलश्रृङ्खलपीडितांगं सर्वोपकारकरणैर्जितसत्सुकीर्तिः ॥९८॥
सोऽयं वराटलूणार वाहडोत्तमजन्मनां
लोकानामुपकारार्थं मोचय(?)द्ब- रनानि वै ॥९९॥ काव्यमनो० स० ७

यह ठीक तरह पता नहीं चलता कि ये केशिदास आदि राजा कहाँ के थे। इस समय गुजरात के छोटे छोटे राज्य कायम हो गए थे। संभव है कि इन राज्यों के राजा हों।

† तन्मंत्री देहडः सन्दिनमणिविहदोऽशेष तीर्थकराणाम्
चारित्र श्रीर् इतिः स्वरतर मुनितो लब्धतत्त्वोपदेशः
गंगादेवी च साध्वी शुचरितकुलभासूत यं सूनुरत्नम्
धीरः सोय धनेशोऽयनत बहुतमः कौतुकेनत्रिशत्याम् ॥१००॥
वर्षे व्योमाङ्कवेदक्षितिपरिमिलिते विक्रमाम्भोज बन्धोः
वैशाखे मासि वारेत्रिदशपति गुरौ शुक्लपक्षेऽह्नि तिथ्याम्

मान से हो। संस्कृत में "कोल" सूकर को कहते हैं और "अभ का अर्थ "न खानेवाला" ऐसा होता है*। अतः कोलाभक्ष अर्थ सूअर न खानेवाला अर्थात् मुसलमान यह हो सकता है। य यह अनुमान ठीक है तो "कोलाभक्ष नृप" का अर्थ आलम (हुशंग) ही है। ये लोग हुशंगगोरी के मंत्री थे अतः उसके कै को उससे अर्ज़ कर छुड़ाया हो यह संभव भी है।

मंडन

ऊपर बतलाया जा चुका है कि मंडन, झंझण के दूसरे बाहड़ का छोटा लड़का था। यह व्याकरण अलंकार संगीत त अन्य शास्त्रों का बड़ा विद्वान् था†। विद्वानों पर इसकी बहुत प्र थी। इसके यहाँ पंडितों की सभा होती थी जिसमें उत्तम क प्राकृत भाषा के विद्वान्, न्याय वैशेषिक वेदांत सांख्य भाट्ट प्राभा तथा बौद्धमत के अद्वितीय विद्वान् उपस्थित होते थे। गणित भू ज्योतिष वैद्यक साहित्य और संगीतशास्त्र के बड़े बड़े पंडित इस सभा को सुशोभित करते थे। यह विद्वानों को बहुत सा धन और आभूषण बाँटा करता था‡। उत्तम उत्तम गायक गायिक

---

* भक्षति इति भक्षः (पचादित्वादच्) न भक्षः अभक्षः कोलस्य अ कोलाभक्षः।

† योऽभूद्व्याकरणश्च नाटकशुभालंकारविज्ञस्तथा,
संगीतातुल्यकोविदः प्रविलसद्गंभीर शास्त्राचितः
चातुर्यैक निधानभूमिरतुलैः प्राप्तोन्नतिः सद्गुणैः
श्रीमान्नानयवर्णनोऽमलमतिः श्रीमण्डनो राजते ॥

काव्य० मनो० स० १ श्लो० १

‡ मध्ये सभ सन्ततमास्थितोयं शृणोति सर्वास्तु कलाविशेषान्।
स्तुतः प्रबन्धैः कविभिः सुकाव्यैर्गाथादिभिः प्राकृतिकैरुदारां ॥५४॥
बुधैस्तु नैयायिकमुख्यकैर्यो वैशेषिकैर्भाट्टविशेषविज्ञैः
वेदान्तविद्भिः स्तुत एव सांख्यैः प्राभाकरैः सन्ततमेव बौद्धैः ॥५५॥

और नर्तकियाँ इसके यहाँ आया करती थीं और इसकी संगीत-शास्त्र में अनुपम योग्यता देखकर अवाक् रह जाती थीं। उन्हें भी यह द्रव्य आदि से संतुष्ट करता था। यह जैसा विद्वान् था वैसा ही धनी भी था। एक जगह इसने स्वयं लिखा है कि "एक दूसरे की सौत होने के कारण महालक्ष्मी और सरस्वती में परस्पर वैर है इसलिए इस (मंडन) के घर में इन दोनों की बड़ी जोरों से बढ़ा-बढ़ी होती है अर्थात् लक्ष्मी चाहती है कि मैं सरस्वती से अधिक बढ़ूँ और सरस्वती लक्ष्मी से अधिक बढ़ने का प्रयत्न करती है।*

मालवे के बादशाह का इस पर बहुत ही प्रेम था। ऐसे ऐसे विद्वानों की संगति से बादशाह को भी संस्कृत साहित्य का अनुराग हो गया था। एक दिन सायंकाल के समय बादशाह बैठा था। विद्वानों की गोष्ठी हो रही थी। उस समय बादशाह ने मंडन से कहा कि "मैंने कादंबरी की बहुत प्रशंसा सुनी है और उसकी कथा

सुनने को बहुत जी चाहता है। परंतु राजकार्य में लगे रहने से इतना समय नहीं कि ऐसी बड़ी पुस्तक सुन सकूँ। तुम बहुत बड़े विद्वान् हो अतः यदि इसे संक्षेप में बनाकर कहो तो बहुत ही अच्छा हो"। मंडन ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि "बाण ने स्वयं ही कादंबरी की कथा संक्षेप से कही है परंतु यदि आपकी आज्ञा है तो मैं इसकी कथा आपसे संक्षेप में निवेदन करूँगा" यह कह कर इसने "मंडन-कादंबरी-दर्पण" नामक अनुष्टुप् श्लोकों में कादंबरी का संक्षेप बनाया*।

---

* चाहडस्यानुजस्तेषु बाहडोमन्त्रिपुंगवः।
वसन्तइव कालेषु माननीयोऽभवद्गुणैः ॥६॥
तस्याभूत्तनयो नाम्ना मण्डनो विश्वमण्डनः।
शोभते यः शुभोदारः स्वयंवरपतिः श्रियः ॥७॥
महीतलमहेन्द्रस्य मालवानामधीशितुः।
स मन्त्री समभून्मान्योवाचांपतिरिवोज्ज्वलः ॥१३॥
न भ्रातृषु न मित्रेषु न ज्ञातिषु न बन्धुषु।
भवत्युर्वीपतेरस्य तस्मिन्यत्प्रेमशाश्वतम् ॥१४॥
सकदाचिन्नृपः साय समये शर्वरीमुखे।
विद्यानिधिममुं प्राह विद्वद्गोष्ठीमधिष्ठितः ॥१५॥
कादम्बरीकथाबद्धकौतुकं हृदयं मम।
कदापि कालो न श्रोतुं निविष्टस्य नृपासने ॥१७॥
तदिदानीं त्वया सम्यक् सा संक्षेपेण कथ्यताम्।
मतिवैभवनिस्तीर्णवाङ्मयेन ममाग्रतः ॥१७॥
इत्येवमर्थितो राज्ञा मान्येषु प्रथमेतरः।
बद्धाञ्जलिरिदं प्राह मण्डनो मन्त्रिशेखरः ॥१८॥
कादम्बरी कथा राजन्महती च महाद्भुता।
सा सविस्तैव कथिता बाणेनापि महाधिया ॥१९॥
देवी कादम्बरी दिव्या चन्द्रापीडः स चन्द्रमः।
तयोनवावधिः शक्रे गौरवेषु गुणेषु च ॥२०॥

और नर्तकियाँ इसके यहाँ आया करती थीं और इसकी संगीत-शास्त्र में अनुपम योग्यता देखकर अवाक् रह जाती थीं। उन्हें भी यह द्रव्य आदि से संतुष्ट करता था। यह जैसा विद्वान् था वैसा ही धनी भी था। एक जगह इसने स्वयं लिखा है कि "एक दूसरे की सौत होने के कारण महालक्ष्मी और सरस्वती में परस्पर वैर है इसलिए इस (मंडन) के घर में इन दोनों की बड़ी ज़ोरों से बदाबदी होती है अर्थात् लक्ष्मी चाहती है कि मैं सरस्वती से अधिक बढ़ूँ और सरस्वती लक्ष्मी से अधिक बढ़ने का प्रयत्न करती है।*

मालवे के बादशाह का इस पर बहुत ही प्रेम था। ऐसे ऐसे विद्वानों की संगति से बादशाह को भी संस्कृत साहित्य का अनुराग हो गया था। एक दिन सायंकाल के समय बादशाह बैठा था। विद्वानों की गोष्ठी हो रही थी। उस समय बादशाह ने मंडन से कहा कि "मैंने कादंबरी की बहुत प्रशंसा सुनी है और उसकी कथा

स्तुवन्नपाय गणितज्ञकेषु भूगोलविद्भिः शकुनाभिरामैः ।
प्रश्नप्रभेदैः मुहूर्तविद्भिः पाटीदृढजातककोविदैश्च ॥५६॥
वैराग्यशृंगारनयकृतिवर्णने [illegible] ।
[illegible] सभायां सततं सेव्यतेऽसौ ॥५७॥
स दिव्यविद्भिः [illegible] कोविदैश्च ।
सुधा[illegible] स्तुतिभिः स्तुतः सः ॥५८॥
[illegible] कणादादिमुनिनामभेदैः
[illegible] सेव्यत एष एभिः ॥५९॥

काव्यमनोहर सर्ग १

[illegible] ॥१॥
[illegible] केशपाशौ ।
[illegible] ॥२॥

इत्यादि—काव्यमनो० स० २

* महालक्ष्मी सरस्वत्योर्वैरं सापत्न्यवैरतो
[illegible] । काव्यमनोहर परि० १ श्लो० ४

सुनने को बहुत जी चाहता है। परंतु राजकार्य में लगे रहने से इतना समय नहीं कि ऐसी बड़ी पुस्तक सुन सकूँ। तुम बहुत बड़े विद्वान् हो अतः यदि इसे संक्षेप में बनाकर कहो तो बहुत ही अच्छा हो"। मंडन ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि "बाण ने स्वयं ही कादंबरी की कथा संक्षेप से कही है परंतु यदि आपकी आज्ञा है तो मैं इसकी कथा आपसे संक्षेप में निवेदन करूँगा" यह कह कर इसने "मंडन-कादंबरी-दर्पण" नामक अनुष्टुप् श्लोकों में कादंबरी का संक्षेप बनाया*।

---

* बाहडस्यानुजन्मेषु बाहडोमन्त्रिपुंगवः ।
वसन्तइव कालेषु माननीयोऽभवद्गुणैः ॥६॥
तस्याभूत्तनयो नाम्ना मण्डनो विश्वमण्डनः ।
शोभते यः शुभोदारः स्वयंवरपतिः श्रियः ॥७॥
महीतलमहेन्द्रस्य मालवानामधीशितुः ।
स मन्त्री समभूत्पार्श्वेवाचोंपतिरिवोज्ज्वलः ॥१३॥
न भ्रातृषु न मित्रेषु न ज्ञातिषु न बन्धुषु ।
भवत्युर्वीपतेरस्य तस्मिन्यत्प्रेमसाश्वतम् ॥१४॥
सकदाचिन्नृपः सायं समये शर्वरीमुखे ।
विद्यानिधिममुं प्राह विद्वद्गोष्ठीमधिष्ठितः ॥१५॥
कादम्बरीकथाबद्धकौतुकं हृदयं मम ।
कदापि कालो न श्रोतुं निविष्टस्य नृपासने ॥१७॥
तदिदानीं त्वया सम्यक् सा संक्षेपेण कथ्यताम् ।
मतिवैभवनिस्तीर्णवाङ्मयेन ममाग्रतः ॥२७॥
इत्येवमर्थितो राज्ञा प्राज्ञेषु प्रथमेततः ।
बद्धाञ्जलिरिदं प्राह मण्डनो मन्त्रिशेखरः ॥२८॥
कादम्बरी कथा राजन्महती च महाद्भुता ।
सा संक्षिप्यैव कथिता बाणेनापि महाधिया ॥१६॥
देवी कादम्बरी दिव्या चन्द्रापीडः स चन्द्रमाः ।
तयोर्मधाब्धिः शक्ये गौरवेषु गुणेषु च ॥२०॥

एक बार पौर्णिमासी के दिन सायंकाल के समय मंडन पहाड़ों के आंगन में बैठा हुआ था। सरस साहित्य की गोष्ठी हो रही थी। इतने में चंद्रोदय हुआ। चंद्रमा कवियों की परम प्रिय वस्तुओं में से एक है। कदाचित् ही ऐसा कोई काव्य होगा जिसमें चंद्रमा उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया हो। चंद्रमा की अमृतमयी रश्मियों ने मंडन के हृदय को विद्रुत कर दिया। उसने कई श्लोक चंद्रमा के वर्णन के बनाए। ऐसा मालूम होता है कि चंद्रमा की रमणीयता देखने में उसे सोने का भी स्मरण न रहा हो। चंद्रमा के उदय से अस्त तक की भिन्न भिन्न दशाओं का उसने अनेक ललित पद्यों में वर्णन किया। धीरे धीरे चंद्रमा के अस्त होने का समय आया। मंडन का चित्त अत्यंत खिन्न हुआ। जिसके लिए वह सारी रात बैठा रहा था उसे इस प्रकार अस्त होते देख वह कहने लगा। "हाय, जिस मार्ग पर चलने से पहले सूर्य का अधःपात हो चुका था, दुर्दैव-वश चंद्रमा भी उसी मार्ग पर चला और उसका भी अंत में अधःपात हुआ। जब पतन होने को होता है तो जानते हुए का भी ज्ञान नष्ट हो जाता है।* चंद्रमा को पहले पूर्व दिशा प्राप्त हुई थी पर उसे छोड़ वह पश्चिम दिशा के पास गया। पहले तो उसने राग (अनुराग और रक्तता) प्रकाशित कर उसे अपनाया पर वेश्या की तरह थोड़े ही समय में सर्वस्व हरण कर उसको दुतकार कर निकाल दिया।"

मंडन ने देखा कि सूर्य की किरणों से ताड़ित होकर चंद्रमा भाग रहा है। उन्होंने उसे कांतिहीन कर पश्चिम समुद्र में गिरा दिया है।

तथापि ज्ञातचारेऽत्र तत्पश्चिमां कथां । -

यस्ये ... न गोन मर्त्येऽपीदं महात्मने ॥३१॥ काद० म० १ परिच्छेद

* यथा पत्न्यैव पदवी पूर्वा तमेव देशान्गमुनेरव भूप ।

पतन यन्द्रोऽपि परं पतिष्यन्नैवर्यदिवेशो ननु जानतोऽपि ॥३६॥

प्राची विहाय प्रथमोपयातां प्राप्त गतां पश्चिमदिशं ।

वेश्येव कृत्वा विरतं क्षणेन विनाशमाप्तात् विधुं धनीनी ॥३७॥

चन्द्रविजय ७३८

उसे सूर्य के ऊपर बहुत ही क्रोध आया। अपने प्रीतिपात्र चंद्रमा की विजय के लिए-उसने "चंद्रविजय" नामक एक प्रबंध ललित कविता में बनाया जिसमें चंद्रमा का सूर्य के साथ युद्ध कर उसे हराना और पीछा उदयाचल पर उदय होने का वर्णन है।

मंडन जैन संप्रदाय के खरतरगच्छ का अनुयायी था। उस समय खरतरगच्छ के आचार्य जिनराज सूरि के शिष्य जिन भद्रसूरि थे। मंडन का सारा ही कुटुंब इन पर बहुत ही भक्ति रखता था और इनका भी मंडन के कुटुंब पर बड़ा ही स्नेह था। पाहू के जिनभद्र सूरि के साथ यात्रा करने का वर्णन ऊपर आ चुका है। ये बड़े भारी विद्वान् थे। इनके उपदेश से श्रावकों ने उज्जयंत (गिरनार), चित्रकूट (चित्तौड़), मांडव्यपुर (मंडोवर) आदि स्थानों में विहार बनाए थे। अणहिल्लपत्तन आदि स्थानों में इन्होंने बड़े बड़े पुस्तकालय स्थापित किए थे और मंडप दुर्ग (मांडू), प्रलादनपुर (पालनपुर) तलपाटक आदि नगरों में इन्होंने जिन मूर्तियों की प्रतिष्ठा की थी*।

जिन माणिक्यसूरि (वि० सं० १५८३-१६१२) के समय की लिखी हुई पट्टावली और बीकानेर के यति क्षमाकल्याणजी की बनाई हुई पट्टावली से विदित होता है कि "जिनराज सूरि के पट्ट पर पहले जिन वर्द्धनसूरि को स्थापित किया था परंतु उनके विषय में यह शंका होने पर कि उन्होंने ब्रह्मचर्य भंग किया है उनके स्थान पर जिनभद्र सूरि

---

* श्रीउज्जयन्ताचलचित्रकूट माण्डव्य पूर्जा (?) रमुख्यकेषु
स्थानेषु येषामुपदेशवाक्यान्निर्मापिता श्राद्धवरैर्विहारा ॥२॥
अणहिल्लपाटकपुरप्रमुखस्थानेषु यैरकार्यन्त
श्रीज्ञानरत्नकोषा विधिपक्षश्राद्धसंघेन ॥३॥
मण्डपदुर्गे प्रल्हादनपुर तलपाटकादि नगरेषु
यैर्जिनवरबिम्बानां विधिप्रतिष्ठा: क्रियन्ते स्म

जैसलमेर का शम्भवनाथ के मंदिर का शिलालेख भाण्डारकर की दूसरी रिपोर्ट १९०४-५ और १९०५-६ पृष्ठ ९६-९७

को स्थापित किया गया था* । महेश्वर ने अपने काव्यमनोहर में जिनभद्र सूरि की वंशपरंपरा इस प्रकार दी है—१ जिनवल्लभ, २ जिनदत्त, ३ सुधर्मसूरि, ४ जिनचंद्रसूरि, ५ जिनसूरि, ६ जिनपद्मसूरि, ७ जिनलब्धिसूरि, ८ जिनराजसूरि, ९ जिनभद्रसूरि।

पाटण के भांडार में भगवतीसूत्र की एक प्रति है। उसके अंत की प्रशस्ति से विदित होता है कि जिनभद्र सूरि के उपदेश से मंडन ने एक बृहत् सिद्धांत ग्रंथों का पुस्तकालय "सिद्धांत कोश" नामक तय्यार करवाया था। यह भगवतीसूत्र भी उसी में की एक पुस्तक है†।

मंडन ने अपने ग्रंथों के अंत की प्रशस्ति में अथवा महेश्वर ने अपने काव्यमनोहर में मंडन के पुत्रों के विषय में कुछ नहीं लिखा, परंतु उपरोक्त भगवतीसूत्र के अंत की प्रशस्ति से विदित होता है कि मंडन के पूजा, जीजा, संग्राम और श्रीमाल नामक ४ पुत्र थे। मंडन के अतिरिक्त सं० धनराज, सं० खीमराज और सं० उदयराज का भी नाम इसमें लिखा है। खीमराज चाहड़ का दूसरा पुत्र खेमराज है और धनराज देहड़ का पुत्र धन्यराज। उदयराज कौन था यह ज्ञात नहीं होता। महेश्वर ने झंझण के छः पुत्रों में से तीनों के पुत्रों का वर्णन किया है परंतु पद्म, आल्ह और पाहू की संतति के विषय में

* विज्ञप्तित्रिवेणी की भूमिका पृष्ठ ४७-४८

† "संवत् १५०३ वर्षे वैशाख सुदि १ प्रतिपत्तिथौ रविदिने श्रीखरतरगच्छे श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरिपट्टे श्रीजिनभद्रसूरीश्वराणामुपदेशेन श्री श्रीमालज्ञातीय सं० मांडण सं० धनराज भगवतीसूत्रपुस्तकं निजपुण्यार्थं लिखापितम्" इसके बाद ३ श्लोकों में मंडन के वंश का वर्णन है। चतुर्थ श्लोक का उत्तरार्द्ध है—

श्रीमद् लोकगिरश्च [illegible] श्रीपार्श्वस्वामिनः।

श्रीसिद्धान्तकोशस्य [illegible] संघपतिर्मण्डनः ॥४॥

अंत में लिखा है—"श्रीमालज्ञातिमंडनेन संघपतिश्रीमंडनेन सं० श्रीधनराज सं० श्रीखीमराज सं० उदयराज। सं० मंडन पुत्र सं० पूजा सं० जीजा सं० संग्राम सं० श्रीमालप्रमुखपरिवारयुतेन समस्तसिद्धान्तपुस्तकानि लेखयाञ्चक्रिरे॥" श्री विज्ञप्तित्रिवेणी प्रस्तावना पृष्ठ ५८-५९

कुछ नहीं लिखा। संभव है कि उदयराज इन्हीं में से किसी एक का पुत्र हो।

मंडन यद्यपि जैन था और वीतराग का परम उपासक था परंतु उसे वैदिक धर्म से कोई द्वेष नहीं था। उसने अलंकारमंडन में अनेक ऐसे पद्य उदाहरण में दिए हैं जिनका संबंध वैदिक धर्म से है। जैसे—

श्रीकृष्णस्य पदद्वंद्वमधमाय न रोचते

अलं० म० परि० ५ श्लो ३२६

अर्थात जो नीच होते हैं उन्हें श्रीकृष्ण के चरण युगल अच्छे नहीं लगते।

किं दुःखहारि हरपादपयोजसेवा
यद्दर्शनेन न पुनर्मनुजत्वमेति तत्रैव ८७

अर्थात् दुःख को हरण करनेवाला कौन है? महादेव के चरण कमलों की सेवा, जिनके दर्शन से फिर मनुष्यत्व प्राप्त नहीं होता (मोक्ष हो जाता है)।

मंडन के जन्म तथा मृत्यु का ठीक समय यद्यपि मालूम नहीं होता तथापि मंडन ने अपना मंडपदुर्ग (मांडू) में वहाँ के नरपति आलमसाह का मंत्री होना प्रकाशित किया है। यदि उपरोक्त अनुमान के अनुसार आलमशाह हुशंगगोरी ही का नाम है तो कहना होगा कि मंडन ईसा की १५वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ था, क्योंकि हुशंग का राज्यकाल ई० स० १४०५ से ई० स० १४३२ है। वि० सं० १५०४ (ई० स० १४४७) की लिखी मंडन के ग्रंथों की प्रतियाँ पाटण के भांडार में वर्तमान हैं। इससे प्रतीत होता है कि ईस्वी सन् १४४७ के पूर्व* वह ये सब ग्रंथ बना चुका था। मुनि जिन विजयजी के मतानुसार ये प्रतियाँ मंडन ही की लिखवाई हुई हैं। वि० सं० १५०३ में मंडन ने भगवती सूत्र लिखवाया था यह ऊपर वर्णन हो चुका है। इससे स्पष्ट है कि मंडन वि० सं० १५०४ (ई० सं० १४४७) तक वर्तमान था।

* विज्ञप्तित्रिवेणी की प्रस्तावना पृष्ठ ६३

महेश्वर ने काव्यमनोहर के सर्ग ७ श्लो० २० में लिखा है कि "संघपति झंझण के ये पुत्र विजयी हैं" इस वर्तमान प्रयोग से विदित होता है कि काव्यमनोहर के बनने के समय झंझण के छहों पुत्र वर्तमान थे * ।

सरलता से समझ में आने के लिए मंडन का वंशवृक्ष नीचे दिया जाता है—

- आभू (सोमेश्वर (ई० स० ११६६ से ११७६) का मंत्री)
  - अभयद (आनंद का मंत्री)
    - सहणपाल (मोइजुद्दीन बेहराम (ई० १२४०–१२४२) का समकालीन)
      - नैणा (जलालुद्दीन फिरोजखिलजी (ई० १२९०–९५) का समकालीन)
        - दुसाजु (गयासुद्दीन तुगलक (ई० स० १३२१–२५) का समकालीन)
          - बीका
            - झंझण (हुशंग गोरी (१४०५–१४३२ ई०) का समकालीन)
              - चाहड़
                - चंद्र
                - क्षेमराज
              - बाहड़
                - समुद्र या नमधर
                - मंडन
                  - पूजा
                  - जीजा
                  - संग्राम
                  - श्रीमाल
              - देहड (पत्नी गंगा)
                - धन्यराज (ई० १४३३ में वर्तमान)
              - पद्म
              - आल्हू
                - उदयराज
              - पाहू

मंडन के ग्रंथ
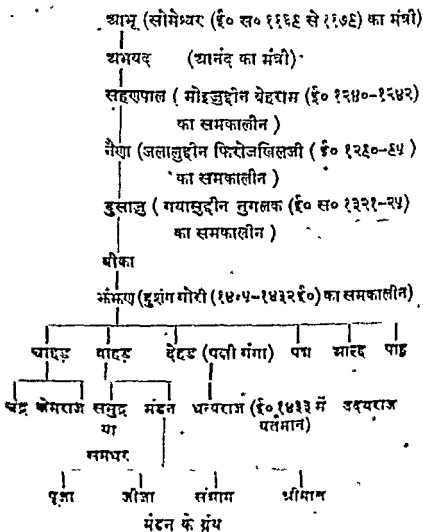
पाटन (गुजरात) की हेमचंद्राचार्य सभा से मंडनकृत काव्य-

---

* श्रीसंघपति [illegible] झंझणस्य पुत्रा जयन्ति ॥ का० म० स० ७ श्लो० २०

मनोहर और मंडनकृत (१) कादंबरीदर्पण (२) चंपू मंडन (३) चंद्र-विजय और (४) अलंकार मंडन ये पाँचो ग्रंथ एक जिल्द में और (५) काव्य मंडन तथा (६) शृंगार मंडन दूसरी जिल्द में प्रकाशित किए हैं। प्रथम जिल्द की भूमिका से विदित होता है कि इन उपरोक्त ग्रंथों के सिवाय (७) संगीत मंडन और (८) उपसर्गमंडन नाम के दो ग्रंथों की प्रतियाँ भी उक्त सभा के पास हैं। उक्त सभा ने ये प्रतियाँ पाटण के वाड़ी पार्श्वनाथजी के मंदिर से प्राप्त की हैं।

मंडन ने चंपूमंडन को सारस्वतमंडन का अनुज और काव्यमंडन के भ्रातृत्व (भाईपन) से सुशोभित कहा है और शृंगारमंडन के अंत में अपने को "सारस्वत-मंडन कवि" कहा है। इससे सिद्ध है कि सारस्वतमंडन नामक एक और ग्रंथ मंडन ने बनाया है*।

आफ्रेक्ट साहब ने अपने "केटलोगस केटलोगरम" नामक पुस्तक में मंडन मंत्री और मंडन कवि इन दो भिन्न भिन्न व्यक्तियों का वर्णन लिखा है। मंडन मंत्री के लिए लिखा है कि "ईसी सन् १४५६ में "कामसमूह" नामक ग्रंथ के बनानेवाले अनंत का पिता था।" और मंडन कवि के लिए लिखा है कि "यह उपसर्ग मंडन, सारस्वत मंडन और कविकल्पद्रुम स्कंध नामक ग्रंथों का कर्ता था। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, सारस्वतमंडन आदि ग्रंथ हमारे चरित्रनायक वाहड़ के पुत्र मंत्री मंडन ही के बनाए हुए हैं। अतः सिद्ध है कि आफ्रेक्ट साहब जिसे मंडन कवि कहते हैं वह

---

* श्रीसारस्वतमण्डनस्य विदुषा सन्तोषदस्यानुजे।
चातुर्योचितकाव्यमण्डनधृतभ्रातृत्व सराजिते॥
श्रीमन्मण्डनबिन्दुना विरचिते श्रीमालवंशेन्दुना।
चम्पूमण्डननामनीह पटलो ग्रन्थेऽभवत्सप्तमः॥ चं० म० प० ७ श्लो० १०
य सारस्वतकाव्यमण्डनकविः शृंगारविद्याभृत्यनिर्विशनाद्य यथारविर्जियते तीव्रपतापैर्भुवि।
शृं० म० श्लो० १०७

* मालूम हुआ है कि सारस्वतमंडन की भी प्रतिलिपि पार्श्वनाथ के भण्डार में वर्तमान है।

बाहड़ का पुत्र मंत्रिमंडन ही है। कामसमूह के कर्ता अनंत का पिता मंत्रिमंडन इस मंत्रिमंडन से बिलकुल ही भिन्न है। दोनों के नामों की समानता दोनों का मंत्री होना और समय भी प्रायः समान ही होना यद्यपि इस बात का भ्रम उत्पन्न करता है कि अनंत मांडू के मंत्रिमंडन ही का पुत्र हो, परंतु अनंतकृत कामसमूह और भगवती सूत्र के अंत की प्रशस्ति देखने पर यह भ्रम नहीं रहता।

पाठकों को विदित है कि मांडू का मंत्रिमंडन सोनगरा गोत्र का क्षत्रिय था परंतु अनंत क्षत्रिय नहीं था किंतु अहमदाबाद का रहनेवाला वड़नगरा नागर ब्राह्मण था यथा—।

नागरख्यातिजातेन मंत्रिमंडनसूनुना
अनंतेन महाकाव्ये सतीवृत्तं प्रकाशितम्।

कामसमूह सतीवृत्तप्रकरण श्लो० २६

अहमदानिर्मितनगरे विहितावसतिश्च वृद्धनागरिकः
मंडनसूनुरनंतो रचयति सेवाविधिनार्याः

कामसमूह-स्त्री-सेवा विधिप्रकरण श्लो० १५

भगवती सूत्र के अंत में जो मंडन के पुत्रों के नाम दिए हैं उनमें अनंत नाम नहीं है।

"केटलोगस केटलोगरम" से मालूम होता है कि उपरिलिखित ग्रंथों के सिवाय मंडन ने कविकल्पद्रुम स्कंध नामक एक और भी ग्रंथ बनाया था। इस प्रकार मंडन के बनाए हुए कुल १० ग्रंथ अब तक विदित हुए हैं जो नीचे लिखे अनुसार हैं।

(१) कादंबरीदर्पण
(२) चंपूमंडन
(३) चन्द्रविजयप्रबंध
(४) अलंकारमंडन
(५) काव्यमंडन
(६) शृंगारमंडन
(७) संगीतमंडन

(८) उपसर्गमंडन

(९) सारस्वतमंडन

(१०) कविकल्पद्रुमस्कंध

इनमें से आदि के छ ग्रंथ हेमचंद्राचार्य सभा पाटण की ओर से प्रकाशित हो चुके हैं।

कादंबरीदर्पण में बाणकृत कादंबरी की कथा संक्षेप से सुललित अनुष्टुप् श्लोकों में वर्णन की गई है। इसके ४ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में १३९, द्वितीय में १२६, तृतीय में १६६, और चतुर्थ में १३७ श्लो० हैं। अंत में लिखा है—

कादंबरीदर्पण

"लिखितं विनायकदासकायस्थेन। सं० १५०४ वर्षे कार्तिक शुक्ल अष्टमी मङ्गलदिने"

चंपूमंडन में गद्य तथा पद्यों में नेमिनाथ का चरित्र वर्णित है। यह सात पटलों में विभक्त है, प्रत्येक पटल के अंत में नैषध की तरह निम्नलिखित श्लोक केवल पटल की संख्या पलट कर लिखा हुआ है।

चंपूमंडन

"श्री सारस्वतमंडनस्य विदुषा संतोषदस्यानुजे
चातुर्योचितकाव्यमंडनधृतभ्रातृत्वसंराजिते
श्रीमंडनविदुना विरचिते श्रीमालवंशेन्दुना
चंपूमंडननामनीह पटलो ग्रंथेऽभवत्सप्तमः

अंत में लिखा है—

सं० १५०४ वर्षे मार्गशीर्ष कृष्णप्रतिपदि बुध (ध) दिने लिखितं विनायक दासेन"

इसके बाद और लिखा है

सं० १५०४ वर्षे शाके १३६८ प्रवर्तमाने आषाढ़ शुक्ल त्रयोदश्यां सोमदिने तारापुर स्थाने पुस्तकमलेखि शुभं भवतु"

मालूम होता है कि विनायकदास की प्रति से यह प्रति लिखी गई है और विनायकदास की प्रति लिखी जाने के प्रायः ७ महीने बाद यह प्रति लिखी गई है।

चंद्रविजय प्रबंध दो पटलों में विभक्त है। पहले पटल में चंद्रमा के उदय से लेकर अस्त तक का वर्णन ४१ सुंदर पद्यों में किया है। द्वितीय पटल में १०० पद्य हैं, जिसमें चंद्रमा की उत्पत्ति, उससे सूर्य का वैर, उसके साथ युद्ध, चंद्रमा की विजय और तारागों के साथ उसके विहार का वर्णन है।

चंद्रविजयप्रबंध

इसके अंत में लिखे जाने का संवत् नहीं है, केवल यही लिखा है "कार्तिकशुक्लाष्टम्यां बुद्ध (ध) दिने लिखितं कायस्थ विनायकदासेन"। परंतु अन्य सब ग्रंथ विनायकदास ने सं० १५०४ में लिखे थे इससे अनुमान होता है कि यह भी उसी संवत् में लिखा गया हो। कादंबरी-मंडन के अंत की प्रशस्ति में सं० १५०४ की कार्तिक शुक्ला अष्टमी को मंगलवार लिखा है। संभव है कि अष्टमी की वृद्धि हुई हो (दो अष्टमी हों) और यह भी संभव है कि प्रस्तुत पुस्तक, जिसके केवल १४१ पद्य हैं, एक ही दिन में लिख ली गई हो।

अलंकारमंडन साहित्य शास्त्र का ग्रंथ है, यह ५ परिच्छेदों में विभक्त है। पहले परिच्छेद में काव्य के लक्षण, उसके भेद और रीतियों का, दूसरे परिच्छेद में काव्य के दोषों का, तीसरे में गुणों का, चौथे में रस और पाँचवें में अलंकारों का वर्णन है। लिखे जाने का समय "सं० १५०४ वर्षे मार्गशीर्षकृष्णपञ्चम्यां शनौ दिने लिखितं विनायकदासकायस्थेन" ऐसा लिखा है।

अलंकारमंडन

काव्यमंडन में कौरव और पांडवों की कथा है। इसके १२ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग के अंत में सर्ग की संख्या के परिवर्तन के साथ यह [illegible] श्लोक दिया है—

श्रीमद्भव्यजिनेन्द्रनिर्मलमतेः श्रीमालवंशोन्नतेः
श्रीमद्बाहडनन्दनस्य कृतिनः श्रीमंडनाख्यस्य वै
काव्ये कौरवपांडवोदयकथारम्ये कृतौ सद्गुणे
सापूर्णे पृथुकाव्यमंडन इते सर्गोऽयमाद्योऽगमत्

अंत में लिखा है—

"ग्रंथ संख्या श्लोक १२५० (लि) खितं संवत् १५०४ वर्षे शाके १३६६ प्रवर्तमाने षष्ट्यब्दमध्ये श्रीमुखनाम्नि संवत्सरे दक्षिणायने वर्षा ऋतौ भाद्र शुदि ५ पञ्चम्यां तिथौ बुधदिने पुस्तकमलेखि"

शृंगारमंडन शृंगारमंडन में शृंगार रस के फुटकर १०८ श्लोक हैं अंत में—

"संवत् १५०४ वर्षे कार्तिकशुक्लद्वादश्यां शनौ दिने लिखितं विनायकदासकायस्थेन" यह लिखा है।

संगीतमंडन संगीत शास्त्र का और उपसर्ग मंडन उपसर्गों के विषय का ग्रंथ है जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है। हेमचंद्राचार्य

संगीतमंडन और उपसर्गमंडन

सभा के सेक्रेटरी महाशय से विदित हुआ कि इन दोनों पुस्तकों की प्रतियाँ उक्त सभा के पास हैं परंतु एक एक ही प्रति होने के कारण प्रकाशन करने में अशुद्धि रहने का भय है अतः जब तक दूसरी प्रति इनकी न मिल जाय प्रकाशित नहीं की जा सकतीं।

सारस्वतमंडन सारस्वत व्याकरण के ऊपर ग्रंथ है। इसकी प्रति

सारस्वत मंडन

पाटण के बाड़ी पार्श्वनाथ के मंदिर में है। यह अब तक प्रसिद्ध नहीं हुआ है।

कविकल्पद्रुम स्कंध कविकल्पद्रुम स्कंध अब तक उपलब्ध नहीं हुआ।

ग्रंथों के लिखे जाने का समय

यह ठीक ठीक मालूम नहीं होता कि कौन कौन सा ग्रंथ किस समय लिखा गया। महेश्वर ने और मंडन ने अपने बनाए ग्रंथों में मंडन के पुत्रों के विषय में कुछ नहीं लिखा। परंतु संवत् १५०३ के लिखे हुए भगवतीसूत्र की प्रशस्ति में मंडन के चार पुत्रों के नाम दिए हैं। महेश्वर ने काव्यमनोहर लिखा। उस समय झंझण के छहो पुत्र वर्तमान थे, जैसा कि ऊपर बतया जा चुका है, परंतु भगवती सूत्र की प्रशस्ति में झंझण के पुत्रों का नाम नहीं है, केवल उसके तीन पौत्र धनराज, खीमराज और उदयराज का नाम है। झंझण

के पुत्र शायद इस समय तक न रहे हों। उपरिलिखित बातों से अनुमान होता है कि जिस समय मंडन ने ग्रंथ लिखे उस समय उसके कोई पुत्र नहीं था। किंतु भगवतीसूत्र लिखाने के समय (सं० १५०३ में) उसके ४ पुत्र थे। यदि वि० सं० १५०३ में सबसे छोटे लड़के की अवस्था १ वर्ष की मानी जाय और अन्य पुत्रों की अवस्था में औसत से दो दो वर्ष का अंतर माना जाय तो सिद्ध होता है कि वि० सं० १५०३ से सात वर्ष पूर्व अर्थात् वि० सं० १४६६ के पूर्व मंडन के ग्रंथ बन चुके थे।

उपरिलिखित लेख से पाठकों को विदित होगा कि मुसलमानी साम्राज्य में भी संस्कृत भाषा की कितनी उन्नत अवस्था थी। बड़े बड़े धनिकों और राज्यकर्मचारियों में भी इसका कितना प्रचार था। उस समय के धनी लोग कैसे विद्याव्यसनी और विद्वान् होते थे और विधर्मी होने पर भी मुसलमान बादशाह संस्कृत भाषा पर कितना प्रेम रखते थे।

---

(५) पाणिनि के समय में एक धार्मिक संप्रदाय

[लेखक—पंडित बलदेव उपाध्याय, काशी]

भारत में आजकल ही इतने विभिन्न धार्मिक संप्रदाय दृष्टिगोचर नहीं होते बल्कि अत्यंत प्राचीन काल में भी ऐसे अनेक संप्रदायों के जाल से यह देश खाली नहीं था। साधारण लोगों का यह खयाल है कि श्रीशंकराचार्य से ही इस सांप्रदायिकता की नींव भारत में पड़ी, रामानुजाचार्य के समय में यह कुछ दृढ़ हुई तथा पंद्रहवीं सदी के महत्वपूर्ण धार्मिक आंदोलन से जिसके मुखिया श्रीरामानंद स्वामी थे इसने भारत की धार्मिक भूमि में अच्छी तरह जड़ पकड़ ली कि आज किसी तरह भी डुलाए नहीं डुलती। कुछ अंशों में धार्मिक संप्रदाय का पूर्वोक्त वर्णन उसके विकाश का पूर्णतया पता बता देता है परंतु श्रीशंकराचार्य से ही इसका आरंभ मानना इतिहास की दृष्टि में उतना समुचित नहीं जँचता।

शंकर के करीब डेढ़ हजार वर्ष पहले भी भारत में अनेक धार्मिक संप्रदायों का यथेष्ट पता मिलता है। जब बुद्ध धर्म के प्रवर्तक आचार्य गौतम बुद्ध का अभी जन्म भी न हुआ था, जब आचार्य महावीर ने अपनी अहिंसाप्रचारिणी शिक्षा से विहार की पुण्य भूमि में करुणा सरिता न बहाई थी; तब—नहीं, नहीं, उसके भी बहुत पहले भारत ने धार्मिक संप्रदायों की उत्पत्ति देखी थी। आज पाणिनि के समय के एक धार्मिक संप्रदाय का थोड़ा सा वर्णन इतिहास-प्रेमी पाठकों के सामने उपस्थित किया जाता है।

'मस्करी' परिव्राजक

पाणिनि के समय में 'मस्करी' नामक परिव्राजकों का एक संप्रदाय था। इस शब्द की उत्पत्ति के लिए पाणिनि का एक निम्न-

लिखित सूत्र है—मस्कर मस्करिणौ वेणु परिव्राजकयोः ५।१।१५४। वेणु के अर्थ में 'मस्कर' तथा परिव्राजक के अर्थ में 'मस्करी' शब्द निपातन से सिद्ध किए जाते हैं। इस सूत्र की महाभाष्य, काशिका तथा कैयट कृत टीका देखने से स्पष्टतः 'मस्करी' परिव्राजकों के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगता है।

महाभाष्यकार इस सूत्र की व्याख्या करते समय लिखते हैं—'मस्कर जिसके पास होगा' इस अर्थ के द्योतक इनि प्रत्यय के करने पर मस्करी (वेणुधारी) पद सिद्ध ही हो जाता, फिर पूर्वोक्त सूत्र में इस शब्द के रखने का प्रयोजन क्या? नहीं, वेणुधारी के अर्थ में 'मस्करी पद' सिद्ध न होगा; बल्कि जो परिव्राजक 'काम मत करो, काम मत करो, शांति तुम्हारे लिए भली है' इस प्रकार उपदेश देता है; वही 'मस्करी' के नाम से पुकारा जाता है*।

प्रदीप में कैयट† ने भी महाभाष्यकार के मत को केवल दुहराया है—'यह मत करो, यह मत करो, काम्य कर्मों को छोड़ देना ही तुम्हारे लिए कल्याणकारक है' यह जो उपदेश देता है, उसे 'मस्करी' कहते हैं। पूर्वोक्त उद्धरणों से स्पष्ट जान पड़ता है कि 'मस्करी' लोग बड़े भारी 'दैववादी' थे, वे कर्मों को छोड़ने का उपदेश हर एक को दिया करते थे, काम छोड़ भाग्य के भरोसे रहना ही उनका परम पुरुषार्थ था।

पूर्वोक्त सूत्र की काशिकावृत्ति‡ भी भाष्यकार की सम्मति की

* न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि? मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः।—महाभाष्य।

† मा कृत मा कृत कर्माणि शान्तिः काम्यकर्मपरित्यागस्तुभ्यं श्रेयसीत्युपदेष्टा मस्करीत्युच्यते।

‡ परिव्राजके अपि माङ्युपपदे करोतेर्णिनिः प्रत्ययः ह्रस्वत्वं सुडागमश्च निपात्यते। माकरणशीलो मस्करी। कर्मापवादित्वात् परिव्राजक उच्यते। अन्य आहुः। मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसी।

प्रामाणिकता सिद्ध कर रही है। मस्करी बना कैसे ? इसके लिये काशिका बतलाती है कि 'मा' उपपद कृ धातु से ताच्छील्य स्वभाव के अर्थ में इनि प्रत्यय किया गया है तथा निपातन से आकार को ह्रस्व बनाने तथा सुडागम करने पर यह पद तैयार हुआ है (मा + ऽकृ + इनि = मस्करिन्)। इस व्युत्पत्ति से मस्करी का अर्थ हुआ—वह परिव्राजक जिसका स्वभाव कभी काम करना न हो अर्थात् जो कर्म को बुरा जानकर छोड़ देता है।

काशिका से भी 'मस्करी' के विषय में केवल यही ज्ञात हुआ कि ये परिव्राजक लोग दैववादी थे, कार्यों के त्याग करने के पक्ष में थे। पाणिनि के समय में इनका सम्प्रदाय अत्यंत प्रसिद्ध रहा होगा तभी तो पाणिनि ने इनको अपने सूत्र में स्थान देने का आयोजन किया है।

मस्करी=आजीवक

अब हमें यह विचार करना है कि क्या हम पाणिनि के 'मस्करी' की इतिहास प्रसिद्ध किसी अन्य धार्मिक संप्रदाय के साथ अभिन्नता सिद्ध कर सकते हैं या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक नहीं है। बुद्ध के समय में प्रसिद्ध आजीवक नामक धार्मिक संप्रदाय तथा पाणिनि का मस्करी दोनों एक ही थे। बौद्ध साहित्य में आजीवक लोगों के जो मूल सिद्धांत वर्णित हैं वे मस्करी लोगों के उपदेशों से भिन्न नहीं हैं। एक स्थान पर आजीवकों के मूल सिद्धांत का वर्णन करते हुए बुद्ध भगवान् स्वयं कहते* हैं—आजीवक लोग कहते हैं कि न तो कर्म है, न क्रिया है और न वीर्य। यह सिद्धांत मस्करी के पूर्वोक्त उपदेश—माऽकृत कर्माणि—के बिल्कुल समान ही है। जानकी-हरण में भी सीता को हरने के लिए रावण मस्करी के वेष में ही आता† है। उससे भी जान पड़ता है कि मस्करी तथा आजीवक

* नत्थि कम्मं, नत्थि किरियं, नत्थि विरियं ति।

अंगुत्तर निकाय जि० १, पृ० २८६।

† दधानोऽजिनमुत्तुंग जटामंडितमस्तकम्।

कश्चिन्मस्करिणं सीता ददर्शाश्रममागतम्॥ सर्ग १०, प० ७६।

दोनों एक ही संप्रदाय के थे। बुद्ध के जीवनचरित्र से भी पूर्वोक्त अभिन्नता सिद्धि होती है। जब बुद्ध भगवान अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे, उसी समय में मक्खलि गोसाल नामक आजीविकों के आचार्य का भी प्रभाव धार्मिक जगत् में कम न था, बुद्ध को इनके साथ शास्त्रार्थ भी करना पड़ा था। ये आजीवक बतलाए गए हैं। परंतु इनके नाम का प्रथम अंश—मक्खलि—संस्कृत 'मस्करी' का पाली बना हुआ रूप है, अतएव गोसाल वास्तव में मस्करी संप्रदाय के ही थे। इसी के सूचन के लिए यह अंश उनके नाम के पहले जोड़ा गया है। इन प्रमाणों से ठीक जान पड़ता है कि पाणिनि के 'मस्करी' बौद्धसाहित्य में प्रसिद्ध 'आजीविक' थे।

बौद्ध ग्रंथों के देखने से पता लगता है कि मस्करी लोग बड़े भारी तपस्वी थे, ये हठयोग की कठिन से कठिन प्रक्रिया से अपनी देह को सुखा देते थे, तपाग्नि तपते थे तथा अपने शरीर पर धूलि अथवा भस्म लगाया करते थे। जानकीहरण के पूर्वोक्त उद्धरण से यह भी ज्ञात होता है कि इनके सिर पर बड़ी बड़ी जटाएँ भी शोभित होती थीं। इस संप्रदाय का उस समय बड़ा बोल-बाला था। पाली ग्रंथों में इस संप्रदाय के दो आचार्यों का नाम दिया हुआ मिलता है जो गोसाल के भी पहले हो चुके थे—एक का नाम था नंदवच्छ तथा दूसरे का किस्संकिच्च। सच तो यह है कि बुद्ध के बहुत पहले ही इस संप्रदाय की उत्पत्ति भारतवर्ष में हो चुकी थी।

(६) शिंग भूपाल का समय।

[लेखक—पंडित बलदेव उपाध्याय, काशी]

भारत में संगीत शास्त्र की उत्पत्ति अत्यंत प्राचीन काल में हुई थी। यह काल वैदिक काल से भी प्राचीन होना चाहिए क्योंकि वेद के समय में तो संगीत की खासी उन्नति दिखाई पड़ती है। सामवेद से हम संगीत शास्त्र की विशिष्ट उन्नति का यथोचित पता पा सकते हैं। परंतु शोक से कहना पड़ता है कि संगीत विषयक अधिकांश ग्रंथ कराल काल के ग्रास बन गए हैं। यदि समग्र ग्रंथ इस समय उपलब्ध रहते तो इस शास्त्र के क्रमबद्ध विकाश का इतिहास सहज में ही लिखा जा सकता था। 'संगीत मकरंद'* के द्वितीय परिशिष्ट पर एक सरसरी निगाह डालने से यह शीघ्र पता लग सकता है कि भारतीय संगीत शास्त्र का अध्ययन तथा अध्यापन कितने जोरों के साथ प्राचीन काल में हुआ करता था। यह शास्त्र किसी भी शास्त्र के तनिक भी पीछे न था। संगीत धर्म के साथ संबद्ध था: प्राचीन अनेक ऋषि—नारद, हनुमान, तुंबरु, कोहल, मातंग, वेणा,—इसके आचार्य थे जिन्होंने संगीत पर ग्रंथों की रचना की थी। परंतु संगीत की अनेक पुस्तकें अब तक ताल पत्रों पर हस्तलिखित प्रतियों के रूप में ही पुस्तकालयों की शोभा बढ़ा रही हैं। केवल एक दर्जन से कमती पुस्तकों को प्रकाशित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

यद्यपि 'भारतीय नाट्य शास्त्र' में संगीत के अनेक रहस्य बतलाए गए हैं तथापि 'संगीत रत्नाकर' ही संगीत शास्त्र का सबसे बड़ा उपलब्ध ग्रंथ है। इस अमूल्य ग्रंथ में संगीत की जैसी सुगम तथा सर्वांगीण व्याख्या की गई है वैसी दूसरे किसी ग्रंथ में नहीं पाई

---

* गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़ नं १६।

जाती। प्राचीनता के लिये भी 'नाट्यशास्त्र' तथा नारदरचित 'संगीतमकरंद' को छोड़कर 'संगीतरत्नाकर' सबसे पुराना ग्रंथ है। ऐसे सुंदर ग्रंथ के लिये इसके रचयिता 'शार्ङ्गदेव'* समग्र संगीत प्रेमियों के आदर के पात्र हैं। इस ग्रंथ के ऊपर अनेक प्राचीन टीकाएँ हैं जिनमें 'चतुर कल्लिनाथ' (लगभग १४००-१५००) रचित टीका 'आनंदाश्रम सीरीज़ में प्रकाशित हुई है तथा दूसरी टीका जो प्राचीनता तथा सरल व्याख्या की कसौटी के लिहाज से पूर्वोक्त से कहीं अच्छी है कलकत्ते से प्रकाशित हुई थी। इस टीका का नाम है—संगीत सुधाकर। इसकी विशेषता यह है कि इसमें अनेक प्राचीन ग्रंथों (जिनका अब नामोनिशान बाकी नहीं है) से उद्धरण लिए मिलते हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व नितांत आदरणीय है। इस टीका के रचयिता 'सिंगभूपाल' इस टिप्पणी के विषय हैं।

'सिंगभूपाल' के समय के विषय में अनेक मत दीखते हैं। डाक्टर रामकृष्ण भांडारकर ने लिखा† है कि 'सिंग अपने को 'आंध्रमंडल' का अधिपति लिखता है; इसके विषय में ठीक ठीक कहना तो अत्यंत कठिन है तथापि अधिक संभावना इसी बात की है कि यह तथा देवगिरि के यादव राजा 'सिंघण' दोनों एक ही व्यक्ति थे। 'सिंघण' के आश्रित शार्ङ्गदेव ने 'संगीतरत्नाकर' बनाया था; संभव है कि शार्ङ्गदेव अथवा अन्य किसी पंडित ने टीका लिखकर अपने आश्रयदाता नरेश के नाम से उसे विख्यात किया हो। अतएव इनका समय १३ वीं शताब्दि का मध्य भाग मानना समुचित है।

श्रीयुत प्रो. आर. भांडारकर ने कल्लिनाथ की टीका का उल्लेख पाने से 'सिंगभूपाल' को १६ वीं सदी का माना था परंतु कलकत्ता

---

* देवगिरि के प्रसिद्ध राजा सिंह या सिंघण (१२१८-४६) की सभा में शार्ङ्गदेव रहते थे। यह राजा संपूर्ण भारत का बड़ा [illegible] था। इनके [illegible] 'शार्ङ्गदेव' ने 'अध्यात्मविवेक' नामक वेदांतिक ग्रंथ की रचना की है।

† डाक्टर भांडारकर की संस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८८३-८४)

की एक हस्तलिखित प्रति में कल्लिनाथ का उद्धरण बिल्कुल ही नहीं हैं कलकत्ते की हस्तलिखित प्रति से सिंगभूपाल के जीवन तथा समय की अनेक बातें ज्ञात हुई हैं। कलकत्ते की प्रति का कोलोफन यों है—

(१) इति श्रीमदन्ध्रमण्डलाधीश्वर प्रतिगुणभैरव श्रीयनपोत-नरेन्द्रनन्दन भुजबलभीम श्रीसिंगयपाल विरचितायां संगीतरत्नाकर टीकायां सुधाकराख्यायां रागविवेकाध्यायो द्वितीयः।

(रागविवेकाध्याय का अंत)

(२) भैरव श्रीअमरेन्द्रनन्दन... . (प्रकीर्णाध्याय का अंत)

एक 'सिंगपाल' कृत 'रसार्णव सुधाकर' नामक ग्रंथ की सूचना प्रो. शेषगिरि शास्त्री ने अपनी संस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८९६-९७) में दी थी। उस पर उन्होंने बहुत कुछ कहा भी था। सौभाग्य से वह पुस्तक ट्रिवेंड्रम संस्कृत सीरीज (५० अं०) में प्रकाशित हुई है। उस ग्रंथ की आलोचना करने से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि 'रसार्णव सुधाकर*' के रचयिता तथा पूर्वोक्त टीका के लेखक दोनों एक ही व्यक्ति हैं। सुधाकर के कोलोफन में भी वे ही बातें दी गई हैं जो पूर्वोक्त उद्धरणों में हैं। इति श्रीमदंध्रमण्डला-धीश्वर प्रतिगुणभैरव श्री अन्नपोतनरेन्द्रनंदन भुजबलभीम श्री शिङ्गभूपाल विरचिते रसार्णव-सुधाकर नाम्नि नाट्यालङ्कारे रञ्जको-ल्लासो नाम प्रथमो विलासः।

ये दोनों कालोफोन एक ही ग्रंथकार के हैं। रसार्णव-सुधाकर के आरंभ में 'शिंगभूपाल' के पूर्व पुरुषों का इतिहास संक्षेप में वर्णित है। उससे जान पड़ता है कि 'रेचल्ल' वंश में इनका जन्म हुआ था। शिंगभूपाल अपने ६ पुत्रों के साथ 'राजाचल' नामक राजधानी में रहता था और विन्ध्याचल से लेकर 'श्रीशैल' नामक

* यह ग्रंथ 'दशरूपक' की कोटि का है। इसमें बड़ी सरलता से नाटक के विविध अंगों की—वस्तु, नेता, रस—आदि की व्याख्या की गई है। दक्षिण में इसका प्रचार दशरूपक से कहीं अधिक है।

पर्वत के मध्यस्थित देश पर राज्य करता था। शेषगिरि शास्त्री ने 'Biographical sketches of the Rajahs of Venkatgiri' नामक पुस्तक के आधार पर शिंगभूपाल को सिंगम नायडू से अभिन्न माना है। शास्त्री जी का यह कथन सर्वथा उचित है क्योंकि 'रसार्णव सुधाकर' के आरंभ में शिंग ने स्वयं अपने को शूद्र बतलाया है तथा दक्षिण देश में आज भी 'नायडू' की गणना उसी वर्ण में होती है। इस जातिगत ऐक्य से दोनों व्यक्ति अभिन्न ठहरते हैं।

सिंगम नायडू का समय १३३० के आस पास था जिससे हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि संगीत-सुधाकर की रचना चौदहवीं सदी के मध्यकाल में हुई थी।

पूर्वोक्त बातों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि शिंगभूपाल का संबंध दक्षिण देश से था, उत्तरीय भारत से नहीं। अतएव मैथिलों का यह प्रवाद कि शिंग मिथिला के राजा थे केवल कल्पना मात्र है—संकीर्ण प्रांतीयता के सिवाय और कुछ नहीं है। श्रीश्याम नारायणसिंह ने अपने 'History of Tirhut' में इस प्रवाद का उल्लेख किया है॰। रसार्णव-सुधाकर की हस्तलिखित प्रतियों के दक्षिण में मिलने तथा पुस्तक के दक्षिण में सातिशय प्रचार से शिंगभूपाल वास्तव में दक्षिण देश के ही सिद्ध होते हैं।

---

(७) मदनाष्टक

[लेखक—पण्डित भागीरथ प्रसाद दीक्षित, काशी]

जय से. सम्मेलन पत्रिका की भाद्रपद सं० १९७६ की संख्या में मदनाष्टक के ६½ छंद निकले थे तभी से मैं शेष छंदों की खोज में था। अब से कुछ दिन पूर्व मैं प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज में फतहपुर जिले में भ्रमण कर रहा था कि मोअज्ज़माबाद ग्राम में मुझे सं० १८८२ के लिखे दो पृष्ठ मदनानाष्टक के मिले जिसका कोई छंद सम्मेलन-पत्रिका के छंदों से नहीं मिलता।

कार्तिक मास की सम्मेलन पत्रिका में १ छंद माधौपुर (छत्रपुर) निवासी लल्ला जुझारसिंह ने और भी प्रकाशित कराया था। केवल वही छंद उक्त मदनाष्टक के चौथे छंद से मिलता है।

इसके पश्चात् असनी में भी दो तीन महाशयों के पास मदनाष्टक के नाम से ८ छंद मिले जिनके प्रारंभ में रहीम का वही प्रसिद्ध छंद है जिसे भूल से लोग 'हे दिल' को "हैदर" समझ कर 'हैदर' का रचा बतलाते हैं और जिसके आधार पर ही मदनाष्टक रचा बतलाया जाता है। मुंशी देवीप्रसाद जी ने भी अपने ख़ानख़ानानामा में उक्त छंद उद्धृत किया है। यह छंद खड़ी बोली और संस्कृत मिश्रित भाषा का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके चार छंद नं० ४, ६, ७, ८ मोअज्ज़माबादवाले मदनाष्टक से और तीन छंद नं० २, ३, ५ भाद्रपद की सम्मेलन पत्रिकावाले से मिलते हैं, यद्यपि सम्मेलन पत्रिका में वे चारों छंद जो इन दोनों अष्टकों से मिलते हैं अशुद्ध रूप में प्रकाशित हुए हैं। अतः मुअज्ज़माबाद और असनी से प्राप्त मदनाष्टकों को यथाशक्ति शुद्ध रूप में तथा सम्मेलन पत्रिका में प्रकाशित छंदों को क्रम से उद्धृत कर हम विचार करेंगे कि इन तीनों मदनाष्टकों में शुद्ध और रहीम-रचित असली कौनसा है।

(१)

मुअज़्ज़माबाद से जो मदनाष्टक मिला है वह इस प्रकार है—

मालिनी छंद ।

[१]

मनसि मम नितांतम् आयकैं वास कीया ।
तन धन सब मेरा मान तैं छीन लीया ॥
अति चतुर मृगाक्षी देखतै मौन भागी ।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

[२]

वदति गगनि मंदम् मैं उठी राति जागी ।
शशि-कर कर लागें सेल ते पैन वागी ॥
अहह विगत् स्वामी क्या करौं मैं अभागी ।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

[३]

हरनयन हुताशं ज्वालया, जो जलाया ।
रति-नयन जलौघे खाक बाकी बहाया ॥
तदपि दहति चित्तम् मामकं क्या करौंगी ।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

[४]

विगत घन निशीथे चाँद की रोशनाई ।
सघन वन निकुंजे कान्ह बंसी बजाई ॥
सुत पति गृहनिद्रा त्यागियाँ छोड़ भागी ।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी ॥

[५]

हिम ऋतु रतिपाता सेज लोटौं अकेली ।
उरग विरहज्वाला क्यों सहौं री सहेली ॥

चकितनयन याला तत्र निद्रा न लागी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥

[६]

कमल मुकुल मध्ये राति को ऐ सयानी।
लखि मधुकर बंधम् तू भई री दिवानी॥
तदुपरि मधुकाले कोकिला देखि भागी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥

[७]

तव वदन मयंकी ब्रह्म की चोप बाढ़ी।
मुख कहँ लखि भूपै चाँद ते कांति गाढ़ी॥
मदन-मथित रंभा देखते मोहि भागी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥

[८]

नभसि घन घनांते घनी कैसि छाया।
पथिक जन वधूनां जन्म केता गँवाया॥
इति वदति पठानी मन्मथांगी विरागी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥

(२)

असनी में जो मदनाष्टक प्राप्त हुआ वह इस प्रकार है—

दृष्ट्वा तत्र विचित्रताम् तरुलताम् मैं था गया बाग में।
कांश्चित् तत्र कुरंग-साव-नयनी गुल तोड़ती थी खड़ी॥
उन्नत भ्रू धनुषा कटाक्ष विशिखै घायल किया था मुझे।
तत्सीदामि सदैव मोह जलधौ हे दिल गुजारो शुकर॥

[२]

कलित ललित माला या-जवाहिर जड़ा था।
चपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था॥

कटि तट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बनि अलबेला यार मेरा अकेला॥

[३]

अलक कुटिल कारी देख दिलदार जुलफें।
अलि कलित निहारैं आपने दिल की कुलफें॥
सकल शशि-कला को रोशनी-हीन लेखौं।
अहह! व्रजलला को किस तरह फेर देखौं॥

[४]

वहति मरुत मन्दम् मैं उठी राति जागी।
शशि कर कर लागे सेज को छोड़ भागी॥
अहह! विगत स्वामी मैं करूँ क्या अकेली।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥

[५]

छवि छकित छबीली छैलरा की छड़ी थी।
मणि जटित रसीली माधुरी मूँदरी थी॥
अमल कमल ऐसा खूब से खूब लेखा।
कहि न सकत जैसा कान्ह का हस्त देखा॥

[६]

विगत घन निशीथे चाँद की रोशनाई।
सघन वन निकुंजे कान्ह बंसी बजाई॥
सुन पति गतनिद्रा स्वामियाँ दौड़ भागी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥

[७]

हर नयन हुताशन ज्वालया भस्मिभूत।
रति मदन जलधि लाज पाकी बहाया॥
तदपि दहति चित्तं मामकं क्या करोंगी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥

[८]

हिम रितु रति धामा सेज लोटौ अकेली।
उठत 'विरहज्वाला क्यों सहौं री सहेली॥
इति वदति पठानी मद मदंगी विरागी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी।

(२)

सम्मेलनपत्रिका में प्रकाशित मदनाष्टक इस प्रकार है—

[१]

कलित ललित माला वा-जवाहिर जड़ा था।
चपल चखनवाला चाँदनी में खड़ा था॥
कटि तट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि बनि अलबेला यार मेरा अकेला॥

[२]

छवि छकित छबीली छैलरा की छड़ी थी।
मणिजटित रसीली माधुरी मूँदरी थी॥
अमल कमल ऐसा खूब ते खूब देखा।
कहि न सकत जैसा श्याम का हस्त देखा॥

[३]

अलक कुटिल कारीं देख दिलदार जुलफैं।
अलि कलित निहारैं आपने दिल की कुलफैं॥
सकल शशिकला को रोशनी-हीन पेखौं।
अहह! ब्रजलला को किस तरह फेर देखौं॥

[४]

जरद बसनवाला गुल चमन देखता था।
झुक झुक मतवाला गावता रेखता था॥
श्रुतियुग चपला से कुंडले झूमते थे।
नयन कर तमासे मस्त है घूमते थे॥

[५]

तरल तरनि सी हैं तीर सी नोकदारैं।
अमल कमल सी हैं दीर्घ हैं दिल विदारैं॥
मधुर मधुप हेरैं मान मस्ती न राखैं।
विलसित मन मेरे सुंदरी श्याम आखैं॥

[६]

भुजँग जुग किधौं हैं काम कमनैत सोहैं।
नटवर तव मोहैं बाँकुरी मान भौंहैं॥
सुन सखि मृदुबानी बेदुरुस्ती अखिल मैं।
सरल सरल सानी कै गई सार दिल मैं॥

[७]

पकरि परम प्यारे साँवरे को मिलाओ।
असल अमल प्याला क्यों न मुझको पिलाओ॥

[८]

सरद निसि निशीथे चाँद की रोशनाई।
सघन वन निकुंजे कान्ह बंसी बजाई॥
रति-पति सुत निद्रा साइयाँ छोड़ भागी।
मदन सिरसि भूयो पथ पला आन लागी॥

उपरोक्त तीनों मदनाष्टकों पर विचार करने से विदित होता है कि-

(१) नं० १ का मदनाष्टक प्राचीन लिखा हुआ पाया गया है और वह भी स्यात् प्राचीन आधार पर लिखा प्रतीत होता है। नं० २ व ३ सुने सुनाए आधार पर नवीन प्रतिलिपि से लिए गए हैं।

(२) रहीम के जिस छंद के आधार पर मदनाष्टक रचा बतलाया जाता है उसकी और नं० १ मदनाष्टक की भाषा एक सी है अर्थात् दोनों की भाषा संस्कृत व खड़ी बोली मिश्रित है, अन्यों में दो एक छंदों को छोड़कर शेष की भाषा खड़ी बोली की हिंदी है और जिनकी भाषा मिश्रित है वे छंद नं० १ के मदनाष्टक से ही लिए गए हैं।

(३) पंचक, सप्तक और अष्टक आदि के बहुधा अंतिम पद एक साँ होते हैं और नं० १ मदनाष्टक में भी "मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी" यह पद आठों छंदों में एक समान है। अन्य मदनाष्टकों में नं० १ के छंदों को छोड़कर किसी छंद का अंतिम पद नहीं मिलता।

(४) नं० १ के मदनाष्टक के प्रत्येक छंद का अंतिम चरण 'मदन' शब्द से प्रारंभ होता है अतः यही मदनाष्टक कहा जा सकता है। अन्य दोनों मदनाष्टक नहीं माने जा सकते।

(५) नं० १ वाले मदनाष्टक के आठवें छंद के तीसरे चरण में "इति वदति पठानी" पद आया है अतः यही मदनाष्टक अब्दुल रहीम खानखाना का बनाया प्रतीत होता है।

नं० २ का मदनाष्टक नं० १ व ३ के मदनाष्टकों का मिश्रण है अतः नं० १ व ३ के मदनाष्टकों का विचार ही पर्याप्त होगा। नं० २ के मदनाष्टक में चार छंद तथा नं० ३ के मदनाष्टक में भी अंतिम छंद प्रथम से ही लिया हुआ है। अतः प्रतीत होता है कि नं० १ मदनाष्टक प्राचीन है और नं० २ व ३ के मदनाष्टक नं० १ के लुप्त होने पर किसी अन्य कवि ने रचे हों अथवा रहीम के ही रचे हुए शृंगार के उक्त छंदों का मदनाष्टक के नाम से संग्रह कर लिया गया हो, या संभव है कि ज्यों ज्यों मूल छंद लुप्त होते गए हों त्यों त्यों उसमें अन्य छंद मिलते गए हों।

संस्कृत मिश्रित भाषा को लोग समझते भी कम होंगे अतः शुद्ध हिंदी के मदनाष्टक का प्रचार होना स्वाभाविक था जिसका भी धीरे धीरे लोप हो चला था। दोनों मदनाष्टकों में भाव-गांभीर्य और शब्द-लालित्य उत्तम हैं, परंतु नं० ३ के कुछ छंदों को छोड़कर शेष छंद नं० १ की तुलना नहीं कर सकते। नं० ३ में उपरोक्त नं० १ के बहुत से गुण न होने से वह मदनाष्टक नहीं माना जा सकता। आशा है अब नं० १ का मदनाष्टक अपने स्थान को पुनः प्राप्त कर सकेगा।

---

(८) महाकवि भास और उसका नाटक-चक्र ।

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर]

जयदेव कवि ने अपने प्रसन्नराघव नामक नाटक में निम्नलिखित श्लोक लिखा है—

"यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चवाणस्तु बाणः
केषां नैषा कथय कविता कामिनी कौतुकाय ॥"

अर्थात् जिसका "चोर" कवि केशकलाप है, "मयूर" कर्णभूषण है, "भास" हास्य है, कविकुलगुरु "कालिदास" विलास है, "हर्ष" हर्ष है और "बाण" हृदय में निवास करनेवाला पंचबाण (काम) है, ऐसी कविता-कामिनी, कहिए, किसको कुतूहलकारी नहीं है ? इस श्लोक का अर्थ करते हुए तथा इसमें निर्दिष्ट कवियों का परिचय देते हुए श्रीगंगानाथ शर्मा ने अपनी भावबोधिनी टीका में लिखा है—"भासः—अज्ञात कृतिकोऽयं कवि, कालिदासेन, बाणेन, मम्मटेन च वर्णितः" अर्थात् भास एक ऐसा कवि है जिसके ग्रंथों का पता नहीं; हाँ कालिदास, बाण और मम्मट ने उसका वर्णन किया है । संस्कृत के प्राचीन कवियों की छानबीन करनेवाले हरिमोहन प्रामाणिक और संस्कृत नाटकों के खोजी सुप्रसिद्ध भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी भी पंडित गंगानाथ जी के समान भास के विषय में विशेष निरूपण नहीं कर सके। सच तो यह है कि कालिदास, बाण, मम्मट और जयदेव के अतिरिक्त अन्य कई एक प्राचीन विद्वानों के ग्रंथों के द्वारा इस देश के तथा विलायत के पंडितों को ईसवी सन् १९०८ तक इतना ही ज्ञात था कि प्राचीन काल में भास नाम का एक प्रसिद्ध नाटककार इस देश में हुआ था और उसके नाटकों में से एक नाटक का नाम "स्वप्नवासवदत्ता" था। इससे अधिक वे

कुछ नहीं जानते थे और इस नामावशेष कवि के ग्रंथों के दर्शन होने की भी उन्हें कोई आशा नहीं थी। ऐसे अति प्राचीन चिरप्रनष्ट ग्रंथों का प्राप्त हो जाना बड़े ही आनंद की बात है। संस्कृत के प्रेमी और पुरातत्व के विमर्शियों को तो यह अपूर्व तथा अमूल्य निधि का लाभ है। इस लेख द्वारा हम हिंदी प्रेमियों को अपने अल्प सामर्थ्यानुसार यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि ये ग्रंथ कैसे मिले क्या ये भास के ही हैं, भास कब हुआ था, और इन ग्रंथों में क्या लिखा हुआ है।

इन नाटकों के मिलने की कथा इस प्रकार प्रारंभ होती है कि सन् १९०६ ई० में महामहोपाध्याय पंडित गणपति शास्त्री ट्रावनकोर सरकार की ओर से संस्कृत के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह करने के लिये नियुक्त होकर पद्मनाभपुर के समीप मणिलिकर मठ में पहुँचे और वहाँ पर उन्हें प्राचीन केरली लिपि में लिखा हुआ तालपत्र का एक सम्पुट मिला जिसमें १०५ पत्रे थे और प्रत्येक पत्रे में १० पंक्तियाँ थीं और उनमें २० ग्रंथ लिखे हुए थे। यद्यपि पत्रों का लेख अनुमान ३०० वर्षों से भी अधिक पूर्व का लिखा हुआ प्रतीत होता था, परंतु पहले १२ पत्रों के किसी किसी भाग के अतिरिक्त यह बिगड़ा हुआ नहीं था और पढ़ने में आ सके, ऐसा था। परीक्षा करने पर उस सम्पुट में उन्हें नीचे लिखे नामवाले १० रूपक और एक अधूरा यों ११ रूपक मिले—

१ स्वप्ननाटकम्।	६ अविमारकम्।
२ [illegible]।	७ बालचरितम्।
३ पंचरात्रम्।	८ मध्यमव्यायोगः।
४ चारुदत्तम्।	९ कर्णभारम्।
५ दूतघटोत्कचम्।	१० ऊरुभङ्गम्।

कुछ काल पश्चात् उन्हें उक्त ग्रंथों के सजातीय और दो ग्रंथ अभिषेक और प्रतिमानाटक पद्मनाभपुर के समीप निवास करने-वाले कैलासपुर के गोविंद पिषारोटि नाम के ज्योतिषी के यहाँ प्राप्त

हुए और यह भी पता लगा कि इन दो ग्रंथों की प्रतियाँ राजकीय ग्रंथशाला में भी विद्यमान हैं। इस प्रकार अश्रुतपूर्व १२ ग्रंथों की उपलब्धि हुई।

इन ग्रंथों की गद्य-पद्य रचना, अर्थ की गंभीरता तथा प्रकरण-विन्यास बड़ा ही रोचक था; परंतु उनमें ग्रंथकार का नाम लिखा हुआ न होने से यह पता नहीं चलता था कि उनका बनानेवाला कौन था। वर्तमान काल में जो नाटक ग्रंथ मिलते हैं, उनमें प्रथम नांदी श्लोक लिखा रहता है; तदनंतर "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" सूत्रधार का प्रवेश होता है और आगे कवि का और नाटक का नाम बतलाया जाता है। इसको प्रस्तावना कहते हैं। यह आजकल के इश्तहारों का प्राचीन रूप है। इन सब नाटकों में प्रारंभ ही में "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" ऐसा उपक्रमण करके मंगल श्लोक लिखा हुआ है और "प्रस्तावना" शब्द के स्थान में "स्थापना" का प्रयोग है। इसके अतिरिक्त कवि और काव्य का नामनिर्देश किसी में भी नहीं किया हुआ है। हाँ, सब नाटकों के अंत में "भरतवाक्य" देकर "अमुक नाटकमवसितम्" अर्थात् अमुक नाटक समाप्त हुआ, ऐसा अवश्य लिखा हुआ है। इन सब रूपकों के आदि और अंत भागों की समानता के अतिरिक्त अभ्यंतर भागों में भी कई एक वाक्य, पंक्तियाँ तथा श्लोक ज्यों के त्यों वे ही लिखे हुए होने से तथा प्रत्येक की रचना-शैली के पूर्ण सादृश्य से यह निर्विवाद प्रतीत होता था कि ये सब के सब एक ही पुरुष के बनाए हुए हैं। परन्तु यह बनानेवाला कौन है, इस प्रश्न का उत्तर इन रूपकों से सहसा नहीं मिलता था।

कौतुकाक्रांतचित्त पंडित गणपतिजी इन नाटकों की अन्य प्रतियाँ प्राप्त करने के उद्योग में नितांत लगे हुए थे और उन्हें कई प्रतियाँ मिलीं भी; परंतु थोड़े ही दिनों के पश्चात् मैसूर से श्रीअनंताचार्यद्वारा दो रूपकों की प्रतियाँ प्राप्त हुईं जिनमें से एक रूपक के अंत में "स्वप्नवासवदत्ता समाप्ता" ऐसा लिखा हुआ था। बस, ताले

में वन्द रचयिता के नाम को प्रकट करने में इस वाक्य ने ठीक कुंजी का काम दिया और यह यों कि सूक्तिमुक्तावलि में राजशेखर के निम्नलिखित श्लोक से पाया जाता है—

"भासनाटकचक्रेऽपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः" ॥

इसका आशय यह है कि भास की नाटकावलि की परीक्षा ली गई और स्वप्नवासवदत्ता को अग्नि में डाल दिया; परंतु अग्नि ने उसे नहीं जलाया। यह श्लोक तीन बातों को सिद्ध करता है। एक तो यह कि भास ने कई ग्रंथ रचे। दूसरी यह कि स्वप्नवासवदत्ता का बनानेवाला भास था। तीसरी यह कि भास की सब कृतियों में स्वप्नवासवदत्ता अत्यंत श्रेष्ठ ग्रंथ था। इसके अतिरिक्त हर्षचरित में लिखे हुए बाण के इस निम्नलिखित श्लोक ने भी यह निरूपण करने में कि 'इन नाटकों का रचयिता भास है' अतुलित सहायता प्रदान की—

"सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥"

"अर्थात् जैसे कोई पुण्यात्मा देवकुल (देवालय) बनाकर यश पाता है, वैसे भास ने नाटकों से यश पाया। देवकुलों का आरम्भ सूत्रधार (राजमिस्त्री) करते हैं, भास के नाटकों में भी नांदी रंग-मंच पर नहीं होती, पर्दे की ओट में ही हो जाती है, नाटक का आरंभ नांदी के पीछे सूत्रधार ही करता है। मंदिरों में कई भूमिकाएँ (खंड या चौक) होते हैं, भास के नाटकों में भी कई भूमिकाएँ (Parts) हैं। मंदिरों पर पताकाएँ (ध्वजाएँ) होती हैं, इन नाटकों में भी पताका (नाटक का एक अंग) होती है। यों देवकुल सदृश नाटकों से भास ने यश पाया था"* ।

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण), भाग १, पृ. ४५ ।

इन नाटकों के प्रारंभ करने का ढंग इस प्रकार है। उदाहरणार्थ स्वप्नवासवदत्ता में यों है—

नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः—

सूत्रधारः—उदयनवेन्दुसवर्णावासवदत्तावलौ बलस्य त्वाम्।
पद्मावतीर्णपूर्णौ वसन्तकम्रौ भुजौ पाताम्* ॥

एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि। अये किन्नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते। अङ्ग ! पश्यामि।

नेपथ्ये

उस्सरह उस्सरह अय्या ! उस्सरह।

सूत्रधारः—भवतु विज्ञातम्।

भृत्यैर्मगधराजस्य स्निग्धैः कन्यानुगामिभिः।
धृष्टमुत्सार्यते सर्वस्तपोवनगतोजनः ॥

निष्क्रान्तः।

स्थापना।

इसका हिंदी भाषांतर यह हुआ—

नांदी के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश।

सूत्रधार—उदयनवेन्दु समान वर्णता को जो धारत
वाऽऽसवदत्ताऽवला भई जिनकर वशपावत।
पद्माऽवतीर्ण पूर्ण भए पे सिद्धि दिलावत।
अरु वसन्तकमनीय विविध छवि को नित छावत ॥

---

* आशय—उदय होते हुए चंद्रमा के समान वर्णवाली, मद्य के अतिपान से अलसाई हुई, लक्ष्मी के आविर्भाव से पूर्ण, वसंत के समान कमनीय बलरामजी की भुजाएँ तुम्हारी रक्षा करें। इस श्लोक में कवि ने मंगलाचरण के अतिरिक्त मुद्रालङ्कार विधि से नाटक के प्रधान पात्र उदयन, वासवदत्ता, पद्मावती और वसन्तक का निर्देश किया है।

ऐसे श्रीवलभद्र के, भुजयुग सब गुण आगरे।
सकल सभ्य समुदाय की, सब विधि से रक्षा करें* ॥

ऐसा मान्यवर सज्जनों से निवेदन करूँ। अरे! मेरे निवेदन करने को प्रस्तुत होते ही यह क्या शब्द सा सुनाई पड़ता है? अच्छा तो देखता हूँ। (नेपथ्य में)

हटो! दूर हटो!! आर्य्यो दूर हटो!!!

सूत्रधार—अच्छा, अब जान लिया।

मगधनाथ के दास, सहृदय अरु कन्यानुचर।
करत निशंक निकास, तप वन पथ गत जनन को॥

(जाता है)

इति स्थापना।

रेखांकित वाक्य इन १३ नाटकों में से ८ में अविकल रूप से मिलता है। इन नाटकों के समाप्त करने की शैली इस प्रकार है—

स्वप्नवासवदत्ता में।

भरत वाक्यम्।

इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्।
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः॥

निष्क्रान्ताः सर्वे।

षष्ठोऽङ्कः।

इति स्वप्ननाटकमवसितम्।

हिन्दी भाषांतर—

भरतवाक्य

हिमविंध्याचल जासु हैं, कर्णाभरण समान।
सागरांत इक छत्र महि, भोगहु सिंह समान॥

सब चले जाते हैं।

---

* [illegible]

स्वप्नवासवदत्ता के अतिरिक्त बालचरित और दूतवाक्य में भी यही श्लोक "भरतवाक्य" में दिया हुआ है । प्रतिज्ञायौगन्धरायण अविमारक और अभिषेक नाटक में इस श्लोक में थोड़ा सा परिवर्तन है ।

भवन्त्वरजसो गावः परचक्रं प्रशाम्यतु ।
इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥

इस श्लोक की पिछली पंक्ति पञ्चरात्र के अंतिम श्लोक में ज्यों की त्यों लिखी हुई है । प्रसंगानुसार आगे चलकर कुछ और सादृश्य बतावेंगे । विस्तार-भय से अधिक वाक्यों, पंक्तियों और श्लोकों के अंश जो इन नाटकों में आपस में ज्यों के त्यों या अल्प परिवर्तन से मिलते हैं, उन्हें यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं । यह जो अल्प सादृश्य बताया गया है, इसीसे यह अनुमान हो जाता है कि ये ग्रन्थ एक ही पुरुष के रचे हुए हैं और इनमें से एक "स्वप्नवासवदत्ता"* होने से कि जो राजशेखर के कथनानुसार भास का रचा हुआ है और बाण का बताया हुआ लक्षण इन सबमें घट

---

* पांडवों के वंश में उदयन नाम का एक सुप्रसिद्ध राजा हो चुका है । उसकी स्त्री का नाम वासवदत्ता था और वह भी असामान्य कीर्तिसम्पन्न हुई । जैसे भोज और विक्रम की कथाएँ आजकल प्रचलित हैं, वैसे पूर्वकाल में इनके चरित्र की अनेक कथाएँ प्रसिद्ध थीं । इनका वर्णन कथासरित्सागर, बृहत्कथा-मंजरी, रत्नावली, प्रियदर्शिका, उदयनचरित, वीणावासवदत्ता आदि ग्रंथों में और जैन-विद्वानों के प्रबन्धों में मिलता है । सुबन्धु की "वासवदत्ता" कल्पित है और उसका इस वासवदत्ता से कुछ भी संबंध नहीं है । भास ने प्रतिज्ञायौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्ता में इन्हीं उदयन और वासवदत्ता का वर्णन किया है । ध्वन्यालोक-लोचन में एक श्लोक "स्वप्नवासवदत्ता" ग्रंथ का बताया है; परन्तु वह संप्रति प्राप्त हुए स्वप्नवासवदत्ता के किसी भी आदर्श में नहीं मिलता । इससे अनुमान होता है कि भास के अतिरिक्त और किसी ने भी इस नाम का ग्रंथ लिखा था । वह श्लोक नीचे लिखा हुआ है—

जाने से इन सब ग्रंथों का रचनेवाला महाकवि भास ही है, यह निर्णय किया गया है।

इस विषय में एक बात का और विवेचन करना आवश्यक है और वह यह कि जब संग्रह ग्रंथों में भास के नाम से लिखे हुए श्लोक इन नाटकों में से किसी में भी नहीं मिलते, ऐसी अवस्था में यह कैसे सहसा स्वीकार किया जा सकता है कि ये ग्रंथ भास के ही हैं? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो इन संग्रह ग्रंथों के हवाले कई कारणों से सर्वांश में विश्वसनीय नहीं ठहराए जा सकते; दूसरे यह भी नहीं कहा जा सकता कि भास के इतने ही ग्रंथ हैं। अब हम क्रमशः उन श्लोकों को लिखते हैं जो भास के बताए गए हैं और उनकी यथाशक्ति जाँच भी करते हैं। प्रथम शार्ङ्गधरपद्धति के श्लोकों को उद्धृत करते हैं--

---

सञ्चितपक्ष्मकपाटं नयनद्वारं स्वरूपताडनेन ।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगृहं मे नृपतनूजा ॥

इस विषय में श्रीयुत [illegible] शर्मा की निम्नलिखित पंक्तियाँ मननीय हैं—यदि स्वप्ने [illegible] महाभाष्ये (पा० ४. ३. ८०) आख्यायिकार्थेन वासवदत्ताया ग्रहणम्। आख्यायिका—"वासवदत्तिकः" इति सुबन्धुकृतैवाख्यायिका [illegible] सा च सुबन्धु कविः रामायणस्य, महाभारतस्य, [illegible] हरिवंशस्य [illegible] च परमेव च। [illegible] तु [illegible] [illegible] सुबन्धु [illegible] "वासवदत्तिकः" [illegible] महा-भारतपुरुषार्थ [illegible] "यत्र [illegible]"—इत्युपलभ्यते। यह और वासवदत्ता सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति होने से तथा भास जैसे प्राचीन कवि के इनके विषय में ग्रंथ लिख जाने से इनको तो यही संभव है कि वर्तमान कवि की उल्लेख की हुई वासवदत्ता, सुमनोत्तरा और भैमरथी आख्या-यिकाओं में से कोई भी उपलब्ध नहीं। वे रह ही तब गये, परंतु कालांतर में नष्ट हो गये।

(१) अस्या ललाटे रचितासखीभिर्विभाव्यते चंदनपत्रलेखा ।
आपाण्डुरक्षामकपोलभित्तावनंगबाणव्रणपट्टिकेव ॥
श्लोक संख्या ३२६२ ।

यह श्लोक सुभाषितावलि में भी लिखा है (सं० १४८७) परंतु उसमें रचयिता का नाम नहीं दिया है ।

(२) दयिता बाहुपाशस्य कुतोयमपरो विधिः ।
जीवयत्यर्पितः कण्ठे मारयत्यपवर्जितः ॥ सं० ३३३० ।

सुभाषितावलि में इसी श्लोक को (सं० १५२६) कलश कवि का बताया है ।

(३) कपोले मार्जारी पय इति कराँल्लेढि शशिन-
स्तरुच्छिद्रप्रोतान्बिसमिति करी संकलयति ।
रतान्ते तल्पस्थान्हरति वनिताप्यंशुकमिति
प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विप्लवयति ॥ सं० ३६४० ।

यह सुभाषितावलि (सं० १६६४) में भी भास का ही बताया है ।

(४) तीक्ष्णं रविस्तपति नीच इवाचिराढ्यः
शृंगं रुरुस्त्यजति मित्रमिवाकृतज्ञः ।
तोयं प्रसीदति मुनेरिव धर्मचिन्ता
कामी दरिद्र इव शोषमुपैति पंकः ॥ सं० ३८०७ ।

यह सुभाषितावलि (सं० १८२१) में भी भास का ही बनाया है और इसकी रचना भास की शैली से बहुत कुछ मिलती है । इसमें कवि ने शरद् का वर्णन किया है ।

निम्नलिखित श्लोक वल्लभदेव की सुभाषितावलि में भास के नाम से लिखे हैं—

(१) बाला च सा विदितपञ्चशरप्रपञ्चा
तन्वी च सा स्तनभरोपचिताङ्गयष्टिः ।
लज्जां समुद्वहति सा सुरतावसाने
हा कापि सा किमिव किं कथयामि तस्याः ॥ सं० १२८६ ।

(२) दुःखार्ते मयि दुःखिता भवति या हृष्टे प्रहृष्टा तथा
दीने दैन्यमुपैति रोषपरुषे पथ्यं वचो भाषते।
कालं वेत्ति कथाः करोति निपुणा मत्संस्तवे रज्यति
भार्या मंत्रिवरः सखा परिजनः सैका बहुत्वं गता॥
सं० १३५३।

इस श्लोक में निम्नलिखित श्लोक का सादृश्य ज्ञात होता है—

काय्येंषु मंत्री करणेषु दासी
धर्म्मेषु पत्नी क्षमया धरित्री।
स्नेहेषु माता शयनेषु रम्भा
रंगे सखी लक्ष्मण! सा प्रिया मे॥

आगे अविमारक के सार में दिया हुआ 'गोष्ठीपुहास्य' से प्रारंभ होनेवाला श्लोक भी इसी शैली का है।

(३) कठिनहृदये मुञ्च क्रोधं सुखप्रतिघातकं
लिखति दिवसं यातं यातं यमः किल मानिनि।
वयसि तरुणे नैतद्युक्तं चले च समागमे
भवति कलहो यावत्तावद्वरं सुभगे रतम्॥ सं० १६१६।

(४) कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितै-
र्वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथाम्बया।
नवनृपतिः सः ... [illegible]

(४) कृतकरुनर्फमोयासर्यैस्त्वयास्म्यनिवक्षिता
निभृतनिभृतैः कार्यालापैर्मयाप्युपलक्षितम्।
भवतु विदितं नेदानीं ते वृथा परिखिद्यसे
सदमसदना त्वं निस्नेहः समेन समं गतम्॥ सं० १६२८।

यह श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति में भी है (सं० ३५६०) परंतु वहाँ "कस्यापि" (किसी का है) ऐसा लिखा हुआ है।

(५) और (६) श्लोकसंख्या १८२१ और १९९४ के श्लोक वे ही हैं जो शार्ङ्गधरपद्धति में ऊपर ४ और ३ की संख्या में लिखे जा चुके हैं।

इसी प्रकार अन्य सूक्तिसंग्रहों में निम्नलिखित श्लोक भास के नाम से पाए जाते हैं—

(१) दग्धे मनोभवतरौ धाला कुचकुम्भसंभृतैरमृतैः ।
त्रिवलीकृतालवाला जाता रोमावली वल्ली ॥

(२) पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षणीयं
ग्राह्यः स्वभावललितो विकटश्च वेषः ।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान्स पिनाकपाणिः ॥

इस (दूसरे) श्लोक को यशस्तिलक के रचयिता सोमदेव ने भास का बताया है; परंतु वास्तव में यह महेन्द्रविक्रम के रचे हुए मत्तविलास प्रहसन का है।

(३) विरहवनिता वक्त्रौपम्यं बिभर्ति निशापतिः
र्गलितविभवस्याज्ञेवाद्यद्युतिर्मसृणा रवेः ।
अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपा-
दसरलजनाश्लेष क्रूरस्तुषारसमीरणः ॥

(४) यदपि विबुधैः सिन्धोरन्तः कथंचिदुपार्जितं
तदपि सकलं चारुस्त्रीणां मुखेषु विलोक्यते ।
सुरसुमनसः श्वासामोदे शशी च कपोलयो-
रमृतमधरे तिर्यग्भूते विषं च विलोचने ॥

यह श्लोक कवीन्द्र-वचन-समुच्चय में (सं० १९३) लक्ष्मीधर का, सूक्तिमुक्तावलि में भोजदेव का और सदुक्तिकर्णामृत में भास का बताया गया है।

(५) प्रत्यासन्नविवाहमंगलविधौ देवार्चनव्यग्रया
दृष्ट्वाग्रे परिणेतुरेव लिखितां गंगाधरस्याकृतिम् ।
उन्मादस्मितरोषलज्जितधिया गौर्या कथंचिच्चिरा-
द्वद्धस्त्रीवचनात्प्रिये विनिहितः पुष्पाञ्जलिः पातु वः ॥

यह श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति में भी है (सं० १०२) परंतु उसमें रचयिता का नाम नहीं दिया है। यह किसी नाटक का नांदी श्लोक ज्ञात होता है।

(२) दुःखार्ते मयि दुःखिता भवति या हृष्टे प्रहृष्टा तथा
दीने दैन्यमुपैति रोषपरुषे पथ्यं वचो भाषते।
कालं वेत्ति कथाः करोति निपुणा मत्संस्तवे रज्यति
भार्या मन्त्रिवरः सखा परिजनः सैका बहुत्वं गता॥

सं० १३५३।

इस श्लोक में निम्नलिखित श्लोक का सादृश्य ज्ञात होता है—

कार्य्येषु मंत्री करणेषु दासी
धर्म्मेषु पत्नी क्षमया धरित्री।
स्नेहेषु माता शयनेषु रम्भा
रंगे सखी लक्ष्मण! सा प्रिया मे॥

आगे अविमारक के सार में दिया हुआ 'गोष्ठीपुदास्य' से प्रारंभ होनेवाला श्लोक भी इसी शैली का है।

(३) कठिनहृदये मुञ्च क्रोधं सुखप्रतिघातकं
लिखति दिवसं यातं यातं यमः किल मानिनि।
वयसि तरुणे नैतद्युक्तं चले च समागमे
भवति कलहो यावत्तावद्वरं सुभगे रतम्॥ सं० १६१८।

(४) कृतकृतकैर्मायासस्यैस्त्वयास्म्यतिवञ्चिता
निभृतनिभृतैः कार्यालापैर्मयाप्युपलक्षितम्।
भवतु विदितं नेष्टाहं ते वृथा परिखिद्यसे
शठमसहना त्वं निःस्नेहः समेन समं गतम्॥ सं० १६२८।

यह श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति में भी है (सं० ३५६०) परंतु वहाँ "कस्यापि" (किसी का है) ऐसा लिखा हुआ है।

(५) और (६) श्लोकसंख्या १८२१ और १६६४ ये श्लोक वे ही हैं जो शार्ङ्गधरपद्धति में ऊपर ४ और ३ की संख्या में लिखे जा चुके हैं।

इसी प्रकार अन्य सूक्तिसंग्रहों में निम्नलिखित श्लोक भास के नाम से बताए जाते हैं—

(१) दग्धे मनोभवतरौ बाला कुचकुम्भसंभृतैरमृतैः ।
त्रिवलीकृतालवाला जाता रोमावली वल्ली ॥

(२) पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षणीयं
ग्राह्यः स्वभावललितो विकटश्च वेषः ।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान्स पिनाकपाणिः ॥

इस (दूसरे) श्लोक को यशस्तिलक के रचयिता सोमदेव ने भास का बताया है; परंतु वास्तव में यह महेन्द्रविक्रम के रचे हुए मत्त-विलास प्रहसन का है।

(३) विरहवनिता वक्त्रौपम्यं बिभर्ति निशापति
र्गलितविभवस्याज्ञेवाद्यद्युतिर्मसृणा रवेः ।
अभिनववधूरोषस्वादुः करीष्यतनूनपा-
दसरलजनाश्लेष क्रूरस्तुषारसमीरणः ॥

(४) यदपि विबुधैः सिन्धोरन्तः कथंचिदुपार्जितं
तदपि सकलं चारुस्त्रीणां मुखेषु विलोक्यते ।
सुरसुमनसः श्वासामोदे शशी च कपोलयो-
रमृतमधरे तिर्यग्भूते विषं च विलोचने ॥

यह श्लोक कवीन्द्र-वचन-समुच्चय में (सं० १६३) लक्ष्मीधर का, सूक्तिमुक्तावलि में भोजदेव का और सदुक्तिकर्णामृत में भास का बताया गया है।

(५) प्रत्यासन्नविवाहमंगलविधौ देवार्चनव्यग्रया
दृष्ट्वाग्रे परिखेतुरेव लिखितां गंगाधरस्याकृतिम् ।
उन्मादस्मितरोषलज्जितधिया गौर्या कथंचिद्गिरा-
द्धस्त्रीवचनात्प्रिये विनिहितः पुष्पाञ्जलिः पातु वः ॥

यह श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति में भी है (सं० १०२) परंतु उसमें रचयिता का नाम नहीं दिया है। यह किसी नाटक का नांदी श्लोक ज्ञात होता है।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥

कवि अंधकार का वर्णन करता है कि यह मानों शरीर को ढाँप डाल रहा है, आकाश से मानों काजल बरस रहा है, असत् (दुष्ट) पुरुष की सेवा के समान दृष्टि भी निष्फल हो गई है।

यह श्लोक चिरकाल से लोकप्रसिद्ध है और काव्यप्रकाशादि अनेक ग्रंथों में उद्धृत किया हुआ मिलता है। ऐसा देखा गया है कि जो मनुष्य जिन विचारों का स्वतंत्र रूप से उत्पादक होता है, वह उनको वारंवार लिखता है। भास का इस श्लोक को दो बार लिखना भी उसीका रचयिता होना बताता है। इसी प्रकार इस लेख में आगे लिखा हुआ 'वक्षः प्रसारय' से प्रारंभ होनेवाला श्लोक प्रतिमा नाटक में दो बार आया है; पहली बार चतुर्थ अंक में और दूसरी बार सप्तम अंक में।

यह अनुमान करना कि भास ने इन १३ नाटकों के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों की भी रचना की, निराधार नहीं है।

रामायण का आश्रय लेकर संकलित किए हुए भास के दो नाटक मिले हैं। एक अभिषेक और दूसरा प्रतिमा। पहले में किष्किंधा, सुंदर और युद्धकांड की और दूसरे में अयोध्या और अरण्यकांड की आश्रित कथावस्तु है। यह अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि पूर्ण रामचरित को नाटकरूप में ग्रथित करने के इच्छुक इस कवि ने बालकांड के आश्रय पर भी अवश्य कोई नाटक रचा होगा। इस अनुमान का आधार एक और भी है; और वह यह कि साहित्य-दर्पण के छठे परिच्छेद की ८५ वीं कारिका के विवरण में निम्नलिखित श्लोक "बालचरित" ग्रंथ से उद्धृत किया हुआ लिखा है—

उत्साहातिशयं वत्स ! तव बाल्यं च पश्यतः ।
ममहर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः ॥

आशय—हे प्यारे ! एक ओर तुम्हारे उत्साह की अतिशयता

और दूसरी ओर तुम्हारे निरे बचपन को निहार मेरा मन एक दम हर्ष और विषाद से आक्रांत हो जाता है।

यह निःसंदेह रामबालचरित का श्लोक है। इसी लिये व्याख्याता ने "*दाशरथिं प्रति भार्गवस्योक्तिरियम्*" यह राम के प्रति परशुराम की उक्ति है, ऐसा लिखा है। अभी जो भास का बालचरित मिला है, वह कृष्ण का बालचरित है; अतः उसमें इस श्लोक की अविद्यमानता युक्त ही है। संभव है कि यह भास के बालकांड संबंधी बालचरित का श्लोक हो।

ये जो नाटक मिले हैं, उनमें से दो अपूर्ण भी हैं। चारुदत्त में न तो आदि में सूत्रधार का मंगलाचरण का श्लोक लिखा है और न अंत में भरतवाक्य। इस नाटक की जो दो प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें से एक के अंत में "अवसितं चारुदत्तम्" ऐसा लिखा हुआ है।

दूसरा "कर्णभार" नाटक एक ही अंक का है। कर्णभार संज्ञा से यह प्रतीत होता है कि इस नाटक में कर्ण के सेनापति-पदवी के निर्वाह का वर्णन होना चाहिए, परंतु वह नहीं है। बहुत संभव है कि इस नाटक के आगे के अंक लोप हों।

महाभारत के विषय को लेकर लिखे हुए भास के निम्नलिखित रूपक प्राप्त हुए हैं- मध्यमव्यायोग, पञ्चरात्र, दूतवाक्य, कर्णभार, दूतघटोत्कच और ऊरुभङ्ग। इनकी कथावस्तु का आधार क्रमशः वनपर्व, विराटपर्व, उद्योगपर्व, कर्णपर्व, शल्यपर्वांतर्गत गदापर्व कहा जा सकता है। संभव है कि महाभारत के शेष आदिपर्व, सभापर्व, भीष्मपर्व, द्रोणपर्व आदि पर्वों पर भी इस महाकवि ने नाटकों की रचना की हो।

वस्तुतः जैसे वाल्मीकि और व्यास श्रव्यकाव्य के जन्मदाता हुए, वैसे ही भास दृश्यकाव्य का जन्मदाता हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। परंतु इसने श्रव्यकाव्य की भी रचना की, इस विषय में एक प्रमाण मिलता है; और वह यह कि पृथ्वीराजविजय महाकाव्य में निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

सत्काव्यसंहारविधौ खलानां दीप्तानि वह्नेरपि मानसानि।
भासस्य काव्यं खलु विष्णुधर्मान्सोऽप्याननात् पारतवन्मुमोच ॥
(सर्ग १, श्लोक ७)

इस पर टीका करते हुए जोनराज ने लिखा है कि अग्नि ने भास मुनि के विष्णुधर्मा नाम के काव्य को नहीं जलाया। इस विषय में नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ. १०० १०१ टिप्पणी में स्वर्गीय पंडित श्रीचंद्रधरजी गुलेरी का लेख द्रष्टव्य है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि जोनराज के समय तक अर्थात् सन् १४१२ तक एक साहित्यिक प्रवाद था कि भास और व्यास समकालीन थे। उनकी काव्य-विषयक स्पर्धा की परीक्षा के लिये भास का ग्रंथ विष्णुधर्म व्यास के किसी काव्य के साथ अग्नि में डाला गया, परंतु अग्नि ने उसे उत्कृष्ट समझकर नहीं जलाया।

इन नाटकों के विषय में इतना परिचय प्राप्त करने के अनंतर यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि कविताकामिनी के 'हास' की उपमा धारण करनेवाले भास ने इस भारतभूमि को कब समलंकृत किया? इस विषय का ठीक निर्णय करना सुकर नहीं। जब कभी हम भूतकाल के संबंध में यह प्रश्न करते हैं कि भारत में अमुक बात कब हुई, तो प्रायः यही प्रतिध्वनि आती है "कब हुई"? अंत में हताश हो हमको अंधपंगु न्याय का अवलंब लेना पड़ता है। प्रस्तुत विषय में भी एक मात्र उपाय यही है कि हम उन पुरुषों का पता लगावें जिन्होंने अपने लेखों में भास का निर्देश किया है। इनमें से जयदेव का ठीक समय अब तक ज्ञात नहीं हुआ, परंतु राजशेखर और बाण का, जो क्रमशः नवीं और सातवीं शताब्दि में हुए, नामोल्लेख इस लेख में कर चुके हैं। अमरकोश टीका-सर्वस्व में सर्वानंद ने, जो बारहवीं शताब्दि में हुआ और भरतनाट्य-वेदवृत्ति में आचार्य अभिनवपाद गुप्त ने, जो १० वीं शताब्दि में विद्यमान थे। "स्वप्नवासवदत्ता" ग्रंथ का नाम लिया है। यों और भी अनेक

पिछले कवित्त हैं जो भास की कृति अथवा कीर्ति को हमारे कर्णों तक पहुँचाते हैं। परंतु स्वयं कविकुलगुरु कालिदास अपनी लेखिनी से "मालविकाग्निमित्र" में लिखते हैं कि—प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः ? इस लेख से भास के कालिदास के पूर्व होने और उस समय उसके सुप्रतिष्ठित होने के विषय में अन्य प्रमाण अनपेक्षित हैं।

इतना ही नहीं किंतु काव्यालंकार में भामह ने भी, जो प्राचीन काल में हुआ, न्याय-विरोध का निरूपण करते हुए एक प्रसंग उठाया है जो प्रतिज्ञायौगन्धरायण ही से लिया सिद्ध होता है। शूद्रक ने, जिसका कोई कोई विद्वान् कालिदास से पूर्व होना मानते हैं, भास के नाटक चारुदत्त को बढ़ाकर ही मृच्छकटिक नाटक निर्माण किया। कालिदास ने भी शकुंतला में भास के भाव और

---

* शार्ङ्गधरपद्धति में "विशिष्टकविप्रशंसा" प्रकरण में निम्नलिखित श्लोक दिया हुआ है—

> भासो रामिलसोमिलौ वररुचिः श्रीसाहसाङ्कः कवि-
> र्मेण्ठो भारविकालिदासतरलाः स्कन्धः सुबन्धुश्च यः ।
> दण्डी बाणदिवाकरौ गणपतिः कान्तश्च रत्नाकरः
> सिद्धा यस्य सरस्वती भगवती के तस्य सर्वेऽपि ते ॥ सं० १८८ ।

मेण्ठ और कांत की जगह माघ और काष्ट भी पाठ मिलता है। गउडवहो, (गौडवध) पृष्ठ २११, श्लोक ८०० में वाक्पतिराज ने भी भास का नाम लिया है—भासम्मि जलणमित्ते कन्तीदेवे अ जस्स रहुआरे । सोबन्धवे अबन्धम्मि हारियन्दे अ आणन्दो । टीका में—भासः ज्वलनमित्रः कुन्तीदेवः इति कथय । रघुकारः कालिदासः । सौबन्धवो बन्धः सुबन्धुरचितवासवदत्ता नाम प्रबन्धः हरिचन्द्र हरिचन्द्रेणकृत प्रबन्धः । भास की "ज्वलनमित्र" पदवी से यही बतलाते हैं कि इसने पञ्चरात्र में अग्नि लग जाने का दृश्य रक्खा है और अपने नाटकों में अनेक भावों से अग्नि शब्द का प्रयोग किया है।

वाक्य-पंक्तियों को लिया। ये बातें पंडित गणपति जी ने इस नाटक-चक्र की भूमिका में, जो स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिमानाटक के साथ बड़े विस्तार के साथ अँग्रेजी और संस्कृत में छपी है, लिखी हैं, जो उन्हीं लोगों को आनंददायक हो सकती हैं, जो संस्कृत में उन ग्रंथों को पढ़ चुके हैं।

भिन्न भिन्न कवियों के काव्यों में से अवतरण उद्धृत करते हुए अब तक यह दिखाया गया है कि भास का समय कालिदास से भी पूर्व अर्थात् अब से दो सहस्र वर्ष पूर्व तक होना सिद्ध होता है। अब दो अवतरण और लिखकर इस विषय को समाप्त करेंगे। भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण में निम्नलिखित श्लोक मिलता है—

काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद्
भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति।
सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां
मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति॥ (प्रतिज्ञा, १-१८)

भावार्थ—मथन करने से मनुष्य काष्ठ से अग्नि उत्पन्न कर लेता है, खोदे जाते हुए भूमि भी जल देती है। उत्साही पुरुषों के लिये इस संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। यदि यह कहो कि संसार में हम अनेक बार उत्साहपूर्वक किए जानेवाले कामों को भी असिद्ध हुए देखते हैं तो इसका उत्तर यह है कि "मार्गारब्धासर्वयत्नाः फलन्ति" मार्ग (ढंग) से प्रारंभ किए हुए सब यत्न फलते हैं। (क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः योगदर्शन, ३, १५)

यह श्लोक रूपांतर से अश्वघोष के बुद्धचरित में मिलता है:—

काष्ठं हि मथ्नन् लभते हुताशं
भूमिं खनन् विन्दति चापितोयम्।
निर्बंधिनः किञ्च न नास्य साध्यं
न्यायेन युक्तं च कृतं च सर्वम्॥ २३। ६०॥

महामहोपाध्याय पंडित गणपति जी का यह कहना है कि अश्वघोष ने, जो ईसा के पूर्व पहली शताब्दी (ई० स० की पहली

देखने से यह सहसा प्रतीत नहीं होगा कि किसने किसकी नकल की:-

वीर्य्यं परं कार्य्यकृतौ हि मूलं, वीर्य्यादृते काचन नास्ति सिद्धिः ।
उदेति वीर्य्यादिह सर्व सम्पद्वीर्य्येनाचेत्सकलश्च पाप्मा ॥१६।६४॥

नयं श्रुत्वाशक्तो यदयमभिवृद्धिं न लभते
परं धर्म्मं ज्ञात्वा यदुपरि निवासं न लभते ।
गृहं त्यक्त्वा मुक्तौ यदयमुपशान्ति न लभते
निमित्तं कौसीद्यं भवति पुरुषस्यान्तर रिपुः ॥ १६ । ६६ ॥

अनिक्षिप्तोत्साहो यदि खनति गां वारि लभते
प्रसक्तं व्यामथ्नन् ज्वलनमरणिभ्यां जनयति ।
प्रयुक्ता योगे तु ध्रुवमुपलभन्ते श्रमफलं
द्रुतं नित्यं यान्त्यो गिरिमपि हि भिन्दन्ति सरितः ॥१६।६७॥

कृष्ट्वा गां परिपाल्य च श्रमशतैरश्नाति सस्यश्रियं
यत्नेन प्रविगाह्य सागरजलं रत्नश्रिया क्रीडति ।
शत्रूणामवधूय वीर्य्यमिषुभिर्भुङ्क्ते नरेन्द्रः श्रियं
तद्वीर्य्यं कुरु शान्तये विनियतं वीर्य्यं हि सर्वर्द्धये ॥ १६।६८ ॥

अश्वघोष के अतिरिक्त राज्यतन्त्राचार्य कौटिल्य ने, जो ईसा से पूर्व चौथी शताब्दि में हुए, अपने अर्थ शास्त्र में दो श्लोक लिखे हैं—

यान्यज्ञसङ्घैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणः पात्रचयश्च यान्ति ।
क्षणेन तानप्यतियान्ति शूराः प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः ॥

शांति नहीं प्राप्त करता, परम धर्म को जानकर भी स्वर्ग प्राप्त नहीं करता तो इसमें उसका कारण उसकी न्यूनता ही है। वरना लगातार उत्साह से खोदे जाएँ त मनुष्य पृथ्वी से जल निकाल लेता है, अरणी को मथन करने से आग निकाल लेता है। अध्यवसायी को श्रम का फल मिलता ही है। नित्य वेग से बहती हुई नदियाँ पहाड़ को भी तोड डालती हैं। मनुष्य खेत जोत नाना प्रकार के श्रम से इनका परिपालन कर अन्न के वैभव को भोगता है। यत्नपूर्वक सागर के जल में गोता लगा रत्नों की विभूति से विहार करता है। शत्रुओं को बाणों से पराजित कर राज्यलक्ष्मी प्राप्त करता है। इसलिये तुम भी शांति के लिये नियमपूर्वक पुरुषार्थ करो। सच समझ सब ऋद्धि सिद्धि का मूल पुरुषार्थ ही है।

एक कौटिल्य का ही पूर्ण रूप से प्राप्त है। उसमें भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणपदंत, वातव्याधि, बाहुदंतीपुत्र और बृहस्पति के नाम मिलते हैं। भास के नाम-निर्देश से यह स्पष्ट है कि जिनको आज हम अति प्राचीन कह रहे हैं, वे उसके समय में थे ही नहीं; और यदि कदाचित् कोई था भी तो उसके लिये आधुनिक था।

इन नाटकों में आर्ष प्रयोग मिलने के आधार पर महामहोपाध्याय पंडित गणपति शास्त्री ने अनुमान किया है कि कदाचित् भास पाणिनि मुनि के, जो ईसा से छः सात सौ वर्ष से भी अधिक पूर्व हुए माने जाते हैं, पूर्व हुए हों।

यहाँ तक भास को कितने पीछे तक ढकेल सकते हैं, इस विषय का वर्णन किया गया। अब इसके विपरीत जो वाद उपस्थित किए गए हैं, उनका वर्णन करते हैं। ऐसे वादियों में एक बारनेट साहब (Barnett) हैं जिनका मत है कि ये नाटक सातवीं शताब्दि में लिखे गए और इनका लिखनेवाला अनिश्चित है। आपके आक्षेप की आधारशिला इन नाटकों के भरतवाक्य में आया हुआ 'राजसिंह" शब्द है। यह नाम इन १३ नाटकों में से ७ में आया है। अतः वे इसको सन् ६७५ ई० में विद्यमान राजसिंह से अन्य व्यक्ति नहीं मानते। परंतु यह मत अपरिहार्य नहीं है। बात तो यह है कि यह "सिंह" शब्द व्याघ्र, पुङ्गव, शार्दूल, वृषभ की नाईं 'उत्तम' या श्रेष्ठ का वाचक है। राजाओं में श्रेष्ठ यही राजसिंह से तात्पर्य है, न कि राजसिंह नाम के व्यक्ति विशेष से। यदि ग्रंथकार को राजसिंह नाम के राजा की ही प्रशंसा करनी अभीष्ट होती तो वह शेष छः नाटकों में राजा और नरपति मात्र शब्द लिखकर कभी संतुष्ट नहीं रहता। अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि भास ने किसी राजा का नाम नहीं लिखा, किन्तु ऐसे उत्तम पद का प्रयोग किया जो सब काल में और सब देशों में निर्दोष कहा जा सके। उक्त महाशय का अपर पक्ष यह है कि इनका रचयिता कालिदास के पूर्व होनेवाला भास नहीं है: और इस तर्क में वे यह हेतु अग्रसर करते हैं कि इन

नाटकों का प्रारंभ क्रम सातवीं शताब्दी में रचे हुए "मत्तविलास" से साम्य रखता है। परंतु इसका भी निराकरण हो जाता है। नवीं शताब्दी में रची हुई राजशेखर की कर्पूर मंजरी और उससे भी पीछे बने हुए पार्वतीपरिणय का भी आरंभ क्रम इनसे मिलता-जुलता है। इसमें तो आंतरिक रहस्य इतना ही है कि पूर्वकाल में सूत्रधार, स्थापक और पारिपार्श्वक ये तीन पुरुष रंगभूमि में अभिनय के प्रबंध में नियुक्त रहते थे, जिनमें से पहला नान्दी गान करता था, दूसरा देवस्तुति कर अभिनय के सज्जीकरण की सूचना देता था और तीसरा जो स्थापक का सहछंदानुवर्त्ती होता था, काव्यगुण समृद्धि को बताता था। इस पूर्व प्रचलित रीति के अपेक्षातिरिक्त भाग को त्याग देने का संशोधन करनेवाला भास हुआ और इसी विशेषता का वर्णन बाण ने किया है। फिर हुआ यह कि जहाँ पर भास ने पहली स्तुति अर्थात् सूत्रधार की नान्दी को उड़ा दूसरी स्थापक की स्तुति रक्खी, वहाँ कालिदास ने सूत्रधार की स्तुति की रक्षा कर स्थापक की स्तुति का बहिष्कार किया और शनैः शनैः स्थापक तो अभिनय से उड़ ही गया। महेन्द्रविक्रम ने प्राचीन शैली का अनुकरण करना चाहा, परंतु ऐसा करते हुए भी कवि और काव्य के नाम निर्देश करने की जो प्रथा चल पड़ी थी, उसके अधीन ही उसको रहना पड़ा। अन्य नाटककारों ने भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के नियमों का पालन किया है; परंतु भास के नाटकों में इन नियमों की उच्छृंखलता की हुई प्रतीत होती है। इसका एक मात्र कारण भास का इस शास्त्र के रचनाकाल के पूर्ववर्त्ती होना है।

दूसरे महाशय लेसनी (Lesney) का मत है कि ये नाटक कालिदास के नाटकों से तो पूर्व रचे हुए हैं, परंतु अश्वघोष के काल से पीछे के हैं। यह सिद्धांत भी प्राकृत भाषा की परीक्षा से स्थिर नहीं होता और इसका निराकरण श्रीयुत् ए. बनर्जी शास्त्री, बी. ए.; ने अपने लेख में, जो रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जुलाई सन् १९२१ ई० के जर्नल में छपा है, भली भाँति कर दिया है।

अब तक जितने दृश्यकाव्य हस्तगत हुए हैं, उनमें सबसे पुराने महाकवि भास के नाटक हैं। परंतु प्राचीनता के अतिरिक्त इनमें और भी अनेक विशेषताएँ हैं जिनका यत्किंचित् वर्णन करना आवश्यक है। ये सब (Stage play) रंगशाला में खेले जानेवाले रूपक हैं। इनमें से एक दो को छोड़कर सब ऐसे हैं जिनको सब अवस्था के तथा सब वर्ण और सब आश्रम के स्त्री पुरुष निःसंकोच पढ़ सकते हैं। जो दो एक शृंगार रस से युक्त हैं, उनमें भी शृंगार की ऐसी मात्रा नहीं है जो आक्षेप के योग्य हो। इन नाटकों का अध्ययन पाठकों के हृदय में स्वावलंब तथा कार्य क्षमता का संचार करते हुए, शिष्टाचार सिखाते हुए, पूर्व इतिहास की झलक और अपनी जाति और देश के गौरव को स्थापित किए बिना नहीं रहता। इन रूपकों की रचना में कृत्रिम लालित्य कहीं नहीं दिखाई देता, वर्णन सर्वत्र स्वाभाविक है, गद्य-रचना का कौशल पद्य-रचना से भी अधिक गौरवास्पद है। नाटक-वस्तु का संविधान सर्वत्र यथाक्रम है और स्थान स्थान पर ऐसे चित्ताकर्षक परिहास-शील वाक्य खंड जुड़े हैं जिनके हृदयंगम होने पर हर कोई आतुरता के साथ कहेगा कि निःसंदेह भास कविता-कामिनी का हास ही है।

अब हम इन रूपकों में क्या वर्णन है, यह बताने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक रूपक में रोचक बातें तो इतनी हैं कि यदि उन सबका समावेश करें तो एक बड़ी पुस्तक बन जाय। यह लेख एक प्रबंध-मात्र ही है; अतएव हम अधिक नहीं लिख सकते, प्रत्येक रूपक का यथा सामर्थ्य संक्षिप्त सार ही पाठकों की भेंट करते हैं।

बालचरित

इस नाटक के प्रथम अंक में यह दिखाया गया है कि नारद वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए हरि का दर्शन करने पधारते हैं। प्रसूता देवकी बालक के जनमते समय प्रकट हुए निमित्तों से उसके अवश्य होनहार होने की प्रत्याशा करती है, परंतु कंस के दुराचार को स्मरण कर हताश सी हो जाती है। वसुदेव यह विचार कर कि

इस समय रात्रि में मधुरा (मथुरा) में सब लोग सोए हुए ही हैं, देवकी से बालक को लेकर नगर के बाहर आ जाते हैं और यमुना को भी पार कर दूसरे किनारे पहुँच एक बड़ के वृक्ष के नीचे खड़े हो जाते हैं। इतने ही में नंदगोप यशोदा की उत्पन्न हुई तत्क्षण मरी कन्या को यह समझकर कि इस दुर्घटना का उद्घाटन प्रातःकाल को गोपजनों से किए जानेवाले इंद्रयश नाम के उत्सव को फीका कर देगा, आप ही चुपचाप लेकर अपने ग्राम के बाहर चले आते हैं और उनके सकरुण शब्द को सुन वसुदेव उन्हें पहचान जाते हैं। वसुदेव अपने मित्र से सबसे पहले गौओं की, पीछे परिजन की कुशल पूछते हैं। तदनंतर एक दूसरे की व्यथा का वर्णन होता है। अंत में उधर नंदगोप कृष्ण को संरक्षार्थ अपने साथ ले जाते हैं और इधर वसुदेव उस कन्या को, जिसमें फिर प्राणों का संचार प्रारंभ हो जाता है, अपने साथ मधुरा ले आते हैं। तदनंतर गरुड़, चक्र, शार्ङ्ग (धनुष), कौमोदकी गदा, शंख और नंदक तलवार सब दैवी रूप से कृष्ण के समुपस्थित होते हैं।

दूसरे अंक में बताया है कि मधूक ऋषि का शाप वज्रबाहु नाम बनकर अलक्ष्मी, खलती, कालरात्री, महानिद्रा को साथ में लिए हुए कंस के महल में अपना निवासस्थान बनाता है और उसकी राजश्री को वहाँ से भगा देता है। कंस को स्वप्न में यह सब साक्षात् होता है और वह सांवत्सरिक (ज्योतिषी) और पुरोहित से इस विषय का भावी फल पुछवाता है। वे उत्तर देते हैं कि कारणविशेष से किसी देवता का इस लोक में जन्म होना सिद्ध होता है। कंस तुरंत वसुदेव को बुलवाता है और वे छः पुत्रों के नाश से विदीर्ण-हृदय हुए बड़े भयभीत होकर आते हैं। राजा उनसे देवकी के प्रसव का हाल पूछता है और वे पुत्र के पक्षपात से कन्या के होने की सूचना देते हैं जिसे वह आग्रहपूर्वक लेकर शिला पर दे मारता है। परंतु वह रूप बदलकर अंतर्लीन हो जाती है।

तीसरे अंक के प्रवेशक में पूतना, शकट, यमला, अर्जुन, प्रलंब,

धेनुक और केशी नाम के दानवों के वध की सूचना दी गई है। तदनंतर वृंदावन में सब गोपजन गाजे बाजे के साथ हल्लीसक नाम का खेल खेलते हैं और कृष्ण एवं बलराम भी उसमें सम्मिलित होते हैं। इतने में ही अरिष्टर्षभ नाम का एक दानव आ जाता है और वह अपनी घोर गर्जना से सबको संत्रस्त कर देता है। परंतु इतने पर भी दामोदर को नितांत निर्विकार देख कहता है कि यह बालक बलवान् है, जो मुझ जैसे उग्ररूप, महानाद, महाबली को देखकर भी न डरा और न विस्मित हुआ। दामोदर यह सुन कहते हैं कि "भय" क्या है, जिसका नाम मैं आपसे सुन रहा हूँ। वह उत्तर देता है कि अभी तुम बालक हो जिससे भय को नहीं जानते। कृष्ण कहते हैं, क्या बालक कहकर मुझको प्रधर्षित करता है? क्या साँप के बच्चे का काटा मरता नहीं? क्या बालक स्कंद ने क्रौंच को नहीं मार डाला था? इस पर वह कहता है कि अच्छा, यदि तुम अकड़ रखते हो तो आयुध ग्रहण करो। दामोदर कहते हैं—क्या खूब! मेरे तो बाहु ही आयुध हैं। धातु के आयुध तो तुम जैसे दुर्बलों के लिये हैं। देखो इन सहज भुजदंडों से तुम्हें नहीं मारा तो मेरा नाम दामोदर नहीं। यों युद्ध प्रारंभ हो जाता है और अंत में कृष्ण उसे मार डालते हैं। तदनंतर दामक नाम का एक गोपाल यह सूचना देता है कि बलराम यमुनाह्रद में कालिय नाग का होना सुनकर उस ओर गए हैं। यह सुनकर कृष्ण भी वहीं चल देते हैं।

चौथे अंक में कालियदमन दिखाया है। इस कार्य के समाप्त होते ही एक भट दामोदर से आकर कहता है कि आपको कंसराज ने मधुरा (मथुरा) में धनुर्मह नाम का महोत्सव देखने के लिये सपरिवार बुलाया है और वे निमंत्रण को स्वीकार करते हैं।

पाँचवें अंक में यह बताया है कि कंस भुवसेन नामक भट से पूछता है कि नंदगोप का पुत्र आया या नहीं। वह उत्तर देता है कि वह उत्पलपीड़ नाम के गंधहस्ती को मार, मदनिका नाम की कुब्जा का कुब्ज सुधार, धनुःशाला के रक्षक सिंहबल के प्राण हर

क्रुद्ध हुआ उपस्थान की ओर रवाना हुआ है। राजा (कंस) तुरंत चाणूर और मुष्टिक को वहाँ भेजने के लिये आज्ञा देता है और वे दोनों कृष्ण और बलराम द्वारा मारे जाते हैं। तदनंतर कृष्ण महलों पर चढ़ कंस को भी पकड़ नीचे गिराकर मार डालते हैं और उग्रसेन को बंधन से मुक्त कर राजा बनाते हैं। देवता, अप्सरा और गंधर्वों को साथ लिए नारद के दर्शन करने आते हैं और कंस के वध की प्रशंसा कर अपने स्थान को चले जाते हैं।

मध्यमव्यायोग

यह नाटक एक ही अंक का है और इसकी वस्तु-रचना ऐतरेय ब्राह्मण की सुप्रसिद्ध शुनःशेप की कथा से मिलती हुई है। कुरुजांगल देश के यूपग्राम का रहनेवाला माठरगोत्री कल्पशाखाध्वर्यु (यज्ञविधान में निपुण) केशवदास नाम का एक ब्राह्मण अपनी स्त्री तथा तीन पुत्रों सहित कौशिकगोत्री यज्ञबंधु नामक अपने मामा के यहाँ, जो उत्तर दिशा में उद्यामक ग्राम में रहता है, उसके पुत्र के उपनयन-संस्कार में सम्मिलित होने को जाता है। इसी समय पर भीमसेन की स्त्री हिडिम्बा अपने पुत्र घटोत्कच को अपने आहार के लिये एक पुरुष ढूँढ़ लाने का आदेश देती है। बिखरे हुए पीले बाल, काला शरीर, लंबी नाक तथा चमकीले नेत्रवाले तरुण घटोत्कच को देखकर वह भयभीत ब्राह्मण ज्यों ही सकुटुंब जल्दी जल्दी पैर उठाने लगता है, त्यों ही घटोत्कच मन में यह जानते हुए भी कि ब्राह्मण सदा सर्वत्र पूज्यतम है, अपनी माता की आज्ञा के कारण निःशंक हो बोलता है—"अरे ब्राह्मण! ठहर, ठहर, मेरे भय के मारे शरीर और कुटुंब की रक्षा करने में असमर्थ तू, गरुड़ के सामने दीन सर्प के समान क्यों भागा जा रहा है?" यह सुन वह अपने बालकों को जैसे तैसे धैर्य देते हुए अपनी स्त्री से कहता है कि देखो, तुम्हें याद होगा कि श्रीमान् जलक्लिन्न मुनि ने कहा था कि यह वन राक्षसों के पंजे से मुक्त नहीं है; इसलिए सचेत होकर जाना। सो वही हुआ। पति को यों उत्साह से पतित

देख पत्नी कहती है कि आप को धीरज धर रक्षा का कुछ उपाय करना चाहिए। कुछ न हो सके तो सहायता के लिये पुकार ही करें। यह सुन ज्येष्ठ पुत्र कहता है कि किसको पुकारें? यह तो सुनसान वन है; बड़े बड़े वृक्षों के मारे दिशाएँ भी बे-पता हो रही हैं। वास्तव में यह स्थान तो संसार के निर्मोही मुनियों के निवास के योग्य है। यह सुनकर ब्राह्मण के ध्यान में आता है कि यहीं कहीं पांडवों का आश्रम होगा। वे लोग युद्धप्रिय, शरणागतवत्सल, दीनों के पक्षपाती, साहसी और ऐसी भयंकर आकृति और चेष्टावालों को सीधा करने में समर्थ हैं। इस पर बड़ा पुत्र कहता है कि पांडवों के आश्रम से आए हुए एक ब्राह्मण के मुख से सुना है कि वे लोग शतकुंभ नामक यज्ञ देखने के लिये महर्षि धौम्य के आश्रम को गए हुए हैं। यद्यपि उनमें से एक "मध्यम" अर्थात् भीमसेन आश्रम पर ही रह गया है, परंतु हमारे दुर्भाग्यवश वह भी इस समय व्यायाम करने को वहाँ से अन्यत्र गया हुआ है। यों सब तरह से निराश हुआ ब्राह्मण घटोत्कच से ही बातचीत करने लगता है जो उससे कहता है कि मेरी माता ने उपवास की पारणा करने के लिये वन में से कोई मनुष्य मँगवाया है। आप मुझको मिल ही गए। अतः आप अपने एक पुत्र को मेरे हवाले कर, अपने, अपनी स्त्री तथा दो पुत्रों के प्राण बचा सकते हैं। ये शब्द उसको अत्यंत व्याकुल कर देते हैं, परंतु यह समझकर कि वह एक के न पाने से सब का नाश कर देगा, वह वृद्ध अपने आपको उसके समर्पण करता है, परंतु उसकी स्त्री उसे ऐसा करने से रोकती हुई अपने आपको समर्पण करती है। घटोत्कच यह कहते हुए कि तुम बुड्ढे हो और स्त्री मेरी माता को चाहिए नहीं, दोनों का निषेध कर देता है। यह सुन बड़ा पुत्र नम्रतापूर्वक अपने आपको समर्पण करता है, परंतु उसका दूसरा भाई यह कहते हुए कि ज्येष्ठ पुत्र कुल में श्रेष्ठ और पितरों का प्यारा हुआ करता है, उसका प्रतिषेध करता है और स्वयं कुटुंब की रक्षा के निमित्त बलिदान के लिये तैयार होता है।

उसका छोटा भाई यह कहकर कि आप मुझसे ज्येष्ठ हैं, अतः पिता के समान हैं—उसे रोक अपने आपको बलिदान देना चाहता है। ज्येष्ठ पुत्र फिर अनुरोध करता है और कहता है कि ज्येष्ठ पुत्र का यह मुख्य धर्म है कि वह पिता की आपत्ति दूर करे; अतः मैं ही इस अवसर पर प्राण समर्पण करूँगा। इस पर पिता यह कहते हुए कि ज्येष्ठ इष्टतम है, अतः मैं तुझे त्याग नहीं सकता, उसे पकड़ लेता है और उसकी स्त्री भी यह कहती हुई कि जैसे आपको सबसे बड़ा प्यारा है, वैसे मुझे सबसे छोटा, छोटे को पकड़ लेती है। निदान बेचारा मध्यम रह जाता है। घटोत्कच यह कहते हुए कि तू मुझको प्यारा है, उसे पकड़ लेता है। वह अपने आपको धन्य समझता है और सबको प्रणाम कर घटोत्कच की आज्ञा से थोड़ी दूर पर जलाशय में जल पीने चला जाता है। कुछ देर लग जाने से घटोत्कच उसे "मध्यम, मध्यम" कहकर पुकारता है, परंतु इस शब्द को सुनकर भीमसेन, जो कुंती का दूसरा पुत्र होने से "मध्यम" कहलाता था, बारंबार यह विचारते हुए कि इस समय मुझको कौन बुलाता है, व्यायाम को त्याग उधर आ जाता है। घटोत्कच को, जिसे वह तत्क्षण नहीं पहचान सका, देख कहने लगता है कि कहो, क्या काम है, क्यों बुलाते हो। वह कहता है कि मैं 'मध्यम' को बुलाता हूँ, तुम्हें नहीं। ज्योंही वह वृत्तांत का अनुसंधान करने लगता है, त्योंही ब्राह्मण का पुत्र भी वहाँ आ पहुँचता है। भीमसेन उसे इस दुष्ट काम से रोकने की चेष्टा करता है। परंतु वह कहता है कि अपनी माता हिडिम्बा की आज्ञा से मैंने इसे ग्रहण किया है, अतः कदापि नहीं छोड़ सकता। भीमसेन उसे अपना पुत्र जान उसके पुरुषार्थ की परीक्षा करने लगता है और कहता है कि हे मित्र! आप इस अपने पुत्र को रक्खें, मैं इसके साथ जाता हूँ। मैं क्षत्रिय हूँ, अतः मेरा धर्म है कि मैं इसकी रक्षा करूँ। घटोत्कच कहता है कि अच्छा तुम चलो, परंतु भीमसेन कहता है, मैं तो नहीं जाता। तुम में बल हो तो मुझको ले चलो। दोनों में आपस में युद्ध होने लगता है।

पुत्र यद्यपि पिता के समान बलवान् सिद्ध नहीं होता, तथापि अपने शारीरिक बल की अतिशयता से अपने अज्ञात पिता को प्रसन्न करने में समर्थ होता है। घटोत्कच भीमसेन को अपनी प्रथम स्वीकृति याद दिलाकर माता के पास ले जाता है, जो अपने पति के दर्शन कर कहती है कि मैंने यह मनुष्य मँगवाने का प्रपंच आपके दर्शन करने को ही किया है। घटोत्कच मन में लज्जित होता है और ब्राह्मण से क्षमा माँगता है।

पंचरात्र

दुर्योधन द्रोणाचार्य की प्रेरणा से हस्तिनापुर से कुछ दूर गंगा के किनारे पर एक वृहत् यज्ञ करता है और उसको देखने के लिये बहुत से आ-बाल-वृद्ध आते हैं। वे यज्ञ समृद्धि, ब्राह्मण भोजन, नाना प्रकार के दान तथा यज्ञ में सम्मिलित विप्रों की, जो वृद्ध होते हुए भी स्वाध्याय और आचार में तत्पर हैं, प्रशंसा करते हैं। कुछ बालक अपनी चपलता से वहाँ आग लगा देते हैं जिससे घृत शकटी (गाड़ी), धर्म-शकटी, समीपवर्त्ती वृक्ष, बाँस, चमचे, बर्तन, अरणी, और दर्भा जल जाते हैं। वे लोग राजमंडल सहित उस स्थान पर पधारती हुई कुरुराज दुर्योधन की सवारी देखने जाते हैं। धार्मिक वैभव और सांसारिक विलास से प्रसन्नचित्त हुआ दुर्योधन कर्ण से कहता है कि शास्त्रों के उपदेशों में श्रद्धाशील आत्मा गुरुजनों की प्रसन्नता को प्राप्त करती है, अब प्रजा मुझमें विश्वास करती है, गुण मुझ में निवास करते हैं और अपकीर्त्ति दूर हो चली है। शरीर त्यागने पर स्वर्ग प्राप्ति होती है, ऐसा लोगों का कहना मुझको झूठ ही जँचता है। स्वर्ग कोई परोक्ष पदार्थ नहीं है। बहुत गुणों के प्राप्त कर लेने से इस लोक ही में वह प्राप्त हो जाता है। इस पर कर्ण कहता है कि न्याय से प्राप्त किए हुए सारे धन को सत्कर्म में लगाकर आपने न्याय ही किया; क्योंकि—

> बाणाधीना क्षत्रियाणां समृद्धिः पुत्रापेक्षी यक्ष्यते सन्निधाता।
> विप्रोत्सङ्गे वित्तमावर्ज्य सर्वं राज्ञा देयं चापमात्रं सुतेभ्यः॥

प्राणाधिकोऽसि भवता च कृतोपदेशः
शूरेषु यामि गणनां कृतसाहसोऽसि ।
स्वच्छन्दतो वद किमिच्छसि किं ददामि
हस्ते स्थिता मम गदा भवतश्च सर्वम् ॥

आशय—मैं आपको अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा हूँ, आपका पढ़ाया हुआ हूँ, साहस के काम कर चुका हूँ, लोग मुझे शूरों में गिनते हैं; अतएव निःसंकोच होकर आप कहिए कि आप मुझसे क्या चाहते हैं। सच समझिए, 'जिस समय मेरे हाथ में गदा है, उस समय सब कुछ आपका है।

द्रोण सहसा अपनी याचना प्रकट नहीं करते, किंतु वाष्पाकुल हो जाते हैं जिससे उनका मुँह धोने के लिये जल लाया जाता है, जिसे इस दृश्य से पिघले हुए हृदयवाला दुर्योधन लेकर कहता है कि यदि आप मेरी पूर्व कुटिलताओं को स्मरण कर कहीं यह सोचते हों कि यह नहीं देगा, तो आप यज्ञ के लिये सैकड़ों मूंजों के मरोड़ने से कठिन बने हुए अपने हाथ को मुझे दीजिए और संकल्प रूपी यह जल लीजिए। शिष्यों के क्लेश से दुःखार्त आचार्य कहते हैं—अच्छा अब मेरे हृदय को विश्वास हुआ। पुत्र ! सुन—

येषां गतिः क्वापि निराश्रयाणां संवत्सरैर्द्वादशभिर्न दृष्टा ।
त्वं पाण्डवानां कुरु संविभागमेषा च भिक्षा मम दक्षिणा च ॥

आशय—जिन निराश्रयों की गति बारह बरस से कहीं नहीं देखी, उन पांडवों को तू राज्य का भाग दे, बस यही मेरी भिक्षा है और यही मेरी दक्षिणा।

ये शब्द शकुनि के कर्णों को बहुत कटु लगते हैं और वह आवेग के साथ कहता है कि विनीत और भरोसा किए हुए शिष्य के साथ यज्ञ का प्रकरण उत्पन्न करके धर्म की ओट में आपका यह धोखा क्या न्यायसंगत है? वे उत्तर देते हैं—अरे गांधारधरा से गर्वित शकुनि ! तू अपने अनार्य भावों से निखिल जगत् को अनार्य

वह देने के लिये सर्वथा निषेध करता है। दुर्योधन फिर अपने मित्र कर्ण से पूछता है, जिस पर वह उत्तर देता है—

रामेण भुक्तां परिपालितां च सुभ्रातृतां न प्रतिषेधयामि।
क्षमाक्षमत्वे तु भवान् प्रमाणं संग्रामकालेषु वयं सहायाः॥

आशय—राम से भोगे हुए तथा निबाहे हुए सुन्दर भाईचारे का मैं विरोध नहीं करता, इसलिये मेल-मिलाप के विषय में आप स्वयं निर्णेता हैं। हाँ संग्राम के समय हम आपके सहायक हैं।

दुर्योधन फिर अपने मामा से कहता है कि आप सोचकर कोई ऐसा देश बतावें जहाँ घोर शत्रु हों और घास भी न उपजती हो; वह पांडवों के रहने के लिये दे देंगे। शकुनि कहता है कि इसका उत्तर कुछ नहीं। सोचो, अर्जुन से अधिक बलवान् कौन है? और जहाँ युधिष्ठिर निवास करें, वह स्थान ऊसर हो तो भी शस्यसंपन्न हो जाय। दुर्योधन फिर कहता है कि दान का जल मैं गुरु के हाथ में छोड़ चुका। अब हे राजन्, यह न्याय, अन्याय, धोखा, दगा, कुछ भी हो, मैं इस संकल्प को सत्य करना चाहता हूँ। शकुनि कहता है—इसमें आपकी बात बनी रहे, बस इतना ही करना है। आप गुरु से इतना ही कह दें कि यदि पाँच रात के भीतर भीतर आप पांडवों का पता ले आवें तो राज्यार्ध दे दिया जायगा। वह वैसा ही कहता है जिसको सुन भीष्म और द्रोण उसे इस वंचकता को छोड़ सत्यशील होने की सम्मति देते हैं, परंतु वह नहीं मानता। इतने ही में विराट का एक दूत आकर कहता है कि महाराज (विराटेश्वर) यहाँ आने में असमर्थ हैं; कारण यह है कि किसी ने रात में उनके १०० साले कीचकों का मुक्कों से प्राणांत कर दिया। इस दुर्घटना पर से भीष्म ने मन में सोचा कि बलवान् कीचकों का अशस्त्र-वध करनेवाला भीमसेन के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। उसने इन १०० भाइयों के क्रोध को उन १०० भाइयों पर उतारा। वे द्रोण से पाँच रात की शर्त्त स्वीकार करने की प्रेरणा करते हैं और दुर्योधन से कहते हैं कि मेरा विराट से पूर्व-वैर है; इसी

लेकर शत्रुओं का सामना करने को गया और (प्रवृत्तिपुरुषाः कथयन्ति) खबरनवीस कहते हैं कि बृहन्नला के धनुष के घोष को सुनकर यह वही (अर्जुन) है, ऐसा मन में जानकर द्रोण तो लौट गए। अपनी ध्वजा में शत्रु का बाण गड़ा देखकर अब लड़कर क्या करना है, ऐसा समझ भीष्म भी नहीं लड़ते। कर्ण बाणों के मारे पछाड़ दिया गया और दूसरे राजा लोग यह क्या मामला है, ऐसा मन में विचार रहे हैं। हाँ एक बालक अभिमन्यु ऐसी भयास्पद स्थिति में भी भय न मान निर्भय लड़ रहा है। भगवान् (विप्र के वेष में युधिष्ठिर) कहते हैं कि राजन्! दो वंशों का तेजाग्नि सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु यदि लड़ रहा है तो आप दूसरा सारथी भेजिए। बृहन्नला इस समय व्याकुल होगा। राजा कहता है कि आप ऐसा न विचारिए। देखिए, परशुराम के तीरों से जिनका कवच बिंधा भी नहीं, ऐसे भीष्म को, मंत्रायुध द्रोण को, कर्ण और जयद्रथ को तथा शेष राजाओं को जिसने पराङ्मुख कर दिया, वह कुमार क्या अभिमन्यु को सीधा नहीं कर सकता? बात तो यह है कि उसके पिता के विचार से मित्रता के योग्य समान आयुवाला होने से इस स्थिति में भी वह उसको क्षति नहीं पहुँचाता। इतने ही में एक भट आकर खुशखबरी सुनाता है कि गायें छुडा ली गईं और कौरव भाग गए। महाराजकुमार (दृष्टपरिस्पन्दानां योधपुरुषाणां कर्माणि पुस्तकमारोपयति कुमारः) युद्ध में जिन पुरुषों ने विचित्र साहस दिखाया है, उनके नाम-काम वहीं में दर्ज कर रहे हैं। राजा तुरंत बृहन्नला को बुलवाता है और उसके आते ही कहता है—

अकारणं रूपमकारणं कुलं महत्सु नीचेषु च कर्म शोभते।
इदं हि रूपं परिभूतपूर्वकं तदेव भूयो बहुमानमागतम्॥

आशय—बृहन्नला! रूप मान का कारण नहीं होता और न कुल ही। वास्तव में क्या बड़े और क्या छोटे सब में कर्म ही कीर्ति का कारण है। देखो यही रूप पहले मंद आदर से देखा जाता था, परंतु अब अत्यंत पूजनीय है।

इसमें संदेह नहीं कि आप थक गए हैं, परंतु मैं आप परिश्रांत को भी कुछ और परिश्रम देना चाहता हूँ; और वह यह है कि रणवृत्तांत विस्तार से सुनाइए। वह सुनाना प्रारंभ करता है, परंतु इतने ही में भट आकर कहता है कि अभिमन्यु पकड़ा गया। भगवान् पूछते हैं—बृहन्नला ! यह क्या बात है ? वह मन में सोचता है कि विराट की सेना के योद्धाओं का बल तो मैंने जाँच लिया, युद्ध में मैं उसे देख ही आया, यहाँ उसकी बराबरी का कोई है ही नहीं, कीचकों को मार ही दिया, अब कौन उसका पकड़नेवाला हो सकता है, और उत्तर देता है कि—

न जाने तस्य जेतारं बलवान्छिक्षितस्तु सः।
पितॄणां भाग्यदोषेण प्राप्नुयादपि धर्षणम्॥

आशय—भगवन् ! मैं उसके जीतनेवाले को नहीं जानता, वह रण-कौशल में पूर्ण सुबोध है, पांडवों के हतभाग्य से कदाचित् वह (अभिमन्यु) बंधन को प्राप्त हो गया हो।

भट कहता है कि जिसको आपने भोजनशाला में नियुक्त कर रक्खा है, उसने सहसा रथ को पकड़ निःशंक उसे हाथों से उतार लिया। इससे बृहन्नला के चित्त को शांति होती है और वह मन में कहता है कि *वास्तव में आर्य भीम ने उसका आलिंगन किया है।* हम तो दूर ही से उसके दर्शन कर तृप्त हुए, परंतु यथार्थ पुत्रस्नेह तो भीम ने सफल किया। राजा बृहन्नला को *अभिमन्यु को ले आने* की आज्ञा देता है और वह आकर भीमसेन से कहता है कि इसको यहाँ लाकर आपने क्या कर डाला—

अवजित इति तावद् दूषितः पूर्वयुद्धे
द्वयितसुतवियुक्ता शोचनीया सुभद्रा।
जित इति पुनरेनं दृश्यते वासुभद्रो
भवतु वहु किमुक्त्वा दूषितो हस्तसारः॥

आशय—देखिए, इसका युद्ध में प्रविष्ट होने का यह प्रथम ही अवसर है और उसको पराजय का बट्टा लगा दिया, सुभद्रा को पुत्र

के विरह से शोकातुर कर दिया, यह हार गया, ऐसा सुन कृष्ण इस पर नाराज़ होंगे। और अधिक क्या कहूँ, आपने अपने हाथ के बल को भी तो दूषित किया।

भीम उत्तर देता है कि हाँ, इसके पकड़ने में जो दोष तुमने बताए वह मैं भी जनता हूँ। परंतु सोचो, अपने पुत्र को शत्रुओं के हाथों में कौन रहने देगा? दूसरे शोक सागर में निमग्न अपत्यवत्सला द्रौपदी इसे देखकर प्रसन्न होगी, यह समझ मैं इसे यहाँ ले आया। तदनन्तर भीम और अर्जुन अपने आपको प्रकट न कर उससे परिहास-पूर्वक बातें करते हैं जिनका वह बड़े साहस के साथ उत्तर देता है।

उधर कुमार उत्तर मन में लज्जित होता हुआ अपने पिता के पास आकर निवेदन करता है कि विजय का कारण वास्तव में वीर अर्जुन है जो बृहन्नला के रूप में यहाँ निवास कर रहा है। राजा क्रमशः युधिष्ठिरादि को पहचान आश्चर्य में मग्न हो जाता है और अभिमन्यु को देखते ही आशीर्वाद देता है कि प्यारे—

यौधिष्ठिरं धैर्यमवाप्नुहि त्वं भैमं बलं नैपुणमर्जुनस्य।
माद्रीसुतात् कांतिमथाभिरूप्यं कीर्तिं च कृष्णस्य जगत्प्रियस्य॥

आशय—भगवान् तुमको युधिष्ठिर के समान धैर्य दें, भीमसेन के समान बल दें, अर्जुन के समान निपुणता दें, माद्री-पुत्र नकुल और सहदेव के समान कान्ति तथा पांडित्य दें और जगत्प्रिय कृष्ण के समान कीर्ति दें।

विराट प्रसन्न होकर अपनी कन्या उत्तरा अर्जुन के लिये देता है; परंतु वह यह कहकर कि रणवास में रहकर मैंने सबके साथ माता की दृष्टि से व्यवहार किया है, उसे अपने पुत्र अभिमन्यु के लिये स्वीकार करता है। यहाँ द्वितीय अंक समाप्त होता है।

अभिमन्यु के ग्रहण होने का समाचार सुनकर द्रोण और भीष्म पूछते हैं कि कहो, किसने उसको पकड़ लिया? दुर्योधन भी कहता है कि सूत, झट बतलाओ, कौन उसे ले गया, मैं स्वयं उसको छुड़ाऊँगा—

इस बात को तीर पर लिखे उस (अर्जुन) के नाम से सिद्ध कर देते हैं।

इतने ही में दूत के रूप में आकर उत्तर कहता है कि धर्मराज युधिष्ठिर ने निवेदन किया है कि उत्तरा को मैंने बतौर पुत्रवधु के प्राप्त किया है और उसके विवाह महोत्सव में राजमंडल को निमंत्रित करना चाहता हूँ। अब आप आज्ञा दीजिए कि विवाह कहाँ (यहाँ या वहाँ) किया जाय।

यों पांडवों के प्रत्यक्ष होने पर द्रोण कहते हैं—

इत्यर्थं वयमानीताः पञ्चरात्रोऽपि वर्तते।
धर्मेणावर्जिता भिक्षा धर्मेणैव प्रदीयताम्।

आशय—लीजिए यों हमने उनका सन्देशा ला दिया और पाँच रातें भी समाप्त नहीं हुई हैं। अब धर्म को साक्षी कर जो भिक्षा का संकल्प किया है, उसे धर्मपूर्वक पूरा कीजिए।

तदनन्तर दुर्योधन राज्यांश देता है, जो कवि की ही कल्पना प्रतीत होती है। यह तृतीय अंक समाप्त हुआ। यह नाटक तीन ही अंकों का है।

दूतवाक्य

पांडवों के साथ युद्ध का निश्चय हो जाने पर दुर्योधन अपने राजमंडल को निमंत्रित करता है और वैकर्णवर्ष के दो नरेन्द्रों के साथ मंत्रशाला में प्रवेश कर द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, शकुनि, कर्ण तथा अन्य राजाओं को उचित आसनों पर बैठाकर परामर्श करता है कि अपनी एकादश अक्षौहिणी सेना का सेनापति कौन चुना जाय। शकुनि भीष्म का प्रस्ताव करता है जो उसे भी पसंद आता है। यह बातचीत होती ही है कि इतने में बादरायण नाम का कंचुकी सूचना देता है कि पांडवों के स्कंधावार (छावनी) से पुरुषोत्तमनारायण दूत बनकर पधारे हैं। दुर्योधन कृष्ण के लिये यह विशेषण सुनकर सहसा क्रुद्ध हो जाता है और पहले तो बुरी तरह से

राज्यं नाम नृपात्मजैः सहृदयैर्जित्वा रिपून् भुज्यते
तल्लोके न तु याच्यते न तु पुनर्दीनाय वा दीयते ।
काङ्क्षा चेन्नृपतित्वमाप्तुमचिरात् कुर्वन्तु ते साहसं
स्वैरं वा प्रविशन्तु शान्तमतिभिर्जुष्टं शमायाश्रमम् ॥

आशय—राज्य तो एक ऐसी वस्तु है कि जिसे राजपुत्र शत्रुओं को जीत भोगा करते हैं। वह संसार में माँगा नहीं जाता और न दीन के लिये दिया ही जाता है। यदि उन लोगों के मन में राज्य पाने की अभिलाषा है तो उन्हें चाहिए कि वे तुरंत साहस दिखावें; नहीं तो अपनी शांति के लिये शांत मतिवालों के चाहे हुए आश्रम में प्रवेश करें।

इस पर कृष्ण समझाते हैं कि जो पुण्य के संचय से प्राप्त हुई राजलक्ष्मी को पाकर अपने मित्र और बांधवों को धोखा देता है, वह विफलश्रम हो जाता है। परंतु दुर्योधन के ध्यान में एक नहीं आती। वह कंस और मगधेश्वर के साथ किए हुए व्यवहार पर उनके ऊपर लांछन लगाना प्रारंभ करता है जिसका वे समुचित समाधान करते हैं, परंतु फिर भी वह सन्मार्ग का अवलंबन नहीं करता। वे यह सोच कि यों सीधी उँगलियों से घी नहीं निकलेगा, इसको कुछ औटाना चाहिए, कहते हैं कि अरे! तुझे अर्जुन के बल पराक्रम का पता नहीं। देख! उसने पशुपति को युद्ध में संतुष्ट किया, खांडव वन में लगी हुई अग्नि को बाण-वृष्टि से बुझाया, देवताओं को भी दुख देनेवाले निवात कवचों का अनायास नाश कर डाला, विराट-नगर में अकेले ही भीष्म आदि को पराजित किया। यहाँ तक ही नहीं, चित्रसेन से ले जाए जाते हुए एवं रोते हुए स्वयं तुझको उसने बंधन से मुक्त किया। बस अधिक क्या कहूँ, या तो तू मेरे कहने से राज्य का भाग उन्हें दे दे, नहीं तो सच समझ, वे लोग समुद्र तक की सबकी सब पृथ्वी तुझसे हर लेंगे। दुर्योधन के लिये कृष्ण के सब तरह के उपदेश निरर्थक ही होते हैं। वह पूर्व विचारानुसार उन्हें कैद करने की चेष्टा करता है, परंतु निष्फल हो जाता है।

परंतु कर्ण कहता है कि युद्ध में प्राण देने से स्वर्ग मिलता है, जीतने पर यश है ही। दोनों प्रकार से लाभ ही है निष्फलता तो है ही नहीं। फिर वे दोनों रथ पर चढ़ने लगते हैं। इतने में सब देवताओं के परामर्श से अर्जुन की विजय के लिये यत्न कर, विप्र का वेष धारण किए हुए इंद्र उस ओर आकर कहते हैं—"हे कर्ण! मैं तुमसे एक बहुत बड़ी भिक्षा चाहता हूँ"। कर्ण यह सुन बहुत प्रसन्न होता है और आगे बढ़ उनके चरण स्पर्श कर नमस्कार करता है। इंद्र मन में सोचते हैं कि मैं इससे क्या कहूँ? यदि कहूँ कि दीर्घायु हो, तो यह दीर्घायु हो जायगा; यदि कुछ न कहूँ तो मुझे मूर्ख समझ तिरस्कार करेगा; इसलिये वे कहते हैं—"हे कर्ण, सूर्य के समान, चंद्र के समान, हिमवान् के समान तथा सागर के समान तेरी कीर्ति अचल हो।" कर्ण कहता है—"भगवन्, "दीर्घायुर्भव" ऐसा आशीर्वाद देना क्या योग्य नहीं समझते? अस्तु जो आपने कहा वही ठीक है। कहिए, आपकी क्या इच्छा है? मैं आपके भेंट क्या करूँ? इंद्र कहते हैं—मुझे बहुत भारी भिक्षा चाहिए। इस पर कर्ण क्रम क्रम से सुवर्ण के सींगवाली सुंदर सहस्र गौएँ, कांबोज के सुप्रसिद्ध सहस्रों घोड़े, पर्वत के समान ऊँचे हाथी, असीम सुवर्ण, पृथ्वी, अग्निष्टोम का फल और अपना शिर तक देने को कहता है, परंतु इंद्र इनमें से कुछ भी लेना स्वीकार नहीं करते। अंत में जब वह अपनी देह की रक्षा कवच और कुंडल देने के लिये कहता है, तो वे तुरंत सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। शल्य इस दान का प्रतिषेध करता है, परंतु कर्ण यह कहता हुआ कि देखो—

शिक्षा क्षयं गच्छति काल पर्ययात्
सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति
हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति॥

आशय—समय के हेर फेर से शिक्षा भी नष्ट हो जाती है, भले प्रकार जमे हुए वृक्ष भी गिर जाते हैं, जलाशय को प्राप्त हुआ जल

भी सूख आया करता है, परन्तु अग्नि में डाला हुआ और (सुपात्र को) दिया हुआ दान ज्यों का त्यों रहता है।

फिर वह उन वस्तुओं को दे ही देता है। शल्य फिर कहता है कि इंद्र ने आपको ठग लिया; परंतु वह अपने मन में तनिक भी ग्लानि नहीं लाता और वे दोनों युद्ध के लिये प्रस्थान करते हैं।

इस नाटक में एक बात विचारने की यह है कि कवि ने इंद्र का वार्त्तालाप संस्कृत में न लिखकर प्राकृत भाषा में लिखा है।

दूतघटोत्कच

में चढ़ा हो, यदि रक्तो कृष्ण के नेत्र रूपी तीर सघन उसके प्राण हरण करने को पहुँचे रहेंगे। इतने में दूत के रूप में घटोत्कच आ पहुँचता है और धृतराष्ट्र को पहले युधिष्ठिरादि का अभिवादन निवेदन कर फिर आप अभिवादन करता है। वे उसके प्रति स्नेह प्रकट करते हुए कहते हैं कि पौत्र! मुझको यह सुन अच्छा नहीं लगता कि भाई (अभिमन्यु) के विनाश के कारण तुमने भी युद्ध में प्रवृत्ति कर ली। तुमको कदाचित् यह ज्ञात नहीं होगा कि अपने पुत्रों के दोष से मैं कितना कृपण (दीन) कर दिया गया हूँ। इस पर घटोत्कच कहता है कि निस्सन्देह आप साक्षात् कल्याणस्वरूप हैं और यह अनुभव करते हुए कि एक पुत्र के विनाश से जब चचा अर्जुन की ऐसी अकथनीय शोकावस्था हो गई, तो अनेक पुत्रों के विनाश को देखनेवाले आप की न जाने कैसी दुःखद अवस्था होगी। इसके आगे वह श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाता है कि आप शीघ्र अपनी सेना को सजाइए जिससे पुत्र-शोक से उत्पन्न हुई अग्नि आपके प्राण-रूपी हवि को न खा जाय। इस पर धृतराष्ट्र कहते हैं कि जब सक्रोध व्यवसाय से कृष्ण ने उसे वचन कहे हैं, तो मुझे विश्वास हो गया कि अब सब क्षत्रिय अर्जुन के द्वारा भस्म कर दिए जायँगे। दुर्योधन चिढ़कर कहता है कि जो अकेले अर्जुन से अखिल क्षात्र-मंडल की विजय की कल्पना करता है, वह वास्तव में दिन में तारे देखता है। घटोत्कच इस अपहास से अपने आपको रोकने में असमर्थ होकर कहता है कि अच्छा भले ही आप हँसी कर लें पर अब आप भी कृष्ण का संदेश सुन लें। दुःशासन यह कहते हुए कि कृष्ण कोई राजा नहीं है और साधारण व्यक्ति का सन्देश चक्रवर्ती दुर्योधन नहीं सुन सकते, उसे रोक देता है। घटोत्कच कृष्ण के राजा होने का समर्थन करता है, जिस पर दुर्योधन दुःशासन से कहता है कि क्यों झगड़ा बढ़ाते हो; और घटोत्कच से कहता है कि कृष्ण राजा हो चाहे अ-राजा, बली हो चाहे दुर्बल, अधिक कहने से क्या लाभ तुम तो यह कहो कि तुम्हारे प्रभु ने क्या कहा है। इसके उत्तर देने की ज्योंही वह चेष्टा

करता है त्यों ही शकुनि से झगड़ा हो जाता है और फिर दुःशासन साभिमान कहता है कि यदि तुम्हें मातृपक्ष का कुछ गर्व है तो याद रक्खो हम भी उस स्वभाव के राक्षस ही हैं। वह कहता है कि राम राम! आप तो राक्षसों से कितने ही दर्जे अधिक शूर हैं; क्योंकि—

"न तु जतुगृहे सुप्तान् भ्रातॄन् दहन्ति निशाचराः

शिरसि न तथा भ्रातुः पत्नीं स्पृशन्ति निशाचराः।

न च सुतवधं संख्ये वृत्तं स्मरन्ति निशाचरा

विकृतवपुषोऽप्युग्राचारा घृणा न तु वर्जिता॥"

आशय—राक्षस लाख के महल में सोते हुए भाइयों को नहीं जलाया करते, वे अपने भाई की स्त्री को सिर से भी ऐसे नहीं छूते जैसे आपने छुआ, वे युद्ध में बालक को मारने का भी विचार नहीं करते, वे विकराल शरीरधारी होते हुए भी आचार तथा दया से वर्जित नहीं होते।

यों आपस का झगड़ा बढ़ जाता है और दुर्योधन के यह कहने पर कि हम कृष्ण को बाणों द्वारा यथार्थ उत्तर देंगे, घटोत्कच चला जाता है। यह नाटक एक ही अंक का है।

और यह उनको समझाता है कि देखिए मैं जिस मान से आप के यहाँ उत्पन्न हुआ, उसी मान से मर रहा हूँ। मैं युद्ध में सर्वदा अपराङ्-मुख रहा। फिर आप क्यों शोक करते हैं ? माता के प्रति यह कहता है कि यदि मैंने कोई पुण्य किया है तो मैं उसका यही प्रति-फल चाहता हूँ कि अन्य जन्म में भी तू ही मेरी माता बने। इसी प्रकार अपनी मालवी और पौरवी नाम की रानियों से वह कहता है कि देखो, मैंने नाना वेदोक्त यज्ञ किए, युद्ध में अनेक राजाओं को सन्तप्त किया, कभी पीठ नहीं दिखाई। फिर हे क्षत्राणियों! तुम क्यों रोती हो ? तदनन्तर दुर्जय को शिक्षा देता है कि पुत्र ! तुम पांडवों को मेरे समान समझ उनकी शुश्रूषा करना, श्रीमती गान्धारी और माता कुन्ती की आज्ञा का पालन करना और अभिमन्यु की माता तथा द्रौपदी का अपनी माता के समान सत्कार करना। इतने ही में उग्र कोपाकुल अश्वत्थामा आ पहुँचता है और दुर्योधन से बातचीत करते हुए कहता है कि मैं कृष्ण-समेत पांडवों का नामावशेष कर डालूँगा। दुर्योधन यह कहता हुआ कि देखो न कर्ण रहा, न भीष्म रहे, न मेरे भाई रहे, सानुरोध प्रतिषेध करता है, परन्तु वह कहता है कि मैं रात्रि में युद्ध छेड़ पांडवों को स्वाहा करने की पूर्व ही प्रतिज्ञा कर चूका हूँ, अतः परवश हूँ। दुर्योधन अति विह्वल हो शान्तनु, कर्ण, अभिमन्यु, उर्वशी, महार्णव, गङ्गा, विमान आदि स्वर्गीय दृश्य देखता हुआ प्राण त्यागता है।

संस्कृत में केवल यही एक शोकांत नाटक (Tragedy) है। इस नाटक का निम्न लिखित श्लोक, जो प्रारंभ में सूत्रधार कहता है, कुछ रूपान्तर से भगवद्गीता के ध्यान में विद्यमान है—

भीष्मद्रोणतटां जयद्रथजलां गांधारराजह्रदां
कर्णद्रौणिकृपोर्मिनक्रमकरां दुर्योधनस्रोतसम्।
तीर्णः शत्रुनदीं शरासिसिकतां येन प्लवेनार्जुनः
शत्रूणां तरणेषु वः स भगवानस्तु प्लवः केशवः॥

कि मैंने यहाँ से एक कोस दूर पर मल्लिकालता और साल वृक्षों में छिपा हुआ नख और दन्त को छोड़कर नितान्त नीला हाथी देखा है। राजा ने उसे सौ सुवर्ण (सोने के सिक्कों) का पारितोषक दिया और यह कहकर कि हस्ति शिक्षा में पढ़ा हुआ यह नीलकुवलय नाम का चक्रवर्ती हस्ती है। रुमण्वान् मंत्री के रोकने पर भी केवल बीस पदातियों को साथ ले वे बन में चले गए। राजा वहाँ उस हाथी को, जो कृत्रिम था, परंतु ऐसी अच्छी कारीगरी से बनाया गया था कि पहचान में नहीं आता था, देख घोड़े से उतर उसे वश में करने को घोषवती वीणा बजाने लगे। इतने ही में अचानक बहुत से आदमी आ कूदे जिनसे युद्ध हुआ। राजा ने बहुत वीरता के साथ मार धाड़ की, परंतु प्रतिपक्षी बहुत थे, अतः वे घायल होकर प्रद्योत के मंत्री शालङ्कायनद्वारा पीनस में बैठाकर उज्जैन भेज दिए गए।

मंत्री और रणवास इस दुर्घटना से बहुत दुःखी होते हैं, परंतु उत्साहसंपन्न स्वामी भक्त मंत्री यह प्रतिज्ञा करता है कि यदि मैं राजा को शीघ्र छुड़ाकर न ले आऊँ तो मेरा नाम यौगंधरायण नहीं। यह प्रथम अंक का सार है।

कंचुकी प्रद्योत से निवेदन करता है कि काशिराज का उपाध्याय आर्य जैवंति विवाह-संबंध के विषय में दूत बनकर आया है। राजा उसको परमादर से ठहराने के लिये कहता है। इतने ही में रानी अंगारवती आती है और कहती है कि वासवदत्ता उत्तरा नाम की वैतालिका के पास नारदीय वीणा सीखने को गई है, जिसको कोई गांधर्व विद्या में निपुण आचार्य की आवश्यकता है। राजा कहता है कि अब वह विवाह के योग्य हो गई, अतएव पति ही उसको शिक्षा देगा; और पूछता है कि अपना संबंध मगध, काशी, बङ्ग, सौराष्ट्र, मिथिल और शूरसेन देश के राजाओं से है। इनमें से कौन सा तुम्हें पसन्द आता है? इतने ही में एक आतुर राजसेवक तत्क्षण आकर कहता है—"वत्सराज"। फिर विश्रब्ध हो निवेदन करता है कि वत्सराज तो शालङ्कायनद्वारा क़ैद कर लिया गया।

प्रवीण मंत्री यौगन्धरायण के जीते जी वत्सराज का ग्रहण असंभव समझ राजा को सहज ही में इस विषय में विश्वास नहीं होता। वह पूछता है—क्या उदयन बन्दी हो गया? शतानीक का पुत्र? सहस्रानीक का पौत्र? कौशाम्बी का राजा? गान्धर्वनिपुण (गांधर्व विद्या का पूर्ण ज्ञाता)? सेवक प्रत्येक बार "जी हाँ" कहता है। तब वह विश्वास लाता है और इस संबंध की कई एक बातें पूछने के बाद वह अपने मुख्य मंत्री को राजकुमार के सदृश सम्मान और शिष्टाचार के साथ उदयन को अपने सम्मुख लाने की आज्ञा देता है। यहाँ द्वितीय अंक समाप्त होता है।

तृतीय अंक में वत्सराज को छुड़ाने के लिये यौगन्धरायण के उद्योग तथा अपने साथियों से इस विषय में किए हुए परामर्श का वर्णन है। ट्रावनकोर की राजकीय ग्रन्थशाला में एक "मंत्राङ्क व्याख्यानम्" नाम का छोटा सा ग्रंथ है जो वास्तव में प्रतिज्ञायौगन्धरायण के तृतीय अंक के कुछ अंश का व्याख्या रूप है। उससे यह प्रतीत होता है कि इस अंक को पहले "मंत्राङ्क" कहा करते थे। कवि ने इसकी भाषा ऐसे ढंग से लिखी है कि जिसके दो अर्थ निकलते हैं। एक जो प्रत्यक्ष है, वह पागलों की बात चीत है; और दूसरा अभिमत अर्थ लक्षण से सिद्ध होता है। इसमें प्रथम डिण्डिक वेष में वत्सराज के मंत्री वसन्तक का प्रवेश बताया है। वह उन्मत्तक वेषधारी यौगन्धरायण तथा श्रमणक वेषधारी रुमण्वान् मंत्रियों से नगर के बाहर अग्नि गृह में मिलता है और कहता है कि मैं छिपकर राजा से मिल आया। यौगन्धरायण कहता है कि अब तुम फिर जाकर उनसे मिलो और कहो कि हमने महासेन के नलागिरि नामक हाथी को खूब उन्मत्त करने का प्रबंध कर लिया है। वह जब घोर उत्पात करेगा और किसी से भी वश में नहीं किया जा सकेगा, तब प्रद्योत झक मारकर गजविद्या विचक्षण आपसे उसको नियन्त्रित करने के लिये प्रार्थना करेगा। आप उस पर सावधानी से चढ़ जाइएगा और उसे अपने वश में कर अपने देश को रवाना हो जाइएगा। यों जैसे उसने

आपको हाथी द्वारा छला, वैसे ही वह स्वयं छला जायगा। वसन्तक कहता है कि राजा का प्रेम वासवदत्ता से हो चुका है और उन्होंने यह कहा है कि काम के विचार से नहीं किंतु शत्रु के अपमान के विचार से उसे भी साथ में हर ले चलें तो अपने तिरस्कार का पूर्ण प्रतिकार हो जायगा। यौगन्धरायण यह सब कुछ सिद्ध करने की प्रतिज्ञा करता है।

चौथे अंक में यह दर्शाया है कि यौगंधरायण गुप्त रीति से अपने मनुष्यों को महासेन की राजकीय संस्थाओं में विशेष कर हस्त्यागार (फीलखाने) में गात्रसेवक और हस्तिपक के स्वरूप में नियुक्त करवा देता है और उनके द्वारा एक दिन नलागिरि हाथी उन्मत्त करवा दिया जाता है। जब वह घोर उपद्रव करने लगता है और किसी के भी वश में नहीं आता, तब महासेन गजवशीकरण विद्या में विचक्षण उदयन को उसे नियंत्रित करने के लिये स्वतंत्र करता है। वह शीघ्र ही गजराज को वश में कर लेता है और महासेन की उपकृतज्ञता का पात्र बन जाता है। युवती राजकुमारी वासवदत्ता इसके पास वीणाभ्यास के लिये आती जाती रहती है और इनमें पारस्परिक स्नेह के अंकुर भी उग जाते हैं। तदनन्तर उदयन एक दिन यौगंधरायण के रचे हुए कूट प्रबंध द्वारा वासवदत्ता सहित भद्रवती नाम की हथिनी पर सवार होकर उज्जैन से कौशाम्बी को रवाना हो जाता है। इस भेद के प्रकट होते ही उज्जैन में युद्ध प्रारंभ हो जाता है। यौगंधरायण और उसके पक्ष के पुरुष बड़ी वीरता के साथ लड़ते हैं, परंतु दैवयोग से उसकी तलवार विजयसुन्दर नाम के हाथी के दाँत से टकराकर टूट जाती है और वह पकड़ लिया जाता है। स्वामी-भक्त साहसी यौगंधरायण इस दुर्घटना से तनिक भी नहीं घबराता। वह प्रसन्नतापूर्वक कहता है—

वैरं भयं परिभवं च समं विहाय
कृत्वा नयैश्च विनयैश्च शरैश्च कर्म।

शत्रोः श्रियं च सुहृदामयशश्च हित्वा
प्राप्तो जयश्च नृपतिश्च महांश्च शब्दः॥

आशय—वैर, भय, और अपयश को नितान्त ध्यान में न लाकर नीति, विनय और वीरता से शत्रु के यश और मित्रों के अपयश को मिटा कर मैंने [शत्रु पर] विजय, नरपति (वत्सराज) का छुटकारा और कीर्ति को प्राप्त किया है।

जब वह बन्दी होकर राजमार्ग से ले आया जाता है, तो वहाँ के झुंड के झुंड मनुष्य उसे देखने को आते हैं। राजपुरुष उनको दूर हटाने लगते हैं, परन्तु वह उनको ऐसा करने से रोकता है और कहता है कि मेरे किसी दर्शनाभिलाषी को मत हटाओ।

पश्यन्तु मां नरपतेः सचिवं ससत्त्वं*
राजानुरागनियमेन विपद्यमानम्।
ये प्रार्थयन्ति च मनोभिरमात्यशब्दं,
तेषां स्थिरीभवतु नश्यतु वाभिलाषः॥

आशय—राजभक्तिवश के कारण विपत्ति को प्राप्त हुए राजा (वत्सराज) के मुझ सचिव को सब कोई भले प्रकार से देखो। जिन पुरुषों के मन में "अमात्य" पद प्राप्त करने की लालसा है, वे मेरे इस उदाहरण से सोच समझकर अपनी जिज्ञासा को स्थिर करें—अथवा छोड़ दें।

इतने में एक भट आकर राजपुरुष से कहता है कि मन्त्री भरतरोहक ने कहा है कि यौगन्धरायण को आयुधागार में रखना चाहिए, जहाँ पर अच्छा रक्षा-विधान है। यह सुन यौगन्धरायण को हँसी आ जाती है और वह कहता है कि वाह, कैसी हँसी की बात है—

* मूल में "पुरुषाः स सत्त्वा॰" ऐसा पाठ है; परन्तु श्रीमान् केशवलाल जी ध्रुव ने "प्रधाननी प्रतिज्ञा" में "सचिवं ससत्त्वं" पाठ की कल्पना की है जो उत्तम है। आपने अपने गुजराती अनुवाद में कई पाठान्तरों की कल्पना की है जो बड़े चमत्कृत हैं।

अग्निं बद्ध्वा वत्सराजाभिधानं,
यस्मिन् काले सर्वतो रक्षितव्यम्।
तस्मिन् काले सुप्तमासीदमात्यै-
र्नीते रत्ने भाजने को निरोधः॥

आशय—वत्सराजरूपी अग्नि को बंधन में लाकर जिस समय देखभाल करना उचित था, उस समय तो अमात्य लोग सोते रहे; और अब रत्न के चुराए जाने पर बर्तन की ऐसी देख रेख करना किस काम का है।

पश्चात् यौगन्धरायण के बंधन खोल दिए जाते हैं और मंत्री भरतरोहक उससे मिलने को आता है। वह कहता है कि हमने पहले "यह यौगन्धरायण है, वह यौगन्धरायण है" इस प्रकार युद्ध में बताया जाता हुआ आपका नाम ही सुना, परंतु अब आपके साक्षात् दर्शन हुए हैं। वह इस पर उत्तर देता है कि अच्छा पश्यतु भवान् माम्—

एवं रुधिरदिग्धाङ्गं वैरनियममास्थितम्।
गुरोरवजितं हत्वा शान्तं द्रौणिमिव स्थितम्॥

आशय—पिता के पराजय के कलंक को धोकर अश्वत्थामा के समान रुधिर से सनकर खड़े हुए मुझको आप पेट भर कर देखिए।

इस गर्व-पोषित उत्तर को सुनकर भरतरोहक कहता है कि उन्मत्त हाथी के संयोग से छल करके आप ऐसा शौर्याभिमान करते हैं? वह उत्तर देता है कि तनिक आप अपनी करतूतों को तो निहारें। क्या साल वृक्षों में बनावटी हाथी रखकर वत्सराज को बन्दी कर लेना छल नहीं था? हमने तो आपकी पूर्व में की हुई करतूतों की पुनरावृत्ति ही की है। वह कहता है कि अच्छा, उस बात को तो जाने दें; तनिक यह विचारें कि महासेन की कुमारी वासवदत्ता को जो शिष्या के रूप में वत्सराज के सुपुर्द की गई थी, चोर की सी तरह ले जाना आप कहाँ तक ठीक समझते हैं? यौगन्धरायण उत्तर देता है कि यह आप के समझने की भूल है। देखिए,

पाने की तजवीज करता है, तो वह उसे सहर्ष स्वीकार करता है। पटाक्षेप होकर नाटक समाप्त होता है।

भास के अन्य नाटकों की अपेक्षा इस नाटक की रचना क्लिष्ट है।

स्वप्नवासवदत्ता

उदयन और वासवदत्ता की कथा कथासरित्सागर में सविस्तर लिखी हुई है, परंतु भास की वर्णित की हुई कुछ बातों से उसमें थोड़ा बहुत विरोध आता है। कथासरित्सागर में लिखा है कि कौशांबी आकर उदयन अपने मंत्रियों पर राज्य-भार छोड़ वासवदत्ता के अनन्य प्रेम में आसक्त हो गया। मंत्रियों ने विचार किया कि यह राजा पांडवों के वंश में उत्पन्न हुआ है; इसके पूर्वज चक्रवर्ती राज्य भोगते थे, परंतु इसका शासन वत्सदेश मात्र में ही है। यह इस समय काम और मृगया के वशीभूत हो रहा है। अतः कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे यह सचेत हो जाय और संपूर्ण पृथ्वी का राज्य इसके हाथ में आ जाय। ऐसा करने में ही हमारी राजभक्ति और मंत्रीपन की सफलता है। इस मनोरथ के सिद्ध करने में एक आपत्ति यह थी कि समीपवर्ती बलवान् मगध राज्य के राजकुल और वत्सवालों में पारस्परिक सद्भाव नहीं था, जिससे यदि ये लोग अपने राज्य के विस्तार के लिये यत्न करते तो उनका इनके यत्नों को निष्फल करने की चेष्टा करना अवश्यंभावी था। उन दिनों में मगध का राजा "दर्शक" था और उसकी एक बहिन थी जिसका नाम पद्मावती था। यह त्रिभुवन विलोभनीयाकृति पद्मावती तब तक कुमारी ही थी और उदयन के सुचारु रूप, औदार्य और दीन-वत्सल-स्वभाव की प्रशंसा करनेवाली थी। मंत्रियों ने सोचा कि यदि किसी प्रकार से इस पद्मावती का उदयन से विवाह हो सके, तो राज्य बढ़ाने में न केवल आपत्ति ही दूर होगी वरन् मगध देश से बहुत सहायता मिलेगी। इस बात के होने में दो कठिनाइयाँ थीं। एक तो यह कि उदयन वासवदत्ता के होते हुए दूसरी स्त्री से

नष्ट हो जाने से मैं भी यहाँ से चला आया हूँ।" तदनंतर संध्या का समय हो जाता है और सब आपस में अभिवादन कर विदा होते हैं।

दूसरे और तीसरे अंक छोटे छोटे हैं और उनमें एक भी पद्य नहीं है। इन अंकों में पद्मावती की कंदुक-क्रीड़ा, उदयन का संयोग-वश राजगृह आना और दर्शक का अपनी बहिन पद्मावती को उसके साथ ब्याहना, वासवदत्ता का पद्मावती के लिये कौतुक मंगल-माला गूँथना दिखाया है।

चौथे अंक में दिखाया है कि पद्मावती और वासवदत्ता प्रमदवन में आती हैं और फूलों की शोभा देखती हुई एक लतामण्डप में बैठ जाती हैं। राजा भी वसंतक को साथ लिए वहीं आता है और एक स्थल पर बैठकर पद्मावती की प्रतीक्षा करता है। थोड़ी ही देर में आकाश में पंक्ति बाँधे सारस पक्षी उड़ते हुए दिखाई देते हैं जिनको ध्यान से देखती हुई स्त्रियाँ राजा को देख लेती हैं। धूप बढ़ जाने से वसंतक राजा से कहता है कि अपने समीपवर्त्ती कुंज में चलें; और ज्यों ही वह उस कुंज में, जिसमें पद्मावती आदि पहले से ही बैठी हुई हैं, प्रवेश करने का प्रयास करता है, त्यों ही एक चेरी रानी की अनुमति से एक डाली को, जिस पर बहुत से भौंरे बैठे हुए हैं, हिला देती है। वे उड़ते हैं और वसंतक अन्दर आने का प्रयत्न त्यागकर पास ही राजा सहित बाहर बैठ जाता है और कुछ देर बाद राजा से कहता है कि देखिए, यह प्रमदवन सूना है। मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ और वह यह कि आपकी एक रानी तो देवलोक को गई, दूसरी इस समय आपके पास नहीं है। अब आप सच सच कहिए कि आपको इन दोनों में से कौन सी अधिक प्यारी है। रानियाँ पीछे से कुंज में बैठी हुई इन बातों को सुन रही हैं। राजा बड़े संकट में पड़ जाता है और वसंतक के अति आग्रह करने पर लाचार होकर कहता है कि यद्यपि रूप, शील और माधुर्य के कारण मैं पद्मावती को विशेष आदरणीय समझता हूँ, परंतु तो भी वह वासवदत्ता में मुग्ध बने हुए मन को उधर से हटा नहीं सकती।

यह सुन एक चेटी कहती है कि देखिए, महाराज का कैसा अदाक्षिण्य है। परंतु उत्कृष्ट विचारवाली पद्मावती उत्तर देती है कि नहीं, यह आर्य्यपुत्र की गुणविशिष्टता है कि वे अब भी आर्य्या वासवदत्ता के गुणों का स्मरण करते हैं। राजा इस संपर्क से अपनी भूतपूर्व रानी का अनुचिंतन करते हुए बाष्पाकुल हो जाता है और वसंतक मुख धोने के लिये जल लेने जाता है। परंतु ज्यों ही वह एक कमल के पत्ते में जल लेकर आता है, त्यों ही उसे मार्ग में पद्मावती रोक लेती है और स्वयं वह जल लेकर राजा को भेंट करती है। राजा उसको देखकर चौंक पड़ता है, परंतु अव्यक्त रूप से वसंतक द्वारा समझाए जाने से कहता है—

अये मानिनी काश फूले यहाँ हैं। निशानाथ जैसी जिन्हों की प्रभा है।
उड़े आँख में लेश मेरे गिरे हैं। इसी से, प्रिये! आँसु आए हुए हैं॥

पाँचवें अंक में यह बताया है कि पद्मावती के सिर में दर्द हो जाता है और एक चेटी इस समाचार को वासवदत्ता से, और वसंतक राजा से निवेदन करता है। राजा जो कि पहले ही से अपनी पूर्व सहधर्मिणी के वियोग की वेदना से विदीर्णहृदय है, विश्रम-स्थानभूत नवोढ़ा के अस्वास्थ्य का समाचार सुनते ही पर्याकुल हो जाता है और तुरंत वसंतक के साथ समुद्रगृह को, जहाँ वह बतलाई जाती है, चल देता है। वे दोनों उस स्थान पर पहुँचते हैं, परंतु पद्मावती को वहाँ नहीं पाते। वसंतक कहता है कि कदाचित् रानी यहाँ आकर चली गई हों। परंतु राजा कहता है कि बिछौने में कोई सलवट नहीं है, चादर ज्यों की त्यों पड़ी है, न तुलाई की घड़ी उधड़ी है, न तकिया किसी लेप से मैला हुआ है; इससे स्पष्ट है कि वह अभी आई ही नहीं। अतएव हम यहाँ बैठ उसकी प्रतीक्षा करें। वह पलँग पर बैठता है और थोड़ी ही देर में उसे शीतल समीर की सुगंध के प्रभाव से नींद आने लगती है जिसे रोकने के लिये वह वसंतक से कहता है कि मित्र! कोई कथा कहो। वसंतक यह कहते हुए कि अच्छा आप हुँकार भरते जायँ,

कथा प्रारंभ करता है—"उज्जयिनी नाम की एक नगरी है। वहाँ कई अत्यंत रमणीय स्नानागार हैं।" राजा सविच्छेद कहता है, क्या कहा? उज्जयिनी? वसंतक कहता है, अच्छा यदि आपको यह कथा पसन्द नहीं है तो दूसरी कहता हूँ। राजा कहता है, पसंद ना-पसन्द की बात नहीं है; किन्तु प्यारे मित्र!

स्मराम्यवन्त्याधिपतेः सुतायाः प्रस्थानकाले स्वजनं स्मरन्त्याः।
बाष्पं प्रवृत्तं नयनान्तलग्नं स्नेहान्ममैवोरसि पातयन्त्याः॥

आशय—मुझ मन्दभाग्य को उज्जयनी शब्द के सुनते ही वह उज्जैन नरेंद्र-नंदिनी याद आ गई। वह दृश्य ज्यों का त्यों मेरी आँखों के सामने है कि जब हम उज्जैन से चले, तब कुटुंबीजनों का स्मरण कर स्नेह के अश्रु उस प्रिया वासवदत्ता ने मेरी गोद में गिराए थे।

वसंतक कहता है, तो आप दूसरी कथा सुनें—"ब्रह्मदत्त नाम का एक नगर है। वहाँ कांपिल्य नाम का राजा राज्य करता था"। राजा कहता है, क्या कहा? क्या कहा? वह वही अशुद्ध वाक्य फिर बोलता है, जिसे सुन राजा समझाता है कि मूर्ख! राजा ब्रह्मदत्त* और नगर

---

* यह तो निश्चय के साथ कौन कह सकता है कि वसंतक क्या कथा कहना चाहता था, परंतु इतना अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि वह उपस्थित प्रसंग के अनुकूल किसी प्राचीन प्रसिद्ध कथा को कहता। वाल्मीकि रामायण के बालकांड में विश्वामित्र के वंश की जो कथा लिखी हुई है, उसमें राजा ब्रह्मदत्त और नगर कांपिल्य दोनों मिल जाते हैं। तेंतीसवें सर्ग के निम्नलिखित श्लोक इस विषय में अवलोकनीय हैं।

तस्याः प्रसन्नो ब्रह्मर्षिर्ददौ ब्राह्ममनुत्तमम्।
ब्रह्मदत्त इति ख्यातं मानसं चलितः सुतम्॥
स राजा ब्रह्मदत्तस्तु पुरीमध्यवसत्तदा।
कांपिल्यां परया लक्ष्म्या देवराजो यथा दिवम्॥
स बुद्धिं कृतवान्राजा कुशनाभः सुधार्मिकः।
ब्रह्मदत्ताय काकुत्स्थ दातुं कन्याशतं तदा॥

कांपिल्य ऐसा कह। तदनन्तर वसन्तक राजा ब्रह्मदत्त, नगर काम्पि
राजा ब्रह्मदत्त, नगर काम्पिल्य यों बेर बेर घोकता है और राज
नींद आ जाती है। वसन्तक राजा को सोया हुआ देख ठंड हो
कारण अपना ओढ़ना लेने चल देता है। उधर चेटी वासवदत्त
पास पहुँच पद्मावती की शिरोवेदना की सूचना देती है जिसे
वह आकुल हो तुरंत समुद्रगृह को, जहाँ पर वह बताई जाती
चल देती है। वास्तव में पद्मावती समुद्रगृह में नहीं आती है।
राजा लेटा हुआ है। वासवदत्ता उस स्थान में सहसा घुस आत
और सोए हुए राजा को पद्मावती ही समझ लेती है। वह यह
कर प्रसन्न होती है कि इसे नींद आ गई है, यह नियमशील
चैन की साँस ले रही है और मन में समझती है कि अवश्य इस
बेचैनी दूर हो गई होगी। वह सोचती है कि शय्या के एक भाग
करवट लेकर सोई हुई मानों यह सूचित कर रही है कि मुझे आ
गन कर। अच्छा मैं भी इसके पास सो जाऊँ। ऐसा विचार कर
भी सो जाती है। परन्तु ज्यों ही वह सोती है, त्यों ही राजा जिस
मन जागते हुए वासवदत्ता के स्मरण में लगा हुआ था, स्वप्न में का
है "हा वासवदत्ता"। यह सुनते ही वह सहसा उठ खड़ी होती है
उसका भ्रम क्षणमात्र को निवारण हो जाता है। वह पहचान जा
है कि ये तो आर्यपुत्र हैं, न कि पद्मावती। राजा फिर स्वप्न में कह
है "हा अवंति राजपुत्री!" वासवदत्ता को निश्चय हो जाता है
राजा स्वप्नावस्था में हैं। वह यह सोच कि यहाँ और कोई तो है

तमाहूय महातेजा ब्रह्मदत्तं महीपतिं।
ददौ कन्याशतं राजा सुप्रीतेनान्तरात्मना॥
यथाक्रमं तदा पाणिं जग्राह रघुनन्दन।
ब्रह्मदत्तो महीपालस्तासां देवपतिर्यथा॥
स्पृष्टमात्रे तदा पाणौ विकुब्जा विगतज्वराः।
युक्तं परमया लक्ष्म्या बभौ कन्याशतं तदा॥ इत्यादि।

नहीं, अपने नेत्रों और हृदय को तृप्त करने के लिये तनिक ठहरने का उद्यम करती है। राजा फिर स्वप्न में, कहता है "हा प्रिये! हा प्रिय शिष्ये! बोल तो सही"। वासवदत्ता उत्तर देती है, बोलती हूँ; स्वामी, बोलती हूँ। राजा फिर कहता है—"क्या रूठ गई"? वह कहती है नहीं, नहीं दुःखी हूँ। राजा फिर स्वप्न में ही कहता है—"यदि रुष्ट नहीं हो तो आभरण क्यों नहीं पहने हो?" रानी फिर वहीं खड़ी हुई सोचती है कि देखें, इसके आगे क्या करते हैं। राजा कहता है—"क्या विरचिका को याद करती हो*?" वासवदत्ता सरोष कहती है—यहाँ पर भी विरचिका! राजा हाथ को थोड़ा सा फैलाता है और कहता है—लो, मैं तुम्हें प्रसन्न करूँ। वासवदत्ता यह समझकर कि मुझे बहुत देर हो गई और कोई देख न ले, राजा के पलंग से लटके हुए हाथ को धीरे से पलंग पर कर चलने का विचार करती है, परन्तु ज्यों ही वह राजा के हाथ को छूती है, त्यों ही राजा जाग पड़ता है। रानी तुरन्त भाग जाती है। राजा भी वासवदत्ता! ठहर! ठहर! कहता हुआ उसके पीछे भागता है, परन्तु पूर्ण सचेष्ट न होने से अंधाधुन्ध भागते हुए कमरे के किवाड़ से धक्का खाकर गिर पड़ता है। इतने ही में वसन्तक लौट आता है और कहता है—आप सो चुके? राजा कहता है कि मित्र! तुम्हें एक अत्यन्त आनन्द की बात सुनाता हूँ और वह यह है कि प्यारी वासवदत्ता जीवित है। वह अभी शय्या में सोते हुए मुझको जगाकर चली गई। उसके जल जानेकी झूठी खबर उड़ाकर रुमण्वान् ने मुझको ठग लिया है। वसन्तक कहता है कि अजी अब वासवदत्ता कहाँ है? उसे बीते दिन बीते। हाँ एक तरह से आपका कहना भी यथार्थ है। देखिए, मैं जो,

* कथासरित्सागर में लिखा है कि विरचिका नाम की कोई भोगिनी थी, उससे उदयन ने गुप्त भोग किया था। यह रहस्य जब वासवदत्ता को ज्ञात हुआ तो वह बहुत अप्रसन्न हुई। पति का सपत्नी को स्मरण करना स्त्री को दुःखदायक होता ही है।

आपमें यह उज्जैन के आनालयवाली कथा कह रहा था, उसके संस्कार से वह याद आई हुई स्वप्न में साक्षात् हो गई होगी। इस पर राजा कहता है—

यदि होवे यह स्वप्न, धन्य धन्य अबुधित दशा।
करता रहे प्रसन्न, विभ्रम ही यदि होय यह॥

विदूषक कहता है कि रहने दीजिए, अब अपनी हँसी मत कराइए। इस नगरमें अवन्तिसुंदरी नाम की एक यक्षिणी रहती है। संभव है, वही आपको दिखाई पड़ी हो। राजा पर ये चिकनी चुपड़ी बातें कुछ भी असर नहीं करतीं। वह फिर कहता है कि भाई!

स्वप्नस्यान्ते विबुद्धेन नेत्रविप्रोषिताञ्जनम्।
चारित्रमपि रक्षन्त्या दृष्टं दीर्घालकं मुखम्॥

आशय—स्वप्नके पश्चात् जागे हुए मैंने अपने शीलकी रक्षा करती हुई, सुरमा-रहित नेत्रवाली तथा लंबे अलकोंवाली (वासवदत्ता) का मुख देखा।

वसंतक राजा को सान्त्वना देता है और इतने ही में महाराज दर्शक का एक कंचुकी आकर कहता है कि "महाराज! हमारे महाराज दर्शक ने कहलाया है कि अमात्य रुमण्वान् "आरुणि" को दबाने के लिये बहुत सेना लेकर आ पहुँचा है। मेरी भी विजयी चतुरंगिणी सेना तैय्यार है। शत्रुओं में फूट कर दी है। शत्रुओं के हाथ में जाने पर भी आपके गुणों के संबंध में अनुरागी प्रजा को आश्वासन दे दिया है। शत्रुओं से रक्षा, शत्रु के ध्वंस करने में जो जो सहायक बातें हैं वे सब मैंने कर ली हैं। सेना गंगा के पार पहुँच चुकी है और अब आप गए हुए वत्सदेश (के विभाग) को पुनरपि अपने हाथ में आया हुआ समझिए।" यह सुन राजा युद्धके लिये चल देता है और पटाक्षेप होता है।

छठे अंक में जो इस रूपक का अंतिम अंक है, यह बताया है कि महासेन का भेजा हुआ रैभ्य गोत्र का कंचुकी, और रानी अंगारवती की भेजी हुई वसुन्धरा नाम की वासवदत्ता की धात्री आती है।

प्रतीहारी कहती है कि यह समय महाराज से मिलने के लिये उचित नहीं है। आज जब वे रणवास के झरोखे में थे, तब किसी ने वीणा बजाई। उसको सुनकर उन्होंने कहा कि यह शब्द "घोषवती" वीणा का सा है। तदनंतर महाराज ने स्वयं वीणा बजानेवाले के पास आकर पूछा कि तुमको यह कहाँ से प्राप्त हुई? उसने उत्तर दिया कि यह मुझको नर्मदा नदी के किनारे दूब के झुंड में मिली। यदि आपको इससे कुछ प्रयोजन हो तो आप इसे रखिए। पश्चात् महाराज ने उसे अपनी छाती से लगा लिया और वे मूर्छित हो गए। जब सचेत हुए तो बोले "ऐ घोषवती! तू मिल गई। परंतु वह (वासवदत्ता जो तुझे बजाया करती थी) नहीं मिलती"। यह ऐसा अनवसर है, अतएव मैं आप लोगों का यहाँ आना कैसे महाराज से निवेदन करूँ! कंचुकी कहता है कि हमारे आने का संदेश प्रसंग के अनुकूल ही है; तुम अवश्य निवेदन करो। इतने में स्वयं राजा वीणा लिए हुए रणवास से उतरते हुए दृष्टिगोचर होते हैं और वे बड़े आर्द्र-हृदय से रानी वासवदत्ता को याद करते हैं। तदनंतर रैभ्य और वसुन्धरा का आगमन उनसे निवेदन किया जाता है। राजा सोचते हैं कि क्या यह वृत्तान्त (वासवदत्ता का जल जाना) इतना जल्दी उनके कानों तक पहुँच गया? वे पद्मावती से इन लोगों के आने के विषय में कहते हैं और वह उत्तर देती है कि "बहुत उत्तम, मेरे बंधुवर्ग के कुशल वृत्तान्त को सुनना मुझको भी अभीष्ट है"। राजा कहता है—धन्य है कि तुम वासवदत्ता के बंधुवर्ग को अपना बंधुवर्ग मानती हो। यह औदार्य तुम्हारे कुल और शील के अनुकूल है। पद्मावती आसन पर नहीं बैठती और राजा के इस विषय में पूछने पर उत्तर देती है कि कदाचित् आपका यह दूसरा विवाह उन लोगों को अप्रिय लगेगा। राजा उसे वहीं बैठा लेता है और वह कहती है—पिता ने या माता ने इन लोगों के द्वारा क्या कहला भेजा होगा, इस चिन्ता में मैं मग्न हूँ। राजा कहता है—मैं भी इसी संबंध में ऐसा डरा हुआ हूँ जैसे पुत्र पिता को अप्रसन्न करके डरता है। तदनंतर

में अत्यंत कुतूहलाक्रांत थी, कहती है "आर्य्यपुत्र ! मैं चित्र में लिखे हुए गुरुजनों के दर्शन तथा उनको नमस्कार करना चाहती हूँ।" धात्री उसे वासवदत्ता का चित्र दे देती है और वह उसे देखकर सशङ्क हो मन में सोचती है कि यह आकृति तो आर्या आवंतिका (तपस्विनी के वेष में यौगंधरायण का बताया हुआ वासवदत्ता का नाम) से बहुत कुछ मिलती है। वह पूछती है कि आर्य्यपुत्र ! क्या यह आर्या की आकृति के समान ही है ? राजा कहता है कि समान क्या, मानो साक्षात् है। हाय--

अस्य स्निग्धस्य वर्णस्य विपत्तिर्दारुणा कथम्।
इदं च मुखमाधुर्यं कथं दूषितमग्निना ॥

आशय--इस कोमल रूप पर यह दारुण विपत्ति कैसे आई ! हाय इस मुखमाधुर्य को अग्नि ने कैसे बिगाड़ा।

पद्मावती कहती है कि आर्य्यपुत्र की तसवीर को देखकर मुझको ठीक ज्ञान हो जायगा कि यह आर्या के सदृश है या नहीं। वह राजा का चित्र ले लेती है और उसे ठीक राजा की आकृति के समान खिंचा हुआ पाती है। राजा पूछता है कि यह क्या बात है ? जब से आपने यह चित्र देखा है, तब से आपको प्रसन्न होते हुए भी उद्विग्न के समान देखता हूँ। वह उत्तर देती है कि इस प्रतिकृति के समान ही स्वरूपवाली एक स्त्री यहाँ रहती है। जब मैं कन्या थी, तब एक ब्राह्मण ने "यह मेरी बहन है" ऐसा कहकर मुझे धरोहर की तरह सौंप दिया। इतने ही में प्रतीहारी आकर निवेदन करती है कि उज्जयिनी का एक ब्राह्मण आया हुआ है। वह कहता है कि मेरी बहन महारानी के पास धरोहर है। राजा उसे योग्य शिष्टाचार के साथ अंदर बुलवाता है और उसका शब्द सुनकर मन में कहता है कि यह तो पहले कभी मिला हुआ सा मनुष्य है। इसकी बोली तो पहले सुनी हुई सी है। राजा बड़े विस्मय में पड़ जाता है और ज्यों ही पद्मावती तुरंत जाकर आवंतिका को लेकर आती है, त्यों ही वसुंधरा धात्री उसे देखते ही कहती है--अरे ! यह तो राजकुमारी

विषय में कुछ वार्तालाप कर विपत्ति विमुक्त पुत्री तथा उस उपद्रव के संबंध में सहानुभूति प्रकट करने को आए हुए महाजनों से मिलने चला जाता है। यह प्रथम अंक का सार हुआ।

अविमारक का "संतुष्ट" नामक मित्र, जो इस नाटक में विदूषक है, घूमता हुआ आता है और एक चेटी को देख कर पूछता है, कहाँ तुम यहाँ कैसे? वह कहती है कि मैं भोजन का निमंत्रण देने के लिये किसी ब्राह्मण को ढूढ रही हूँ। संतुष्ट कहता है—वाह! मैं जो उपस्थित हूँ। मुझे क्या श्रमणक (बौद्ध साधु) समझ रक्खा है? वह कहती है कि तुम अवैदिक हो। यह सुन संतुष्ट कहता है कि *रामायण नाम का एक नाट्य शास्त्र है। उसके ५ श्लोक मैंने वर्ष भर* के भीतर ही पढ़े हैं। इतना ही नहीं किंतु उनका अर्थ भी जानता हूँ। अतएव तुम्हें मुझ जैसा अक्षरज्ञ और अर्थज्ञ विप्र मिलना दुर्लभ है। उसके पांडित्य की परीक्षा करने के लिये वह अपनी उँगली की अँगूठी दिखाकर पूछती है कि बताओ यह क्या अक्षर है? निरक्षर भट्टाचार्य कुछ सोचकर कहता है कि यह अक्षर तो मेरी पुस्तक में है ही नहीं। चेटी इतने ही में उसके हाथ की अँगूठी देख लेती है जिसे वह चट उतार कर बड़े चाव से उसे देखने को दे देता है। वह उसे लेकर भाग जाती है। अविमारक कुरंगी के रूप के अनुरूप योवन और यौवन के सदश सौकुमार्य को निहार मोहित हो जाता है और उस उपप्लव से आकर उसी के चिन्तन में मग्न रहता है। कुरंगी पर भी इस युवा का वैसा ही प्रभाव पड़ता है और उसकी धात्री इसके निवासस्थान पर दो एक चेटियों को साथ लेकर आती है। अविमारक चिन्ताग्रस्त हो अकेला बैठा हुआ अपने आप ही अपनी प्रियतमा की प्रशंसा में कुछ उच्चारण करता है। धात्री पूछती है—आप क्या चिन्तन करते हैं? वह उत्तर देता है कि योग शास्त्र। इस पर यह कहती है कि हमारे महलों में आप से भी अधिक योग का चिन्तन करनेवाला एक प्राणी है। उसके साथ आप का अच्छा योग विधान होगा।

से भी मिलता है और उसके रहस्य को जान करुणाकृष्ट हो उसे एक अँगूठी दे देता है, जिसमें ऐसा प्रभाव है कि यदि कोई उसे दहिने हाथ की उँगली में पहन ले तो वह अदृश्य और बायें हाथ की उँगली में पहन ले तो प्रकृतिस्थ हो जाता है। अविमारक इस अँगूठी को लेकर वापस आता है और मार्ग में अपने मित्र संतुष्ट का, जिससे मिले बहुत दिन हो गए थे, सानुराग चिंतन करता है। वह कहता कि यदि उस ब्राह्मण ने मेरा महलों में से निर्गमन सुन लिया है तब तो अच्छा है; नहीं तो वह बहुत संतप्त होगा। मेरा भी जीवन उसके बिना किस काम का है? क्योंकि—

स हि—गोष्ठीषु हास्यः समरेषु योधः शोके गुरुः साहसिकः परेषु।
महोत्सवो मे हृदि किं प्रलापैर्द्विधा विभक्तं खलु मे शरीरम्॥

आशय—वही अपने (संतुष्ट) समाज में साक्षात् हँसी है, युद्ध में योद्धा है, शोक में गुरु के समान है, शत्रुओं के उपस्थित होने पर वह साहसी है, मेरे हृदय का महोत्सव है, अधिक कहने से क्या, हम मानों एक जान दो शरीर हैं।

थोड़ी देर बाद वह अपने मित्र से मिल जाता है और अँगूठी पाने की कथा कहकर उसे भी उसका प्रभाव दिखा उसे साथ ले अंतःपुर में जाता है। इस प्रकार चतुर्थ अंक समाप्त होता है।

अविमारक का महलों से चला जाना कुरंगी को अत्यंत विह्वल कर देता है। वह अस्वस्थ हो जाती है और उसकी माता उसके लिये औषध का उपचार करती है जो निरर्थक सिद्ध होता है। वह दृष्टि-विलोभन का बहाना कर प्रासाद के ऊपर चढ़ जाती है। इतने ही में अविमारक भी अपने मित्र के साथ उस ओर आ जाता है और दूर ही से उसे देख अपने मित्र को दिखाकर कहता है—वयस्य! एषा सा कुरङ्गी। यैषा,

रोगादकालागुरुचन्दनार्द्रा, विमुक्तभूषा गतहावभावा।
विभाति निर्व्याजमनोहराङ्गी, वेदश्रुतिर्हेतुविवर्जितेव॥

आशय—प्यारे सखा! आप कुरंगी को देखिए? देखिए, वह रोग

के कारण विना अवसर भी अगर, चंदनादि सुगंधियाँ लगाकर तर हो रही हैं। न कोई आभरण पहने हुए है, न किसी प्रकार का उसमें हावभाव है। अकृत्रिम मनोहर अंगवाली वह ऐसी सुशोभित हो रही है जैसे विना हेतु (प्रमाण) वेद की ऋचा।

वह उसे देख संतुष्ट हो कहता है कि आप अपने लिये कहा करते थे कि मैं संसार में सुरूप हूँ। परंतु आप इसके स्वभावरमणीय रूप से पराजित कर दिए गए। मैं जानता हूँ कि यह आपके वियोग से दुखली हो गई है। उधर कुरंगी नलिनिका से, जो उसके स्वास्थ्य संबंधी समाचार पूछने आती है, मिलती है और उष्ण श्वास लेती हुई, चारों ओर देखती हुई, नेत्रों से नीर बहाती हुई, फाँसी लगाकर मरने को तैयार होती है। परंतु इतने में सहसा बिजली की कड़क सुन घबरा जाती है और रक्षा के लिये पुकारती है। अविमारक जो कुछ दूर से छिपकर इस दृश्य को देख रहा था, तुरंत आगे बढ़कर उसे पकड़ लेता है और सांत्वना देता हुआ कहता है—

अयं खल्वस्याः परिष्वङ्गः,

सततपरिचितो मनोभियोगादधिकरसः प्रथमात् समागमात्।

रणशिरसि नृपेण साहसात्तः विजय इवाद्य मयानुभूयते॥

आशय—आज यह परिष्वङ्ग (आलिंगन) कितना अपूर्व है! यह कोई नया नहीं है तो भी सबसे प्रथम के आलिंगन से अधिक रसवाला है। मैं इस समय मानों युद्ध में राजा के साहस से प्राप्त किए हुए विजय के जैसा आनंद अनुभव कर रहा हूँ।

संतुष्ट इनको बाष्पाकुल देख मन में विचारता है कि मुझको भी मित्र के दुःख को देख दुःखी हो रोना चाहिए। वह रोने का यत्न भी करता है परंतु विफल हो कहता है—क्या करूँ, मेरे तो नेत्रों में से एक भी आँसू नहीं गिरता। जब मेरा बाप मरा था, तब भी बहुत व्यवसाय करने पर मैं रुदन करना प्रारंभ कर सका था। वह अनुगुण रुदन करता है जिसे सुन अविमारक कहता है कि बस! हँसी रहने दो (अदृष्णो हि स्नेहो नाम) स्नेह में दुम को मनिक

भी स्थान नहीं है। (प्राज्ञस्य मूर्खस्य च कार्ययोगे, समत्वमभ्येति तनुर्न बुद्धिः) समझदार और मूर्ख का शरीर कार्ययोग में एक सा प्रयुक्त दिखाई देता है न कि बुद्धि। तदनंतर नलिनिका अंगरागादि लेकर कुरंगी के पास आती है और अविमारक से मिलती है और पूछती है कि आप किस प्रकार यहाँ आ सके। वह उसका अपने मित्र संतुष्ट से परिचय कराता है और कहता है कि मेरे यहाँ आनेकी कथा अथ से इति तक तुमको यह बतलावेगा। तदनंतर अविमारक कुरंगी को परम दर्शनीय मेघमंडल दिखाता हुआ कहता है—

व्योमार्णवोर्मिसदृशा निनदन्ति मेघा
मेघप्ररोहसदृशाः प्रपतन्ति धाराः।
रक्षोङ्गनाभ्रुकुटिवत् तडितः स्फुरन्ति
प्राप्तोऽप्रयौवनघनस्तनमर्दकालः॥

आशय—आकाशरूपी समुद्र में तरंगरूपी मेघ शब्द कर रहे हैं, मेघ की वृद्धि के समान धाराएँ गिर रही हैं, राक्षसों की स्त्रियों के सक्रोध भौंह चढ़ाने के समान बिजली चमक रही है, सचमुच यह विहार करने योग्य समय उपस्थित हुआ है।

फिर मेंह बरसने लगता है और वे दोनों अंदर चले जाते हैं। यों पाँचवाँ अंक समाप्त होता है।

(शेष आगे)

(७) श्रीमती अहिल्याबाई

[लेखक—मुंशी देवीप्रसाद जी जोधपुर]

हुलकरों के घराने में अहिल्याबाई साहिब भी वैसी ही वीर प्रकृति की रानी हुई थीं जैसी छत्रपति महाराज शिवाजी के घराने में ताराबाई साहिबा थीं। इनका जन्म सिंधिया कुल में हुआ था और शादी हुलकर घराने में महाराज मल्हारराव के बेटे खंडेराव से हुई थी। इन दोनों चाँद सूरज के संयोग से दो लड़का-लड़की रूपी तारे या रत्न उत्पन्न हुए थे। लड़के का नाम मालीराव और लड़की का मजताबाई था।

खंडेराव बाप के जीते जी ही भरतपुर के घेरे में गोली लगने से वीर-लोक को चले गए थे जिससे मल्हारराव महाराज के पीछे संवत् १८२५ में मालेराव हुलकर गद्दी पर बैठे और ९ महीने पीछे ही भूत* लग जाने से मर गए। बाई साहिबा ने शोक-संताप और विलाप तो बहुत किया, पर बस की बात नहीं थी। धीरज धरकर संतोष कर लिया। राज का काम तो बन्द नहीं रह सकता था और फिर ऐसे गोलमाल के समय में जब कि हर तरफ गदर मचा हुआ था और रात दिन की पकड़ धकड़ में सावधान रहने के बिना काम नहीं चलता था। इसलिये लाचारी से अहिल्याबाई साहिबा ने गद्दी पर बैठकर राज करना शुरू किया। पुराना बाब दीवान गंगाधर मैदान खाली देखकर अपना ही अख्तियार रखना चाहता था और

---

* मालेराव ने एक निरपराध दरजी को मार डाला था। वह भूत बनकर उनको लगा और कहा कि मैं महाराज की जान लूँगा। अहिल्याबाई साहिबा ने तरह तरह से न्योछरे और विनती करके उसे राजी करना चाहा, परंतु वह राजी न हुआ। निदान महाराज के प्राण लेकर गया। हुलकर राज्य में यह बात बहुत प्रसिद्ध है और मालवे की हिंदी उर्दू तवारीखों में भी सविस्तर लिखी है।

क्या क्या बुराई है और फिर कैसे कैसे पराई टाँगें अपने घर में अड़ती हैं।

उन्होंने भी बाई साहिबा की बात पसंद की और धर्म वचन देकर कहा कि यदि राघोबा इस मामले में टाँग अड़ावेगा तो हम उससे लड़ेंगे और आपकी बात न जाने देंगे।

दीवान को कहाँ चैन पड़ता था। वह फिर राघोबा के पास गया। राघोबा ने बाई साहिबा को बड़ी ताकीद से लिखा कि हमारी बात मानो, लड़का गोद ले लो, काम दीवान को सौंप दो; नहीं तो हम आवेंगे और जबरदस्ती लड़का गोद दे देंगे।

बाई साहिबा ने जवाब लिखा कि स्त्रियों से भी कोई लड़ता है। जो मर्द होते हैं वे ऐसी बात से बहुत बचते हैं। हमसे लड़ोगे तो तुम्हीं बदनाम होगे, इज्जत जायगी; और यहाँ से गई हुई इज्जत फिर कभी वापस नहीं आवेगी। मेरा कुछ नहीं जायगा। जीती तो सारे नगर में यश छा जायगा; हारी तो लोग कहेंगे स्त्री थी। और तुम जो जीते भी तो दुनिया क्या कहेगी। यही कहेगी कि एक अबला विधवा स्त्री को मारा, क्या बड़ा काम किया। और जो हारे और भागे तो फिर क्या कहेगा। यह कलंक का टीका कभी तुम्हारे माथे से नहीं मिटेगा, कहीं मुँह नहीं दिखा सकोगे।

राघोबा को यह लिखकर श्रीमंत पेशवा को भी सब हाल की अरजी लिखी और राघोबा दादा से लड़ने की तैयारी की। सरदारों को बुलाया और हुलकरों का सब राज्य संकल्प कर दिया। यह सुनकर राघोबा दादा फौज लेकर आया। बाई साहिबा भी लड़ने को उठ खड़ी हुईं। चार कमानें हाथी के हौदे में बाँधीं; तीरों के दस्ते भी रख लिए, हथियार लगाए बख़्तर पहना, हाथी पर बैठीं। सब फौज साथ ली, लड़ने को चढ़ीं, राघोबा के सामने गईं।

राघोबा के सरदारों ने जब बाई साहिबा को इस तरह से काली कंकाली कालिका का रूप धारण किए हुए आते देखा तो उनके शस्त्र ढीले पड़ गए। राघोबा से कहने लगे कि हम तो इस

उनकी बोटी बोटी फड़कती थी। जैसे पिछले वर्षों में रानी दुर्गावती और चाँद बीबी ने अपने शत्रुओं से लड़कर साके किए थे, वैसे ही वे भी करके चाहती थीं कि रणक्षेत्र में वीर गति को प्राप्त हों और भारत भूमि की वीर बालाओं की सूची में अपना नाम भी लिखा जायँ। उनकी तरफ से तो मरने में कुछ देर नहीं थी, परन्तु ईश्वर की इच्छा और ही थी; इसलिये उनकी यह मनोकामना तो पूरी न हुई, परन्तु दूसरी तरह से उनको जगत् में उतना ही यश मिल गया जितना कि लड़ने और जीतने, या वीर वृत्ति से प्राण देने में मिलता।

श्रीमंत माधवराव पेशवा साहब के पास जब बाई साहिबा की अरज़ी और अपने दादा साहब की चढ़ाई की ख़बर पहुँची तो उन्होंने राघोबा दादा को लिखा कि ख़बरदार, अहल्याबाई से मत लड़ना। उन पर कुछ जियादती भी न करना। हुलकर के घराने की मुखिया अब यही हैं। तुम भी उनको ऐसा ही समझो और उनका सब तरह से मन और मान रक्खो।

जब यह हुक्म भी राघोबा के पास पहुँचा तो वह लड़ाई का इरादा छोड़ बैठा। इससे सब प्रजा को बहुत ख़ुशी हुई और बाई के चित्त को भी शान्ति हो गई। अब वे तसल्ली से राज के सब काम करने और देखने लगीं। पर औरत की जात थी। कई काम नहीं भी कर सकती थीं जो मर्दों के करने के थे, जिनमें मुख्य काम फ़ौज की सँभाल का था और उन दिनों में इससे बड़ा और कोई काम भी नहीं था। इसलिये बाई साहिबा ने बहुत सोच समझकर सब लोगों की सम्मति से तुकू जी हुलकर को बुलाकर सारी फ़ौज का मुखिया बना दिया।

तुकू जी हुलकर मल्हारराव महाराज के चचेरे भाई जानूजी के बेटे थे। बहुत बहादुर और बुद्धिमान् थे। यही गुण देखकर मल्हार राव महाराज ने उनको एक पायगाह * का सरदार बना दिया था।

* सवारों का रिसाला।

तुक्कूजी ने अधिकार पाते ही सब जगह एक एक आदमी अपना भी भेज दिया था जिससे एक की जगह दो दो हाकिमों का हुक्म चलने से लोग कहने लगे थे कि यह बात कब तक निभेगी। एक दिन सब खेल बिगड़ जायगा; क्योंकि एक स्थान में दो तलवारें कहीं नहीं समाती हैं। इस प्रसंग से कई नटखट लोगों ने बाई साहिबा और तुक्कूजी के बीच में विरोध फैलाने की चेष्टा भी की थी; परंतु कुछ दाल नहीं गली, क्योंकि जब सौ सयानों का भी एक ही मत होता है, तब ये तो दो ही सयाने थे।

तुक्कूजी उमर में बाई साहिबा से बड़े थे, तो भी उनको माँ कहते थे; क्योंकि बड़ी भावज थीं; और उनका ऐसा हुक्म बजाते थे और ऐसे शुद्ध मन से सेवा करते थे कि बिरला ही कोई पेट का बेटा करेगा। बाई साहिब भी उनको बेटे के समान ही समझती थीं और उन पर बहुत दया रखती थीं। परन्तु उमर में उनसे छोटी थीं, इसलिये तुक्कूजी को मोहर छाप में अपना बेटा नहीं खुदाने दिया, मल्हारराव का बेटा खुदवाया था।

नारद गणेश नामक एक सरदार बाई साहिबा से दिल में लाग रखता और उनका बुरा चेतता था। उसने बहुत वर्षों तक तुक्कूजी को बाई साहिबा की तरफ़ से बहकाया; परंतु तुक्कूजी बिलकुल नहीं बहके। उसकी और बात तो मान लेते थे, किन्तु बाई साहिबा के विषय में कुछ नहीं सुनते थे; क्योंकि वे खूब जानते थे कि यदि मैं कुछ भी सिर उठाऊँगा, तो सब लोग मेरे दुश्मन हो जायँगे और मैं सारे संसार में बदनाम होकर निकाला जाऊँगा। क्योंकि बाई साहिबा बहुत नेक थीं; रैयत, फौज, ज़मीदारों, सरदारों और छोटे बड़े आदमियों पर मेहरबानी रखती थीं। मुसाफिरों तक की सार-सँभाल और परवरिश करती थीं। किसी का भी दिल नहीं दुखाती थीं। उनके इन सद्गुणों से सब उनके तावेदार थे, उनके हुक्म पर जान देने को तैयार थे। इसी लिये तुक्कूजी बहुत सावधान रहते थे और अपनी हद से आगे कदम नहीं बढ़ाते थे। यही सबब था जो उनकी और

बाई साहिबा की धाक खूब जम गई और यह इस कलिकाल में बहुत ही अजब बात थी।

बाईजी के राज्य के दो भाग थे। एक भाग तो सतपुड़ा पहाड़ के दक्षिण में था और दूसरा उत्तर में राजपूताना, बुंदेलखंड और हिन्दुस्तान की तरफ।

जब तुक्कूजी दक्खिन में होते तो सतपुड़े के दक्षिण के परगने सब उनके अधिकार में हो जाते थे। बुंदेलखंड, राजपूताना और हिंदुस्तान के मुल्क बाई साहिबा के अधीन रहते थे। और जब इधर आते तो उधर के मुल्क बाई साहिबा के कब्जे में हो जाते। और मज़ा यह कि इस लौटफेर में उन देशों का कुछ भी नहीं बिगड़ता था। मालवे और नीमाड़ देश हमेशा बाई साहिब के पास रहा करते थे। इनमें बाई साहिब की जिन्दगी तक तुक्कूजी कुछ दखल न कर सके। बाई साहिब के खज़ाने में २२ लाख की आमदनी होती थी। इसके सिवा ४ लाख रुपए और दो परगनों के आते थे। यह सब रुपया बाई साहिब जिस तरह से उचित समझतीं, खर्च करती थीं। इसके उपरांत जो और आमदनी होती थी, वह फौज की तनख्वाह में दी जाती थी। उसका हिसाब बनाया जाता था। मामूली खर्च और फौज की तनखाह चुकाने के बाद जो रुपया बचता, वह खजाने में जमा हो जाता था और बिना किसी बड़ी जरूरत के फिर नहीं निकाला जाता था। हाँ, जब कभी कोई बड़ा काम आ पड़ता, तब वह रुपया खर्च होता था। जो नौकर अपनी खुशी से लश्कर के साथ बाहर जाते थे, उनकी तनखाह तुक्कूजी देते थे। जोरों से लड़ना, फौज को दूसरे मुल्कों पर ले जाना और दुश्मनों से सुलह करना वगैरः काम बाई साहिब के हुक्म बिना नहीं होते थे।

तुक्कूजी बड़े बड़े मुकद्दमों को बाई साहब के हजूर में भिजवाते थे। दूसरे रईस बाई साहिब का ही रईस जानते थे। सब वकील बाई साहिब की खिदमत में हाजिर रहा करते थे। बाई साहबा के वकील पूना, हैदराबाद, श्रीरंगपट्टन, नागपुर, लखनऊ और कलकत्ते

में रहते थे। छोटे छोटे रईसों के भी वकील बाई साहब के दरबार में मौजूद थे। जिन राजाओं से बाई साहिब टाँका लेती थीं, उनके पास अपने मोतमिदों और मुसाहों को रखती थीं। इस इंतजाम से अच्छी तरह साबित होता है कि जब तक बाई साहिब जिंदा रहीं, बड़ी धूमधाम से राज करती थीं। हर एक काम अक्ल और तदबीर से होता था; बेइंतजामी और अंधाधुंधी नहीं थी*। रैयत आबाद और शाद थी। दोस्त खुश और दोस्त पामाल थे। किसीको सिर उठाने की ताकत नहीं थी। हर एक को उनका भय था। और यही कारण बाई साहब की नामवरी का था कि सेंधिया के मुल्क में तो फसाद था; वहाँ सरदार जालिम और हाकिम अन्यायी थे; अमनचैन नहीं था; और बाई साहब खुद इंतजाम फरमाती थीं। हर एक की दाद देती थीं। सतजुग का जमाना था। सब राजी खुशी थे। गैर मुल्कों से रैयत भाग भागकर उनके मुल्क में आती थी। बाई साहिब की नेकनामी होती थी जिससे उनकी रियासत बड़ी और उम्दा कहलाती थी। बाई साहिब के पिछले समय में महाजी सेंधिया की रियासत अकल तदबीर से, बड़ी बड़ी फतहों के होने तथा दगाबाजी और फरेब से बादशाही हाथ आ जाने से हुलकरों की रियासत से बढ़ गई थी; पर बंदोबस्त न होने से उतनी आसूदा न थी क्योंकि बाई साहब परगनों की नर्म जमाँबंदी करती थीं; महसूल जियादा नहीं लेती थीं जिससे मुल्क आबाद था, रैयत खुश थी, परगनों की आमदनी अधिक और फौज कम थी। परन्तु बाई साहिब की नेकनीयती से यह थोड़ी फौज ही मुल्क की हिफाजत के वास्ते बहुत थी। बाई साहब को यह भी यकीन था कि उनके नाम का दबदबा और फौज का डर अमन का सबब था। हिंदू धर्म में औरतों को परदा

---

* यहाँ से उर्दू तवारीख मालवे की नकल (जो एक मुसलमान मुंशी ने बनाई है) इस अभिप्राय से की जाती है कि एक निष्पक्ष अंग्रेजी नौकर का लिखा हुआ देशी लिखावटों से ज्यादा प्रामाणिक हो सकता है।

करना वाजिब नहीं है। बाई साहब परदे में नहीं रहतीं थीं; दरबार में आकर राज के काम करती थीं। सब परगनों का बंदोबस्त बहुत नरमी से होता था। पतनदारों के हक़ का बहुत ख़याल रहता था। इन्साफ के वक्त ख़ुदा का ख़ौफ़ और अपने ईमान का ख़याल रहता था। अपना हो चाहे दूसरा हो, सब का वाजबी इनसाफ़ होता था। रहम दिल होने पर भी किसी की ख़ातिर मंज़ूर नहीं थी, न किसी की हिमायत काम आती थी। ज़ालिम सज़ा पाता था, फर-यादी अपनी दाद को पहुँचता था; और बाई साहब हलके से हलके मुकदमे की भी ख़ुब तहक़ीक़ात किया करतीं। जब सच झूठ का निरूपण हो जाता था, तो वाजबी फैसले का हुक्म फरमाती थीं। इस न्याय और निर्धार से बाई साहब के मित्र तो क्या, शत्रु भी राज़ी थे, अदब से उनका नाम लेते थे। अब बाई साहब वैकुंठ को जा चुकी हैं। न वह ज़माना है और न कोई आदमी ही उनके ज़माने का ज़िंदा रहा है; लेकिन बाई साहिब का नाम सब छोटे बड़ों की ज़बान पर जगह पकड़ गया है। यह मालूम होता है कि बाई साहब को बहुत ज़माना नहीं हुआ है। मैं* जब इन्दौर में आया, अहल्याबाई का नाम लोगों की ज़बान पर पाया। पहले तो जाना कि नौकर और उनके वसीलेवाले ख़ुशामद से ज़ियादा तारीफ़ करते हैं, बढ़ाके से बात बढ़ाकर करते हैं। बाई साहब आख़िर तो औरत की ज़ात थीं। चौदहों विद्या निधान कहाँ से हो गईं। इसलिये गैर लोगों से पूछा। उन सब ने भी बहुत बढ़ाकर कहा। फिर तो यक़ीन हो गया और यह जान लिया कि बाई साहब को ख़ुदा की दी हुई अक्ल थी। और इसमें भी शक नहीं कि उनको गैब से कोई मदद मिलती थी। उन्होंने कभी किसी चुगलख़ोर और स्वार्थी की बात नहीं सुनी। बाई साहब अकसर यह कहा करती थीं कि हरेक काम का जवाब भगवान को देना है। एक दिन ज़रूर पूछताछ होगी। दुनिया चंद-रोज़ा है, चार दिन का बसेरा है, मौत हर दम ज़िंदगी के साथ है।

* अर्थात् मुनशी करीमबख़्श तवारीख़ मालवा का कर्ता।

इस पर अपने को भूल जाना कौन अक्ल की बात है। आखिर एक दिन मरना है। जो आखिरत का तोशा (पुण्य धर्म) पास हो तो वह मरना नहीं जीना है। अहलकार जो कभी चालाकी से लालच में डालते और फायदा बतलाकर जुल्म की तरफ़ ले जाना चाहते तो बाई साहिब किसी की नहीं सुनतीं और फरमातीं कि हम मरनेवाले हैं, दुनिया से एक दिन जाने को हैं, हमेशा कौन रहा है और रहेगा; आखिर तो पैदा करनेवाले से काम पड़ेगा। वहाँ कौन जवाब देगा, जब नेकी बदी का सवाल होगा। मरनेवाले को बहुत सावधानी से संसार में काम करने की ज़रूरत है। जो मालिक की शर्म नहीं करते, यह बात अकलमंदी से दूर है। दो दिन की जिंदगी पर गरूर और जुल्म करना, छल कपट से चलना! मुझे तो नरक की आग का डर है; तुम्हें खयाल सीमोज़र (चाँदी सोना) है।

बाई साहिब ने सब कामों के वक्त मुकर्रर किए थे। बिला तसाहुल वह वक्त पर होते थे। बाई साहब दिन निकलने से पहले जागती थीं। उस वक्त मामूली काम और पूजा करती थीं। फिर देर तक पुरान सुनती थीं। फिर खैरात करती थीं। खुद ब्राह्मणों को खाना खिलाती थीं। जब सब खाना खा लेते तो खुद तनावल फरमाती थीं। वह भी बेमजे होता था। बढ़िया खाना बाई जी ने छोड़ दिया था। खाना खाने के बाद पूजा होती थी। थोड़ा वक्त आराम करने में जाता था। जब बेदार होती थीं, पौशाक जेब-बदन फरमाकर दरबार में इजलास करती थी। शाम तक गरीबों और मजलूमों की दाद देती थीं। शाम को फिर पूजा करती थीं। फिर खासा नोशजाँ फरमाती थीं। जब पहर रात गुजरती, दरबार खास की तैयारी होती। आधी रात तक रियासत के काम होते। अहम काम अंजाम पाते। इसके बाद आराम करती थीं। हर रोज बिला नागा यही कायदा रखती थीं। जब कोई काम जरूरी इत्तफाक से पेश आता या कोई दिन व्रत या त्योहार का होता तो वह भी करती थीं। लेकिन मामुली कामों में फरक नहीं आने देती थीं। कौल और इक-

रार का निबाह थी। वादा पूरा होता था। दूसरे सरदारों से अहदो-पैमान ऐसे मज़बूत कर लिए थे कि किसी को सिर उठाने की ताकत नहीं होती थी। उनके इलाके पर किसी ने हमला नहीं किया। हमला कैसा, आँख उठाकर नहीं देखा। एक बार उदयपुर के राणा ने सिर उठाया। उसने अपनी कौम के सरदार की मदद के वास्ते जिससे महाराज मल्हारराव हुलकर ने रामपुरा वगैरः मुल्क ले लिया था, बाई साहिब के मुल्क पर हमला किया, लेकिन हार अक मार कर चला गया। सबसे अजब यह बात थी कि उनके राज में उनके नौकरों ने भी कभी आपस में लड़ाई नहीं की।

बाई साहिब ने कभी किसी की चुगली और शिकायत नहीं सुनी। चुगली शिकायत करनेवालों की ज़बान बंद रही। दंगा फसाद करनेवालों और लुटेरों पर सख्ती होती थी; उनको सज़ा मिलती थी। सब को डर था। चोरी और लूट का कोई नाम नहीं जानता था। भूख और प्यास का चर्चा नहीं था। क्योंकर यह होता? उनके महल में हरेक आसूदा था। उनके इलाके में कंगाल नाम को नहीं था।

छुड़ा देता है; क्योंकि उसका ख़याल तो एक ही जान पर पड़ता है, और इसका दुख एक घराने को होता है।

इन्दौर इस दौर (समय) में एक गुमनाम गाँव था। बाई साहिब ने मालदार शहर बना दिया। उनको इन्दौर की आबादी का बहुत ख़याल था। इन्दौर के रहनेवाले सब सुखी थे। एक बार तकूजी दुख-कर इन्दौर में आए। स्वार्थी दोषियों ने कहा, इस शहर में बहुत माल है; फौज का खर्च न मिलने से बुरा हाल है। कुछ रुपया यहाँ से लीजिए और सिपाहियों को बाँट दीजिए। एक मालदार साहूकार उन्हीं दिनों मर गया था। उन्होंने उसका माल छीन लिया। उसकी औरत महेसर में बाई साहिब के पास गई; नालिशी हुई। बाई तकूजी पर बहुत ख़फा हुईं। उसका सब माल दिलवा दिया और अपनी तरफ से ख़िलअत भी इनायत किया। तुकूजी को हुक्म भेजा कि इन्दौर से अभी कूच कर जाओ, मेरी रैयत को न सताओ। तकूजी ने अपना कसूर माफ कराया और इन्दौर से कूच कर दिया।

महाजी सिंधिया बाई साहब के मददगार तो थे, परंतु इस बहाने से अपना काम बनाते थे। बाई साहिब उनकी चालों को नहीं समझती थीं। उन्होंने पहले पहले उनका भेद नहीं जाना। निदान महाजी सिंधिया ने बाई साहिब से ३० लाख रुपया उधार लिया और ख़त भी लिख दिया, परंतु उनको रुपया चुकाने का ध्यान नहीं था। हाँ, अपने अफसरों को यह कह रखा था कि जब बाई साहिब मदद माँगें तो फौरन दो। दोनों के इलाके ऐसे मिले हुए थे कि एक दूसरे के राज्य में कुछ फर्क नहीं कर सकते थे और एक दूसरे की मदद भी इतनी जल्दी कर सकते थे कि दूसरा सरदार नहीं कर सकता था। इसमें भी सिंधिया की यह चाल और घात थी कि बाई साहिब उनकी तरक्की को न रोकें। सो ऐसा ही हुआ कि पेशवा साहिब का बहुत मुल्क सिंधिया ने दबा लिया और बाई ने कुछ न कहा और न हिस्सा लिया।

बाई साहिब टाँकेदार (कर देनेवालों) से ऐसी नर्मी बरतती थीं

दिया, या महेसर में घाट बनवाए, अपने इलाके में बहुत मंदिर चुनाए; कितनी ही धर्मशालाएँ कुएँ और बावड़ियाँ बनवाईं और बाहर के इलाकों में भी दूर दूर इमारतें खड़ी कराईं। जगन्नाथ, द्वारिका, केदारनाथ, रामेश्वर, काशी, गया, प्रयाग, हरद्वार, नाथद्वारा, पुष्करजी, नासिक, मथुरा, चित्रकूट और अयोध्या वगैरह तीर्थों में बड़े बड़े मंदिर बनवाए, बाग लगवाए। जगह जगह अपना नाम किया। अपनी यादगार छोड़ी। हर जगह रुपया जाता था। सदावरत बँटता और गरीबों को खाना दिया जाता। मूर्तियों के नहाने को गंगाजल आता था। इसमें बहुत रुपया खर्च होता था। बहुधा जाति जाति के लोगों को बुलाकर खाना खिलाती थीं। गरमियों के दिनों में सबीलें (पौसरे) लगाती थीं। मुसाफिरों को पानी पिलवाती* थीं। जाड़ों में छोटे बड़ों को अड़ावर देती थीं। उनके अहसानों का दरवाजा यहाँ तक खुला हुआ था कि चौपायों, पखेरुओं और मछलियों को भी चुगा पानी पिलवाती थीं। महेसर के पास हल चलते में बैलों को दाना दिलवाती और पानी पिलवाती थीं। बाई साहिब को इन पखेरुओं पर भी दया आती थी जिनको किसान खेतों में नहीं चुगने देते थे। इसलिए किसान को खेती का मोल दे देती थीं और उनका अनाज पखेरुओं को खिलवाती थीं। फरमाती थीं कि किसानों को खेत की रखवाली करना जरूर है, क्योंकि पेट से लाचार हैं; परंतु पखेरुओं की रोजी भी अनाज ही है, इनको भी खाने देना चाहिए।

ब्राह्मण इनके समय में बहुत खैरात पाते थे। लुटेरे भी तरह तरह से लेते थे; पर यह खर्च बाई साहिब का अकारथ नहीं जाता था। इससे बाई साहिब के राज्य की मजबूती ज्यादा थी। इस खैरात से वह बात हासिल थी कि जो उससे दूना खर्च करके भी फौज रखतीं तो हासिल न होती।

मरहठे और हिंदू सरदार बाई साहिब से लड़ना पाप समझते

* तवारीख में लिखा है कि हल में जुते हुए बैलों को बाई साहिब के नौकर पानी पिलाते फिरते थे।

उसका बाप और बाई साहिब जमाई यशवंतराव यहेखिया दुनिया से कूच कर गया। मजताबाई उसके साथ सती होने को तैयार हुई। बाई साहिब राम नाम सत धरने लगीं। बाई साहिब ने मजताबाई को मना किया और समझाया कि मुझे बुढ़ापे में अकेली न छोड़। मैं पहले ही राम की सताई हुई हूँ, तू मुझसे मुँह न मोड़। और जो अकेली छोड़ती है तो किसे सौंपती है। मेरा कलेजा फटा जाता है। तू जानती है कि कोख का दुख बुरा होता है। तू मरे, मैं जिऊँ, यह कहीं हुआ है। पहले तू मुझे मरघट में पहुँचा, फिर तू जा। मजताबाई ने कहा—तुम बूढ़ी हो, कुछ दिन की पाहुनी हो; थोड़े ही समय में नेकनामी से बैकुंठ को सिधार जाओगी। मेरे तो एक बेटा था, वह मर गया और पति भी मुझे छोड़ गया। अब बतलाओ कि जब तुम न होगी तो मेरी उमर कैसे कटेगी। फिर मरने का अवसर कब मिलेगा, राम जाने क्या परिणाम होगा। तुम मेरा कसूर माफ करो और मुझे खुशी से मरने दो।

बाई साहिब यह सुनकर रोने लगी, मूर्छा खाकर गिर पड़ीं, मुँह पीला पड़ गया, छाती धड़कने लगी, बदन पसीने पसीने हो गया। होश जाता रहा, कँपकँपी लग गई, उठ उठकर रोने पीटने और बेटी का मुँह देखने लगीं। अंत को कलेजा थामकर चुप हो गईं। जब देखा कि बेटी मरने और जान पर खेल जाने को तैयार है, समझाने का समय नहीं रहा है तो सबर की सिल छाती पर रखकर कहा कि खैर! जो होना था सो हो गया; और फिर मेरे देखते देखते हुआ। अब मजताबाई का आखिरी दर्शन तो कर लूँ। इस समय जो मौत मुझ पर मेहरबानी करे तो मैं भी मरूँ और अपने दुख की समाप्ति करूँ।

यशवंतराव और मजताबाई की चिता तैयार हो रही थी। सब लोग रो रहे थे। यशवंतराव की लाश के पास एक तरफ मजताबाई और दूसरी तरफ बाई साहिब उदास खड़ी थीं। जिसे देखो वही शोक के कपड़े पहने हुए था। जब लोग लाश को उठाकर ले चले तो

में महाराज मल्हार राव मरे थे। सन् १७६६ में मालीराव स्वर्गवासी हुए थे और सन् १७६६ में बाई साहिब वैकुंठ को गई। तो फिर किस तरह उन्होंने ३० वर्ष राज किया? हाँ यह हो सकता है कि जब वे विधवा हुई थीं तो उनकी उम्र २० वर्ष की हो और अपने पति के पीछे ४० वर्ष जीती रही हों। यों ४० वर्ष लिख दिए होंगे।

बाई साहिब मझोले कद की, दुबले बदन की और पक्के रंग की थीं। यहाँ तक कि सेंट्रल इंडिया के एजेंट गवर्नर जनरल मेजर जनरल एच० डी० डेली के मीर मुंशी सैयद करीम अली की बनाई हुई उर्दू तवारीख मालवा से लिखा गया है जो सन् १२८० हिजरी में समाप्त हुई थी और रतलाम राज्य के छापेखाने रत्न-प्रकाश में छपी थी।

अहिल्याबाई कामधेनु

अहिल्याबाई साहिब के राजकाज, धर्म-पुण्य, शील-स्वभाव और दुःख सुख का थोड़ा सा वर्णन तो ऊपर आ गया; पर एक बात जो उर्दू अंग्रेजी की तवारीख लिखनेवालों से रह गई थी और हिंदू पंडितों के लिखने की थी, वह भी हम नाममात्र को लिखे देते हैं; क्योंकि उसकी हमें अधिक वाकिफी नहीं है, सुनी है।

बाई साहिब के राज्य में जो अच्छे पंडित रहते थे और जो बाहर से उनका नाम सुनकर आते थे, उन सब की एक सभा बनाकर उनको धर्मशास्त्र का एक बड़ा ग्रंथ बड़ी जाँच परताल से बनाने का हुक्म दिया था और उसके वास्ते धर्मशास्त्र के पुराने ग्रंथ भी जगह जगह से मँहगे मोलों के मँगाकर संग्रह कर अपने पुस्तक-भंडार में संग्रह कर दिए थे। उनके आधार पर पंडितों ने एक बड़ा ग्रंथ अहिल्या कामधेनु नाम का बनाया जिसमें धर्मशास्त्र की सब जरूरी बातें आई हैं। इस ग्रंथ से बाई साहिब का नाम देशी और विदेशी भाषा के इतिहासों के समान संस्कृत साहित्य में लिखा जाकर भी अमर हो गया है।

अहिल्याबाई साहिब की मूर्ति और मानता

इंदौर के छत्री बाग में जहाँ अगले राजाओं को दाग दिया गया है और उनके उम्दा देवल बने हैं, जिनको छत्री कहते हैं, खंडेराव हुल्कर की छत्री में अहल्याबाई साहिब की भी मूर्त्ति है। अहल्या सती नहीं हुई थीं, इसलिये उनकी मूर्ति के पास इनकी मूर्ति नहीं है, और सतियों की हैं। इनकी तो एक छोटी सी मूर्ति उन मूर्तियों से अलग दीवार के ताक में रखी है। उन सतियों की मूर्तियों को तो केसरिया कसूमल कपड़े और जड़ाऊ गहने पहिनाए हुए हैं और इनकी मूर्ति के सफेद कपड़े हैं और गहना भी वैसा नहीं है, क्योंकि यह विधवा थीं। परंतु इनकी पूजा और मानता सबसे ज्यादा होती है, चढ़ावा और प्रसाद भी ज्यादा चढ़ता है। लोग उनकी मूर्ति के दर्शन करके मुरादें माँगते हैं। जब किसी की मुराद पूरी हो जाती है तो वह सोने चाँदी की चूड़ियाँ, पोशाक और पेड़े चढ़ाता है। यह उनकी नेकी, नेकनीयती और न्यायनीति का फल है जो मरे पीछे भी ऐसी पूजा प्रतिष्ठा और मानता होती है।

संवत् १६५७ में मैंने भी बाई साहिब की मूर्त्ति के दर्शन किए थे जब कि मैं जोधपुर दरबार के हुक्म से मारवाड़ की प्रजा को लेने के वास्ते मालवे में गया था जो संवत् १६५६ में काल पड़ने से उधर चली गई थी।

अहिल्या-उत्सव

जीते जी कद्र बशर की नहीं होती प्यारे।
याद आएगी तुम्हें मेरी वफा मेरे बाद॥

इतना लंबा समय बीत जाने पर अब कई बर्षों से अहिल्याबाई की यादगार का यह उत्सव इंदौर में होने लगा है जिसकी खुशी मनाने के लिये शहर के और बाहर के सब शामिल होते हैं। गरीबों और फकीरों को खैरात बाँटी जाती है। उस दिन महारानी अहिल्याबाई की सवारी बड़ी धूमधाम और मजे से निकाली जाती है।

शहर में चहल-पहल और लोगों के दिलों में उत्साह की उमंग खूब होती है। पालकी में फूलों से सजी हुई तसवीर के दर्शन करके सब अपना जन्म सफल करते हैं।

पालकी के आगे ३० औरतें घोड़ों पर सवार नंगी तलवारें लिए हुए होती हैं। पीछे भी ऐसी ही हथियारबंद औरतों का एक दल होता है। जब राघोबा दादा ने बाई साहिब पर चढ़ाई की थी और दीवान गंगाधर भी उससे जा मिला था, तो भी बाई साहिब ने हिम्मत नहीं हारी थी और ५०० लड़ाकी औरतों को लेकर उससे लड़ने गई थीं और कहला भेजा कि मुझे क्या, मैं तो एक अबला हूँ; हार गई तो कोई बात शर्माने की नहीं है। परंतु जो कहीं तुम हारे तो दुनिया में मुँह दिखाने के लायक नहीं रहोगे। यह सुनकर राघोबा की बाई साहिब से लड़ने की हिम्मत न हुई।

बाई साहिब का बोलबाला औरतों की फौज से रहा, इसलिये इस उत्सव की यादगार सवार पैदल औरतें उनकी सवारी के आगे निकाली जाती हैं।

---

(६) जगडूचरित

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्मा, अजमेर]

संस्कृत में जीवनचरित संबंधी पुस्तकें बहुत कम मिलती हैं; और जो मिलती भी हैं तो वे किसी राजा, मंत्री या संन्यासी के जीवन-चरित का निर्देश करती हैं। प्रजावर्ग में से किसी विशिष्ट पुरुष की जीवनी के अभिधायक ग्रंथ "जगडूचरित" के अतिरिक्त और बहुत कम अभी तक हमारे देखने में आए। संस्कृत ग्रंथ में ३८८ श्लोक हैं जो ७ सर्गों में विभक्त हैं। विक्रम संवत् १६५२ में यह गुजराती अनुवाद सहित बम्बई में छपा है। ग्रन्थकार के विषय में इतना ही ज्ञात है कि उसका नाम सर्वानन्दसूरि था। वह धनप्रभसूरि का शिष्य था और संभवतः विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग या पंद्रहवीं के आरंभ में हुआ होगा। निश्चित समय ज्ञात नहीं हुआ। भारतवर्ष में आज से ७०० वर्ष पूर्व विद्यमान वाणिज्य व्यवसाय तथा सामाजिक स्थिति का अनुसंधान करने में यह ग्रन्थ कई अंशों में सहायता देता है। इसके प्रत्येक सर्ग का सार नीचे लिखा जाता है:—

पहला सर्ग—श्लोक ४५

जिनाधिनाथ पार्श्व, सरस्वती, गुरु धनप्रभसूरि तथा ऋषभदेव को नमस्कार कर थोड़ी सी भूमिका बाँध कवि ने लिखा है कि प्रतिदिन विद्वानों से संसेवित एवं राजा लोगों से भी सम्मानित कल्याणवान् एक "श्रीमाल" वंश है, जिसमें "वियदु" नाम का एक नररत्न उत्पन्न हुआ। वह व्यापारियों में अग्रगण्य, विवेक और विनय आदि गुणों का धाम तथा जैन धर्म के मर्म का ज्ञाता था। उसने अनेक जिन-मंदिर, कूएँ, बावड़ी, सत्र (अन्नक्षेत्र) और प्रपा (प्याऊ) बनवाकर कीर्ति प्राप्त की। उसका पुत्र "वरणांग" हुआ। वह बड़ा

रूपवान था और कच्छदेश की "कन्था" (कपकोट) नगरी में रहता था। उसने संघ का अधिपति बनकर शत्रुंजय (पालिताने) का पर्वत और रैवत (गिरनार) की यात्रा की और दीनों को पुष्कल दान दिए। उसके पुत्र का नाम "वास" था। यह धर्मात्मा सज्जनों की सेवा करनेवाला, बुद्धिमान्, विद्वान् तथा दानी था। उसके वीसल, वीरदेव, नेमि, चांडु और वत्स नाम के ५ पुत्र हुए। "वीसल" बड़ा गुणवान्, धर्मात्मा और दीर्घायु हुआ। उसके लक्ष, सुलक्षण, सोल और सोढी नाम के ४ पुत्र हुए। लक्ष कीर्तिमान, सामुद्रिक शास्त्र का अच्छा ज्ञाता, याचकों को पुष्कल दान देनेवाला, जैनधर्म परायण और लोकप्रिय हुआ। सुलक्षण और सोढी भी अपने सदाचार के द्वारा सज्जनों के मनों को हरनेवाले हुए। परन्तु इन सब भाइयों में "सोल" सबसे अधिक व्यवसायी, मानशील और यशस्वी हुआ। उसकी स्त्री का नाम "लक्ष्मी" था।

खूब सजी हुई हैं, नाना जलाशय और उद्यान सुशोभित हैं, मौसिम मनोहर रहता है और ग्रीष्म का आतंक नहीं सताता। "घुर्घुरा" नाम की देवी यहाँ विशेष रूप से पूजी जाती है।

तीसरा सर्ग-श्लोक ६१

सोल के जगड्डू, राज और पद्म नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए जिनका विवाह क्रमशः यशोमती, राजल्लदेवी और पद्मा नाम की कन्याओं से हुआ। ऐसे कुल में उत्पन्न होने से, जहाँ पूर्वजों की उपार्जित संपत्ति पहले से ही पर्याप्त रूप से विद्यमान थी, दान-व्यसनी, गुणवान् तथा पुण्यशील जगड्डू को धनसंबंधी चिन्ता तनिक भी नहीं थी। एक समय का वृत्तांत है कि इसने नगर के समीप पशुपालक (ग्वाले) को अपनी बकरियाँ चराते हुए देखा। उन बक-रियों में से एक की गर्दन में एक अच्छी मणि बँधी हुई थी, जिसके महत्व को देख इसका मन लोभायमान हो गया। इसने मूल्य देकर उसे ले लिया और बड़े मान के साथ अपने पास रक्खा।

जगड्डू के एक पुत्री उत्पन्न हुई जिसका नाम प्रीतिमती रक्खा गया। दिन प्रति दिन बढ़ती हुई वह कन्या अपनी गति और मधुर वाणी से सबके मन को आनन्ददायिनी हुई। जगड्डू ने उसका विवाह यशोदेव नाम के एक पुरुष से किया; परंतु दुर्भाग्यवश वह विवाह के थोड़े ही दिन बाद मर गया। तब जगड्डू अपनी जाति के बुद्धिमान और वृद्ध पुरुषों की अनुमति से अपनी कन्या का पुनर्विवाह करने को तैयार हुआ*। उस अवसर पर दो कुलीन वृद्धा तथा चतुर विधवा स्त्रियाँ खूब श्रृङ्गार सजकर उससे बोलीं कि जब आप अपनी विधवा पुत्री के लिये वर ढूँढने जा रहे हैं, तो कोई हमारे योग्य भी वर ढूँढ लाइएगा†। यह सुनकर वह बेचारा लज्जित हो गया और पंचों के विवेकपूर्ण निर्णय का लाभ नहीं उठा सका।

---

* तत स्वज्ञातिवृद्धानाम नुमत्यैवधीमताम् ।
वराय दातुमन्यस्मै तनयामुपचक्रमे ॥ (३।९१)

† वृद्धे कुलाङ्गने द्वे केचिद्वैधव्य दूषिते ।

जगडू के एक कन्या ही थी जिसका वर्णन अभी कर चुके हैं। उसके तथा उसके भाइयों के कोई पुत्र न होने से वह बहुत म्लान मन रहता था। एक दिन अपनी स्त्री से उसकी इस विषय में बातचीत हो पड़ी और उसके परामर्श से वह पुत्रार्थी समुद्र के किनारे देवाराधन के लिये चला गया। पुत्र के विषय में वह भग्न-मनोरथ ही रहा। कालांतर में उसके भाई के दो पुत्र (विक्रमसिंह और धांधो) और एक कन्या (हंसी) उत्पन्न हुई।

चौथा सर्ग—श्लोक ३६

भद्रेश्वर से जगडू का जहाज निर्विघ्न समुद्र में आया जाया करता था। उसका वाणिज्य खूब बढ़ रहा था। उसके यहाँ उपकेश (ओसवाल) कुल में उत्पन्न जयंतसिंह नामक एक प्रवीण कर्मचारी था। वह बहुत सा पोतभार (Cargo) लेकर आर्द्रपुर (जिसे आज काल "एडन" कहते हैं) में आया और यहाँ एक बड़ा मकान किराए पर लेकर ठहरा*। उसने समुद्र के किनारे पर पड़े हुए एक पत्थर को देख अपने सेवक से उसे ले आने को कहा। इसी अवसर पर स्तम्भपुर के मुसलमान व्यापारी के एक जहाज के अधिकारी की भी दृष्टि उस पर पड़ी। उसने उसे नहीं लेने दिया और कहा कि जो इस नगर के राजा को एक सहस्र दीनार† देगा, वह इस पत्थर को लेगा। जयंतसिंह ने कहा कि हाँ, मैं इतना धन देकर अभी इसे राजा से ले लेता हूँ। उसने कहा—अच्छा मैं इससे भी दूना दूँगा, देखूँ तुम कैसे लेते हो। यों परस्पर विवाद हो पड़ा। अंत में साहसी जयंतसिंह ने दो तीन लाख दीनार देकर उसे ले लिया। उस मुसलमान

प्रताप स्वारमाधिग्य तमूचुरिति स्फुटम् ॥ (३.७४)
कुमारी संजुतावस्य कनि षेद्रमनीकर्ण ।
महायशोऽपि श्रीमज्जिनचन्द्र धर्मनिरताम् ॥ (३।७५)

* कल्याणि गेहं किल भाटकेन लब्ध्वा गृहीत्वाथ नयो निनाय। (४ ४)

† दीनार सोने का एक सिक्का था जिसकी तौल १६ रत्ती होती थी।

के पास इतनी पूँजी भी न थी जिससे वह बड़ा ही लज्जित हो गया। जयंतसिंह ने भद्रेश्वर आकर जगडू से यह सारा वृत्तांत कहा। जगडू ने उस पर इस विचार से प्रसन्नता प्रकट की कि उसने यह काम अपने स्वामी की मानरक्षा के लिये किया था और उसे रेशमी वस्त्र तथा एक अँगूठी भेंट की। इतना ही नहीं किंतु उसको अधिक वेतन देकर उसे विदेश भेजने के बजाय अपने पास ही रख लिया और उस पत्थर को अपने घर के आँगन में पैर धोने के स्थान पर लगवा दिया। इसके पश्चात् कवि ने लिखा है कि भद्रपुर का अधिष्ठाता भद्रदेव योगीश्वर का स्वरूप बनाकर भिक्षा के निमित्त जगडू के निवास स्थान पर आया। जगडू के भाई "राज" की स्त्री राजल्लदेवी उसे भिक्षा देने लगी। तब वह उससे बोला कि हे कल्याणी! तुम घर के स्वामी को मेरे पास बुला लाओ। स्त्री ने तुरंत जगडू को बुलवाया और उसने वहाँ आकर एकाग्र दृष्टि से उस पत्थर की ओर देखते हुए उस योगी को प्रणाम किया। योगी ने उससे कहा कि तुम इस पत्थर को यहाँ से अपने घर के भीतर ले जाओ। जगडू ने वैसा ही किया और जब उसे तोड़ा तो उसमेंसे अनेक बहुमूल्य रत्न निकले और एक ताम्रपत्र निकला जिस पर यह लिखा हुआ था कि इन मनोहर रत्नों को यहाँ महाराज दिलीप ने रक्खा था। वह योगी इस प्रकार जगडू को रत्नराशि दे अंतर्धान हो गया। (इस वर्णन का यही तत्वार्थ प्रतीत होता है कि कुछ काल तक वह पत्थर यों ही बेपरवाही से रक्खा रहा। अंत में किसी समय किसी प्रवीण परीक्षक ने उसकी वास्तविकता बतलाई हो जिससे उसके लिये दिए हुए मूल्य से कितना ही अधिक धन जगडू ने उपार्जन किया हो)।

पाँचवाँ सर्ग–श्लोक ४२

उस समय पारकर (सिंध का एक विभाग) देश में प्रतापशाली "पीठदेव" नाम का राजा राज्य करता था। वह कच्छदेश पर आक्रमण करता हुआ भद्रेश्वर पर आया और वहाँ पर चौलुक्य राजा

भीमदेव के बनवाए हुए किले को नष्ट कर लूट का माल ले वापस चला गया। पीछे से जगडू ने एक ऊँचा किला बनवाना प्रारंभ किया। परंतु जब वह बनता था, तब किसी असूयक ने यह बात पीठदेव के कानों तक पहुँचा दी। उसने अपना दूत भेजा, जिसने आकर जगडू से कहा कि हमारे राजा ने तुमसे यह कहलवाया है कि यदि सींग वाला गधा मिले तो तुम इस किले को बनाओ, अन्यथा वृथा विरोध करके क्यों अपने कुटुंब का नाश करने को तत्पर होते हो। जगडू साधारण मनुष्य के समान धमकी में आ जानेवाला व्यक्ति नहीं था। उसने राजदूत से कहा कि अच्छा, मैं पहले एक गधे के मस्तक पर सींग बनवाकर तब इस किले को बनवा लूँगा। दूत इस निरादर-सूचक वचन को सुन फिर कहने लगा कि द्रव्य के अभिमान में पड़ कर क्यों तुम वृथा अपना सर्वनाश करवाते हो। देखो, दीपक से वैर कर पतंग अपना ही नाश करता है। शत्रुओं के दमन करनेवाले प्रतापशाली हमारे प्रभु की अप्रसन्नता उत्पन्न कर तुम क्या लाभ उठा सकोगे? वह तुम को क्षण भर में नष्ट कर सकता है। वस्तुतः वह तुम जैसे क्षुद्र से लड़ाई लड़ते हुए लज्जित होता है। जगडू ने फिर भी निर्भय हो उसे रूखा जवाब दिया जिसे सुन वह अपने स्थान को चला गया और अपने स्वामी को सब वृत्तांत कह सुनाया।

जगडू भी यह प्रबल वैर हो जाने पर निश्चिंत नहीं रहा। वह अणहिलपुर (पाटण) पहुँचा और वहाँ भीमदेव के गुजरात के कर्ता हर्ता लवणप्रसाद* से मिला। उसने इस प्रसिद्ध व्यापारी का सत्कार किया और इसकी प्रार्थनानुसार इसे रक्षा के लिये पर्याप्त सेना दी, जिसे इसने अपना पूरा किला बनवाने के ६ महीने पीछे तक रक्खा। तदनंतर थोड़ा सा द्रव्य देकर उसे वापस भेज दिया। जगडू ने उस किले के एक कोने में सोने के सींगवाला एक सुंदर पत्थर

* [illegible]

का गधा और उसके नीचे पीठदेव की माता की मूर्ति बनवाई। पीठदेव उसका कुछ नहीं कर सका, किंतु संधि करके उसने अपना पीछा छुडाया। एक अवसर पर वह राजा यहाँ आया और क़िले में उस अपमान भरी मूर्ति को देखकर इतना लज्जित और दुःखी हुआ कि उसके मुख से रुधिर आने लगा और वह मर गया। सिंधुराज इस घटना को सुनकर बहुत घबराया और जगडू से मान-दान देकर प्रीति की।

छठा सर्ग-श्लोक १३७

उस समय श्रीमान् "परमदेव" नाम के एक तपोनिधि सूरि (जैन गुरु) थे जिन्होंने आचाम्लवर्धमान* नाम का तप किया और विक्रम संवत् १३०२ मार्गशीर्ष सुदि ५ को श्रवण नक्षत्र में "कटपद्र" नाम के ग्राम में देवपाल के घर पारण किया। शंखेशपार्श्वनाथ के मंदिर में उन्होंने ७ यक्षों को, जो संघों में विघ्न उत्पन्न किया करते थे, प्रबोध (उपदेश) किया और वहाँ देवाराधन कर दुर्जनशल्य नाम के राजा का कोढ दूर किया। उसकी कृतज्ञता में उसने उस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया। ये सूरि जगडू के कुलगुरु थे। जब वे भद्रेश्वर पधारे तो जगडू ने बहुत सन्मानपूर्वक उनका स्वागत किया। श्रद्धालु जगडू के आग्रह से गुरुजी उसके स्थान पर बहुत दिनों तक रहे, और उन्होंने वहाँ पर भावसार कुल में उत्पन्न मदना नाम की श्राविका को आचाम्लवर्धमान तप करवाया, परंतु वह उसे निर्विघ्न समाप्त नहीं कर सकी।

फिर गुरुजी की प्रेरणा से जगडू ने संघयात्रा का विचार किया। उन दिनों अणहिलपुर (पाटण) में वीसलदेव† राजा राज्य करता

---

* आचाम्लवर्धमान अर्थात् आंबेल जैनोंके व्रतोंमें से एक है।

† वीसलदेव-धोलका के बघेल (सोलंकी) सामंत लवणप्रसादका पौत्र और वीरधवलका पुत्र था। उसने भीमदेव (दूसरे) के उत्तराधिकारी

था। जगडू ने उसे बहुत से रत्न भेंट किए। यों उसको प्रसन्न कर वह भद्रेश्वर आया और अपनी तीर्थयात्रा का प्रबंध किया। सहस्रों धनवान् तथा जिन तत्त्वज्ञ उसके साथ यात्रा में सम्मिलित हुए। गुरु ने उसके ललाट पर संघाधिपति का तिलक किया और अनेक गाजे बाजे, हाथी, घोड़े, गाड़ी, भाट और चारणों के साथ शुभ मुहूर्त में उस संघ ने प्रस्थान किया। जगडू स्थान स्थान पर वस्त्र, पात्र, सुवर्ण आदि का दान करता हुआ तथा जैन मंदिरों पर ध्वजा चढ़ाता हुआ शत्रुंजय तथा रैवतक की यात्रा कर भद्रेश्वर लौट आया और वहाँ पर श्रीवीरसूरि के बनवाए हुए वीरनाथ के मंदिर पर सोने का कलश और दंड (ध्वजस्तंभ) चढ़ाया। वहाँ अपनी पुत्री के कल्याणार्थ उसने आरासन (संगम) पर पत्थर की ३ देवकुलिकाएँ (देहरियाँ) और एक सुंदर अष्टापद बनवाया। उसने अपनी भतीजी हंसी के श्रेय के लिये १७० जिन मूर्त्तियाँ बनवाईं और अपनी पुत्री के नाम से अतिशय तेजस्वी त्रिखण्ड पार्श्वनाथ की मूर्ति के ऊपर सोने का पत्तर चढ़वाया। उसने कुमारपाल और मूलराज के बनाए हुए तालाबों को गहरा खुदवाया और कर्णवापिका का जीर्णोद्धार कराया। समग्र जिन बिम्बों(मूर्त्तियों) के पूजन के लिये उसने उस नगर में एक विशाल पुष्पवाटिका बनवाई। उसने "कपिलकोट" नगर में काल से जीर्ण बने हुए नेमिमाधव के मंदिर का और स्थ "कुम्भडपुर" में हरिशंकर के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया। तदनंतर "ढंकापुरी" (ढाक काठियावाड़) में आदिनाथ का नवीन मंदिर बनवाया। वर्धमान (वढ़वाण) में उसने २४ तीर्थंकरों का बहुत बड़ा प्रासाद बनवाया और वहाँ एक महोत्सव करके मम्माणिक पत्थर की वीरनाथ की मूर्ति पधराई। "शतवाडी" नगरी में ५२ जिन मूर्त्तियों वाला नाभेय (ऋषभदेव) का मंदिर, विमलाचल (शत्रुंजय) की चोटी पर उसने ७ देवकुलिकाएँ और सुलक्षणपुर के समीप "देव-

त्रिभुवनपालके गुजरातका राज छीना और वि० सं० ११०० से १११८ तक राज्य किया।

कुल" नाम के नगर में उसने शांतिनाथ का मंदिर बनवाया। अपने गुरु के निमित्त उसने भद्रेश्वर में एक पौषधशाला* बनवाई और शंखेश्वर पार्श्वनाथ का चाँदी के पगलेवाला पीतल का एक चैत्य बनवाया। गुरु की पौषधशाला में उसने शयनार्थ शुल्वमय पट्ट (ताँबे का तख्त) बनवाया और उन गुरु के शिष्य श्रीषेण को एक महोत्सव करा कर आचार्य पद पर स्थापित किया। समुद्र के किनारे जहाँ पूर्व काल में सुस्थितदेव प्रगट हुए थे, वहाँ पर उसने एक देवकुलिका बनवाई। भद्रेश्वरपुर में उसने मुसलमानों के लिये भी एक मसजिद बनवाई†। जलाशय तो उसने स्थान स्थान पर सैकड़ों ही बनवाए।

परमदेव सूरि ने जगडू से एकांत में कहा कि विक्रम संवत् १३१२ के बाद ३ वर्ष तक सर्वदेशव्यापी दुर्भिक्ष का योग है; अतः तू अपने चतुर पुरुषों को देश देश में भेजकर सब प्रकार के धान्यों का संग्रह कर और उस कठिन अवसर पर जगत् को जीवन दान दे यशोपार्जन कर। जगडू ने वैसा ही सब प्रबंध कर लिया और वास्तव में हुआ भी वैसा ही जैसा कि गुरुजी ने पहले कह दिया था। वि० संवत् १३१३ में वर्षा का अभाव रहा, दुर्भिक्ष का आतंक प्रारंभ हो गया। दो वर्षों में तो ऐसी अवस्था हो गई कि राजाओं के कोष्ठागारों (कोठारों) में भी अन्न न रहा और एक द्रम्म‡ के १३ चने तक बिके।

अणहिलवाडे के राजा श्री वीसलदेव ने अपने यहाँ अन्न के निःशेष हो जाने से नागड़ मंत्री के द्वारा जगडू को बुलवाया। व्यापारी जनों की श्रेणी सहित उस गुणी जगडू ने राजा को रत्नों का

* अपासरा या पोसाल (पौषधशाला) में निवास करनेवाले जैन साधुओं के लिये अन्न, वस्त्र, पुस्तक की पहिले व्यवस्था होती थी।

† मसीतिं कारयामास षीमली संज्ञितामसौ।
भद्रेश्वरपुरे म्लेच्छकृपनी कारयनः खलु॥ (६—६४)

‡ द्रम्म—चार आने के मूल्य का चाँदी का सिक्का।

प्रशंसा सुन शालीनता के कारण नम्रानन हो गया और उन कवियों को पुरस्कार दे राजा से आज्ञा ले भद्रेश्वर को लौटा।

उसने सिंधुदेश के राजा हमीर को १२ हज़ार, मुईज़ुद्दीन को २१ हजार, काशी के राजा प्रतापसिंह को ३२ हजार, चक्री (चक्रवर्ती) पदधारी स्कंधिल के राजा को १२ हजार मूड़े अन्न दिया और ११२ दानशालाएँ खोलीं। उसने करोड़ों लड्डपिंडों * में सोने के दीनार रखकर कुलीन जनों को रात के समय दिए। उसने ६६६००० अन्न के मूड़े तथा १८ करोड़ द्रम्म अर्थियों को दुर्भिक्ष में दिए।

सातवाँ सर्ग—श्लोक ३६

संतापमय तीन वर्षों के बाद अनुकूल वृष्टि हुई जिसने पृथ्वी तथा प्रजा के विदीर्ण हृदयों को फिर से हरा भरा किया। यद्यपि स्थान स्थान पर उपकृतज्ञता का उद्गार जगडू के चित्त को प्रसन्न करनेवाला था, तथापि इस समय उसके गुरु परमदेव के आकस्मिक स्वर्गवास ने उसको अत्यन्त सशोक कर दिया। तदनन्तर उसने संघ के साथ रैवतक की एक यात्रा और की और सुपात्रों को दान दिया।

बीसलराज की आज्ञा से नागड़ नाम का मुख्य मंत्री भद्रेश्वर आया। जगडू ने उसका समुचित सत्कार किया। इस राजा की एक नाव जिसमें घोड़े लदे थे, तूफ़ान के मारे समुद्र के पास ही डूब गई। २० घोड़े समुद्र में मरकर डूब गए। एक जीता हुआ दिखाई देने लगा जिसको पकड़ने के लिये नागड़ यत्न करने लगा। जगडू ने कहा—आप रहने दें, यह पशु आप का नहीं है। मंत्री ने कहा नहीं, यह सरकारी है। यों कुछ वितर्क होने लगा। अंत में वह घोड़ा जगडू का ही निकला और उसने मंत्री से कहा कि समुद्र का मुझ को वरदान है। वह मेरी वस्तु को नहीं डुबाता।

---

* लड्डपिंड—अकाल के समय कुलीन लोगों के पास जो भीख नहीं माँग सकते या मज़दूरी नहीं कर सकते, गुप्त रीति से पहुँचाए जानेवाले लड्डू।

एक दिन श्रीषेणसूरि भद्रेश्वर में सरीसृपों के विषय पर व्याख्यान दे रहे थे। इस समय कोई दुष्ट योगी वहाँ चला आया। उसने इनसे सर्प के विषय में बहुत वादविवाद किया और समग्र सभ्यों को चकित कर दिया। इसकी प्रेरणा से एक सर्प ने सूरी जी की उँगली काट ली। उसके जाने के पश्चात् सूरी जी ने कहा कि मैं विष उतारने के लिये अन्दर के कमरे में ध्यान करने जाता हूँ। वह योगी अपनी सम्मोहनी विद्या सिद्ध करने के लिये मेरी खोपड़ी लेने का इच्छुक है अतः तुम लोग नंगी तलवार लिए द्वार पर डटे रहो। हुंकार शब्द सुनते ही द्वार खोलना। मुझे पद्मासन साधे बैठा हुआ पाओगे। वैसा ही हुआ। सूरीजी ने विष उतार दिया। वह योगी लज्जित हो गया और इनकी प्रशंसा करने लगा। सूरीजी ने योगी से कहा कि आज से ७ वें दिन मुझे तुम्हारी इस सर्प द्वारा मृत्यु दिखाई देती है। वह योगी वहाँ से कंथकोट चला गया और वहाँ किसी और योगी से वाद कर श्रीषेण के वचनानुसार उस सर्प द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ।

जगडू ने श्रीषेण के परामर्श से अनेक परोपकारी कार्य, तीर्थाटनादि किए और वृद्धावस्था प्राप्त कर देह त्यागा। लोग उसकी मृत्यु को सुन कहने लगे कि वास्तव में आज बलि, शिवि, जीमूतवाहन, विक्रम और भोज अन्तर्धान हुए हैं। देहली के सुलतान ने अफसोस के मारे अपना ताज फेंक दिया। अर्जुनदेव* बहुत रोया। सिंधु के राजा ने दो दिन तक भोजन नहीं किया। गुरुजी के कहने सुनने से उसके भाई राज और पद्म किसी प्रकार धैर्य धारण कर धर्म कार्य करने लगे।

इस काव्य से पाया जाता है कि जगडू व्यापार के काम में निपुण और बड़ा ही धनाढ्य होने के अतिरिक्त साहसी, धीर, धर्मनिष्ठ और दीन दुखियों का बड़ा सहायता करनेवाला था। जैन धर्मावलम्बी होने पर भी उसको अन्य धर्मों से तनिक भी द्वेष न था। इसी से

---

* अर्जुनदेव गुजरात के राजा वीसलदेव का उत्तराधिकारी और इनके भाई प्रतापमल्ल का पुत्र होना चाहिए।

उसने शिव और विष्णु के मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया और मुसलमानों के लिये मसजिद बनवाई थी। उसके विचार भी संकीर्ण न थे; क्योंकि उसने अपनी विधवा पुत्री का फिर विवाह करने का विचार कर उसके लिये अपनी ज्ञाति की आज्ञा भी प्राप्त कर चुका था; परंतु अपने कुटुंब की दो वृद्ध स्त्रियों के बाधा डालने से ही वह ऐसा करने में हिचका था।

(१०) उर्दू का प्रथम कवि

[लेखक—बा० भगवत् दास, काशी ।]
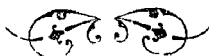
भारत वर्ष में जब मुसलमान आक्रमणकारी आकर बसने लगे तब वे आरंभ में अधिकतर बादशाही कैंपों अर्थात् सैनिक पडावों में ही रहते थे जिनके बाज़ार को तुर्की भाषा में उर्दू कहते हैं। इस पड़ाव के व्यापारी आदि सब हिन्दू ही रहते थे जिनसे लेन देन के लिये एक देसी भाषा की आवश्यकता हुई जिसे दोनों समझ सकें। स्वभावतः कोई कार्य जिस प्रकार सहज में हो सकता है, उसे ही सब पसंद करते हैं। तुर्की, फ़ारसी आदि भाषाएँ हिंदी से अधिक जटिल थीं; इसलिये हिंदुओं के फारसी आदि भाषाएँ सीखने के शताब्दियों पहले मुसलमानों ने हिंदी में बोलना सीख लिया था। वे कविता आदि भी इसी भाषा में करने लगे थे, जैसे अमीर खुसरो, अकरम-फ़ैज़ आदि। हिंदी भाषा जिसमें कुछ फ़ारसी आदि भाषाओं के शब्द मिल गए थे, उर्दू की भाषा कहलाने लगी।

इस उर्दू नाम की व्यावहारिक भाषा का जन्म-स्थान उत्तरी भारत का कोई उर्दू था और लगभग पाँच शताब्दी तक यह केवल इसी रूप में रही। विद्वानों ने इसे तब तक नहीं अपनाया था और स्यात् ही यह कभी साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त करती यदि यह दक्षिण की यात्रा न कर आती। उर्दू के साहित्य का आरंभ दक्षिण में हुआ और वह दखिनी कहलाई। मीर हसन अपनी पुस्तक 'तज़किरः' में लिखते हैं कि रेख़्तः आरंभ में दखिनी भाषा से निकली मीर साहेब जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं, एक शेर इस विषय में लिखते हैं—

> ख़ूगर नहीं कुछ यों ही हम रेख़्त.गोई के।
> माशूक़ था जो अपना बाशिंदा दकिन का था॥

(१०) उर्दू का प्रथम कवि

[लेखक—बा० व्रजरत्न दास, काशी ।]

भारत वर्ष में जब मुसलमान आक्रमणकारी आकर बसने लगे तब वे आरंभ में अधिकतर बादशाही फ़ौजों अर्थात् सैनिक पड़ावों में ही रहते थे जिनके बाज़ार को तुर्की भाषा में उर्दू कहते हैं। इस पड़ाव के व्यापारी आदि सब हिन्दू ही रहते थे जिनसे लेन देन के लिये एक देसी भाषा की आवश्यकता हुई जिसे दोनों समझ सकें। स्वभावतः कोई कार्य जिस प्रकार सहज में हो सकता है, उसे ही सब पसंद करते हैं। तुर्की, फ़ारसी आदि भाषाएँ हिंदी से अधिक जटिल थीं; इसलिये हिंदुओं के फारसी आदि भाषाएँ सीखने के शताब्दियों पहले मुसलमानों ने हिंदी में बोलना सीख लिया था। ये कविता आदि भी इसी भाषा में करने लगे थे, जैसे अमीर ख़ुसरो, अकरम-फ़ैज़ आदि। हिंदी भाषा जिसमें कुछ फ़ारसी आदि भाषाओं के शब्द मिल गए थे, उर्दू की भाषा कहलाने लगी।

इस उर्दू नाम की व्यावहारिक भाषा का जन्म-स्थान उत्तरी भारत का कोई उर्दू था और लगभग पाँच शताब्दी तक यह केवल इसी रूप में रही। विद्वानों ने इसे तब तक नहीं अपनाया था और स्यात् ही यह कभी साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त करती यदि यह दक्षिण की यात्रा न कर आती। उर्दू के साहित्य का आरंभ दक्षिण में हुआ और यह दखिनी कहलाई। मीर हसन अपनी पुस्तक 'तजकिरः' में लिखते हैं कि रेख़्तः आरंभ में दखिनी भाषा से निकली मीर साहेब जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं, एक शैर इस विषय में लिखते हैं—

> ख़ूगर नहीं कुछ यों ही हम रेख़्ता गोई के।
> माशूक़ था जो अपना बाशिंदा दकिन का था॥

इस समय तक इस भाषा के लिये रेख्तः या हिंदी ही लिखा जाता था और जहाँ तक ज्ञात हो सका है, उर्दू नहीं लिखा मिला है। दक्षिण में जब मुसलमानी राज्य स्थापित हो गए, तब उनकी सरकारी और दरबारी भाषा फ़ारसी ही थी और प्रजा की तैलंगी, कनाड़ी आदि जो आर्य भाषाओं से भिन्न द्राविड़ी भाषाएँ थीं। जब 'उर्दू' नाम की हिन्दी दक्षिण में आई और साहित्यिक रूप धारण करने लगी, तब द्राविड़ी भाषाएँ तो अजनबी थीं, इस कारण उसने उनसे कोई सरोकार नहीं रखा, पर फ़ारसी का रंग उस पर अच्छी तरह चढ़ गया। क्योंकि एक तो फ़ारसी भी आर्य भाषा मानी जाती है और दूसरे शताब्दियों से दोनों का साथ था। इस प्रकार उत्तर से लाई गई इस छोटी सी धारा में फ़ारसी की प्रबल उल्टी धारा का जल नहर काटकर ला मिलाया गया जिससे उसकी धारा भी उल्टी बह चली। फ़ारसी छंद शास्त्र के नियमों से बनी हुई कविता में फ़ारसी ही के उपमान, उपमेय, विचार, कथाएँ आदि भी आ मिलीं और उर्दू नाम की हिंदी वस्तुतः उर्दू हो गई। अब इस प्रकार उर्दू और हिंदी के पार्थक्य का कारण वस्तुत: फ़ारसी छंद शास्त्र है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि फ़ारसी लिपि भी उस पार्थक्य को बढ़ाने में सहायता देती है, पर केवल लिपि के कारण भाषा दूसरी नहीं हो सकती। यदि यह साहित्यिक आरंभ उत्तरी भारत में होता जहाँ बादशाही महलों और मुसलमान विद्वानों की सभाओं को छोड़ चारों ओर हिंदी ही हिंदी थी, तब स्वभावतः हिंदी पिंगल शास्त्र का ही यह अनुकरण करती और कोई पृथक् भाषा का रूप न धारण कर सकती।

इन विचारों से यह भी प्रकट हो गया कि उर्दू का प्रथम कवि उर्दू साहित्य तथा उर्दू भाषा के जन्मदाता होने का भी गौरव प्राप्त करेगा। बहुत दिनों तक लोगों की यही धारणा रही कि उर्दू का प्रथम कवि अहमदाबाद निवासी वलीउल्ला उपनाम वली था। परन्तु अब यह धारणा असत्य मान ली गई है। इसी विक्रमीय अठारहवीं

शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो गया है। इसके अनंतर वली के बारे में यह विचार दृढ़ हुआ कि यही वह प्रथम कवि है जिसने फ़ारसी दीवानों के ढंग पर उर्दू में पहला दीवान बनाया है और अभी तक यह मत सर्वमान्य समझा जाता है। खोज या जाँच ने, जो सर्वदा इसी घात में लगी रहती है, इस विचार को अशुद्ध प्रमाणित करने के लिये एक नया संग्रह भी प्रकट कर दिया है। यह संग्रह वली के एक शताब्दी से अधिक पहले अकबर के समसामयिक गोलकुंडा के सुलतान मुहम्मद कुली कुतुबशाह की रचना है।

मुहम्मद कुली कुतुबशाह

जगद्दाहक हलाकुखाँ ने जब तेरहवीं शताब्दी ईसवी में बग़दाद राज्य का अंत कर दिया था, तब तातारी जातियाँ यहाँ आकर चारों ओर फैल गईं जिनमें से एक जाति ने जो आक़क़ुवीनलू कहलाती थी, पंद्रहवीं शताब्दी में बग़दाद पर अधिकार कर लिया। आक़क़ुवीनलू का अर्थ सफ़ेद मेंढ़ा है और इस जाति के झंडे पर यही चिह्न बना हुआ था। गोलकुंडा का राज्य स्थापित करनेवाला इसी वंश का था।

क़राक़ुवीनलू जाति के तातारियों ने इस जातिवालों को निकाल कर उस राज्य पर अधिकार कर लिया और इनके सरदार को ऐसा घेरा कि उसे जान बचाने के लिये देश त्याग करना पड़ा। दक्षिण के बहमनी सुलतानों के ऐश्वर्य और उनके सरदारों की प्रतिष्ठा तथा वैभव का समाचार सुनकर सुलतान कुली बहमनी सुलतान महमूद शाह के दरबार में पहुँचा। महमूद शाह ने इसे होनहार समझ कर अपना कृपापात्र बना लिया। महमूद शाह स्वयं विषयी और आरामतलब बादशाह था। उसके सरदार आपस के द्वेष के कारण षड्यंत्र रचा करते थे और इसी में एक बार बादशाह स्वयं बलिदान हो चुका था, पर किसी प्रकार बच गया। सरदारगण इधर उधर जागीरें दबाकर नए राज्य स्थापित करने में लगे हुए थे

और महमूद शाह अपनी रगरलियों में मतवाला हो रहा था। फरिश्ता लिखता है कि दिल्ली और लाहौर के गवैये और ईरान, खुरासान के बजानेवाले सर्वदा हाज़िर रहते और किस्सा कहानी कहनेवाले महफ़िल को गर्म रखते थे।

सुलतान कुली ने अपनी वीरता और कार्य-दक्षता से शीघ्र ही कुतुबुल्मुल्क की पदवी प्राप्त कर ली और तेलिंगाना का सूबेदार नियुक्त हुआ। यद्यपि इम्मादुल आदिलखाँ, मलिक अहमद निज़ामुल्मुल्क और अलाउद्दीन एतमादुल्मुल्क ने महमूद शाह के जीते ही स्वतंत्रता का झंडा खड़ा कर दिया था, परंतु सुलतान कुली ने ऐसा न कर बराबर खुतबे और सिक्के में महमूद शाह का नाम रखा था। सं० १५७५ वि० में महमूद शाह की मृत्यु पर इसने कुतुब शाह की पदवी धारण की और गोलकुंडा को राजधानी बनाकर स्वतंत्रता से छत्तीस वर्ष राज्य किया। उसने राज्य का विस्तार भी किया और आंतरिक प्रबंध भी जो बहमनी सुलतानों के समय में ढीला पड़ गया था, फिर से ठीक किया।

सं० १६०० वि० में सुलतानकुली अपने पुत्र जमशेद द्वारा मारा गया जिसने सात वर्ष राज्य किया। सं० १६०७ वि० में जमशेद का भाई इब्राहीम सुलतान हुआ जिसने तालीकोट के युद्ध में योग दिया। इसने राज्य का विस्तार भी किया और आंतरिक प्रबंध भी दृढ़ कर राज्य में शांति फैलाई। सं० १६३७ वि० में उसकी मृत्यु होने पर उसका पुत्र मुहम्मद कुली कुतुबशाह गद्दी पर बैठा। बीजापुर और गोलकुंडा से बराबर युद्ध होता रहता था इसलिये मुहम्मद कुली ने अपनी बहन मलिकैजमाँ का विवाह इब्राहीम आदिलशाह से करके उससे मित्रता कर ली। शांति-स्थापन करके राज्य के कर, नियम आदि में बहुत कुछ उन्नति की, मसजिदें, मदरसे, अनाथालय, सराय आदि प्रजा के हितार्थ बनवाईं और दान पुण्य के लिये चार लाख रुपया राज्य से दिलवाया।

मुहम्मद कुली ने गोलकुंडा से कुछ हटकर एक नया नगर

बसाया जिसका नाम पहले एक प्रेयसी के नाम पर भागनगर* रखा था, पर अब यह हैदराबाद के नाम से प्रसिद्ध है। फरिश्ता ने अपने ग्रंथ में इस नगर की बहुत प्रशंसा लिखी है और जिसने उस समय के दिल्ली, आगरा आदि प्रसिद्ध नगरों को देखा था, उसके लिये इतना लिखना ही बहुत है। इस नगर के बड़े बड़े महलों को, जिसे इस सुलतान ने बनवाया था, देखकर फ्रेंच यात्री टैवर्नियर ने बहुत आश्चर्य प्रकट किया था कि 'बागों के बड़े बड़े वृक्ष जो भिन्न भिन्न मरातिबों में लगे हैं, उनके बोझ को ये छतें किस प्रकार सँभाले हुए हैं'।

मुहम्मद कुली को इमारत बनवाने के व्यसन के सिवा साहित्य से भी बहुत प्रेम था और यह स्वयं भी कवि था। स्वयं अच्छा लिखनेवाला था और ईरान तक से नस्तालीक़ और नस्ख़ लिखनेवाले इसके दरबार में आए थे। यह गुणग्राहक और गुणियों को पहचाननेवाला था। प्रसिद्ध मीर जुमला भी इसीका वज़ीर था जिसने कर्नोल और कड़प्पा विजय किए जाने पर वहाँ शांति-स्थापन किया था।

मुहम्मद कुली का काव्यसंग्रह

यह हस्तलिखित ग्रन्थ इस समय हैदराबाद के राजकीय पुस्तकालय में है। यह पुराने समय के बहुत अच्छे काग़ज़ पर नस्ख़ चाल के हरफों में लिखा हुआ है। इस संग्रह में लगभग अठारह सौ पृष्ठ हैं। मुहम्मद कुली कुतुबशाह के भतीजे और उत्तराधिकारी मुहम्मद कुतुबशाह ने अपने चाचा की गज़लों को क्रम से लगाकर यह हस्तलिखित प्रति तैयार कराई और पहले पृष्ठ पर अपने हाथ से इन्होंने लिखा है जिसका आशय है कि पूज्य चाचा मुहम्मद कुली कुतुबशाह का कुलियात (दीवान अर्थात् संग्रह) पूर्ण हुआ और यह मुहीउद्दीन लेखक द्वारा १ रज्जब सन १०२५ हि० को लिखा जाकर राजधानी हैदराबाद में सुरक्षित हुआ।

इसी पृष्ठ पर मुहम्मद कुतुबशाह के लेख के ऊपर लिखा है कि

* मुंतखबुत्तवारीख जि० १ पृ० १६१।

और हिंदी के प्रसिद्ध कवि और लेखक मौजूद थे जिनमें अबुलफ़ज़ल सा अद्वितीय गद्य लेखक, फ़ैज़ी और उर्फ़ी से उद्दंड कवि, गंग भाट और ख़ानख़ाना से हिंदी के विख्यात कवि थे। हिंदी का यह सौरकाल था और सूरदास, तुलसीदास, नंददास आदि से महात्माओं की पीयूषवर्षिणी कविता भक्तों के हृदय को आज तक प्रफुल्लित करती है। महाकवि केशवदास भक्तिमार्ग को छोड़ शृङ्गार रस का स्वाद ले रहे थे। ऐसे समय में प्राचीन उर्दू अर्थात् दक्खिनी का दक्षिण में जन्म हुआ था। यद्यपि फ़ारसी छंदशास्त्र के साँचे में ढलने के कारण हिंदी भाषा का नया रूप बन गया था, परंतु पुराना आकार भी बहुत समय तक बना रहा। उस समय तो हिंदी के बहुत कुछ शब्द, हिंदी की वाक्य-रचना और हिंदी का असर इस नई भाषा पर बना हुआ था और इसी से मुहम्मद कुली कुतुबशाह की ग़ज़लें प्राचीन उर्दू के सच्चे रूप का कुछ कुछ पता देती हैं।

प्रोफ़ेसर आज़ाद ने व्रजभाषा से उर्दू की उत्पत्ति बतलाई है, पर वह उनकी भ्रांति मात्र है। मुहम्मद कुली कुतुबशाह के पहले की उर्दू नाम की भाषा केवल फ़ारसी आदि के शब्द लिए हुए वह हिंदी थी जिसे हिंदू मुसलमान बातचीत और व्यवहार में काम में लाते थे और वह व्यावहारिक भाषा व्रजभाषा नहीं थी। उर्दू के साहित्यिक आरंभ की भाषा भी व्रजभाषा नहीं थी जैसा कि मुहम्मद कुली कुतुबशाह की ग़ज़लें पढ़ने से मालूम होगा। इन्होंने अपनी कविता में हिंदी और फ़ारसी का ऐसा मिश्रण किया है कि वह सोने चाँदी की गंगा-जमुनी की तरह झिलमिलाता है। इनके बाद के कवियों को वह धूपछाँह रंग या दो प्रकार का स्वाद ठीक नहीं मालूम हुआ और इन लोगों ने फ़ारसी शब्दों, कथानकों, उपमाओं का मुलम्मा या मेल करके इसे एक रंग या एक स्वाद कर दिया।

मुहम्मद कुली कुतुबशाह की कविता बहुत ऊँचे दर्जे की न होने पर भी हीन नहीं कही जा सकती। किसी भाषा के आरंभिक काल के कवि के समान इनकी कविता भी अच्छी ही मानी जायगी।

इनकी भाषा में दखिनी शब्द भी बहुत आए हैं। कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

कुफ़र रीत क्या हौर इसलाम रीत।
हर एक रीत में इश्क़ का राज़ है॥ *
बिनती कहो पिया कों हम सेज कै न आवे ?
उस बाज मुंज गुमे ना मुंज बाज क्यों गुमावे॥ †
ज़ेहद रया थे बहु दिन बदनाम हो रहा हूँ।
प्याले पिला परम के कर नेकनाम साक़ी॥१
तुम बिनु रहा न जावे अन नीर कुश न भावे।
बिरहा किता सतावे मन सेति मन मिलादो॥२
तुम्हारा मया होना मुंज चूक ऊपर।
कि मैं बाली हूँ और नादाँ बिचारी॥
उनींदी हैं मुंज नयन तुज याद सेती।
कहो तुम नयन में है काँ की खुमारी॥३
यों आज दिसता है सखी उस वक्त का मसलत मुंजे।
जा बैठूँगा मैख़ाने में उस ठौर है इशरत मुंजे॥

---

* हौर = और। राज़ = भेद।

† गुमना = समय काटना। बाज = बिना। अर्थात् उसके बिना मेरा समय नहीं कटता, मैं बेचैन हूँ, तो उसे मेरे बिना कैसे चैन आता है।

१ ज़ेहद (अ०) = तपस्या। रया (अ०) = बाह्याडंबरपूर्ण। थे = से। साक़ी (अ०) मदिरा पिलानेवाला। तपस्या के आडंबर के कारण बहुत दिनोंसे बदनाम हो रहा हूँ; इससे प्रेम रूपी मदिरा पिलाकर नेकनाम कर दें।

२ खुमारी—जागने से या मदपान से चढ़ी हुई आँखें।

३ मौलवी अब्दुलहक़ ने उनींदी का अर्थ बेनींद की लिखा है, पर यह ठीक नहीं है। उनींदी अर्थात् नींद से भरी हुई। अर्थ हुआ कि मैं बालिका और अबोध हूँ; इससे मेरी भूल पर भी तुम्हें प्रेम दिखलाना उचित है। तुम्हारी याद में जागने ही से मेरी आँखें उनींदी हो रही हैं। पर यह तो बतलाओ कि तुम कहाँ गए थे कि तुम्हारी आँखों में खुमारी भरी हुई है।

प्याला परम का हाथ लेउँ दूजाँ के सँग थे दूर हैं।
है खूब जै कुज जग मने सो है सदा दौलत मुँजे ॥१

सदा फूल बन और मद है मुँजे।
नहीं है खुमारी कभी हौर वे ॥
सँपूरन है तुज जोत सों सब जगत।
नहीं खाली है नूर थे कोई शै ॥२

गरजा है मेघ सर थे ताज़ः हुआ है बुस्ताँ।
फूलों की बास पाया बुलबुल हज़ारदस्ताँ ॥
ओ नौनिहाल फूटाँ हैं जामे खूब सो बादः।
नरगिस अवस पलक सों झाड़ू करे शबिस्ताँ ॥
मुंज इश्क के गदा कों औरंग शाही देता।
सब आशिक़ाँ मुँज आगे हैं तिफ्लजाँ दबिस्ताँ ॥३

इस प्रकार के शेरों में जिनमें मदिरा और मदिरापान का ज़िक्र बराबर चला आ रहा है, फ़ारसी की रंगत साफ़ झलकती है। फारसी भाषा पर इस मदिरा का तेज़ रंग बहुत चढ़ा हुआ है। पर इस कवि ने अपनी भाषा में उसका नीम रंग रखकर उसकी शोभा बढ़ा दी है। इस कवि ने केवल प्रेम ही पर नहीं लिखा है वरन् अन्यान्य विषयों पर भी लिखा है जिनमें मानुषिक विचार और प्राकृतिक वर्णन भी सम्मिलित हैं। फलों, मेवों, पक्षियों आदि पर भी कविताएँ लिखी हैं।

---

१ मसलत—[अ० मसलहत] उपयुक्त सम्मति। इशरत—(फा०) आराम। जै कुज = जो कुछ।

२ सँपूरन—(सं० संपूर्ण) भरा हुआ। उर्दू लेखक ने इसका अर्थ पूर्ण चंद्र समझकर लिखा है, पर वह अशुद्ध है।

३ सर थे—नए सिरे से। बुस्ताँ—(फा०) बाग। जाम—(फा०) प्याला। बादः—(फा०) शराब। शबिस्ताँ—(फा०) एकांत स्थान। मसजिद का वह भाग जहाँ निमाज़ पढ़ते हैं। औरंग—(फा०) तख्त, सिंहासन। तिफ्ल—[फा०] लड़का। दबिस्ताँ—[फा०] पाठशाला।

सड़क से बाग़ में देखत खुले मुँज बाग़ के गुंचे।
सो उस गुंचे के बासों से लगा अगजगमगन सारा ॥ *
चमन के फूल फूले देख सखियों का मुख याद आया।
सुहाता था मुहम्मद फल नमन उनके नयन सारा ॥ *
दिसे नासिक कली चंपा भवाँ दो पात हैं जिसके।
भँवर तिल देख उस जा-पा हुआ हैरान मन सारा ॥
दिसे जामुन के फल बन में नीलम के नमन सालिम।
नज़र लागे स्यों मेवायाँ कों राख्या हैं जतन सारा ॥ १

डूबते हुए सूर्य का कई प्रकार से वर्णन किया है, जैसे—
निसि के समुंदे स्याम में सोने का रोज़क़ डूब्या।
डूबने में तिरने लगे बुड़बुड़े कई लख हज़ार ॥ २
रात्रिरूपि नीले समुद्र में सोने की नाव डूब गई, जिसके डूबने से लाखों बुलबुले सितारों की तरह दिखलाई पड़ने लगे।
चर्ख़ के ख़ुमख़ाने में खुर पिया जानो मद।
मस्त हो जाकर पड्या ग़र्ब के चश्मे मँझार ॥
आकाश के शराबख़ाने में सूर्य ने अधिक मदिरापान कर लिया जिससे मस्त होकर पश्चिम के तालाब में जाकर गिर पड़ा।
चंद्र पर रूपक बाँधा है कि—
गगन के सौं हौज़ ख़ाने रैन भर्या नीर ज्यों।
चाँद फ़ुयारा नमन तारे बुँदा नीर सार ॥

---

* इस शेर का जो पाठ 'उर्दू' में दिया है, उसकी धारा ठीक नहीं थी इसी से कुछ पाठ-भेद कर दिया गया है।

१ मुँज बाग के गुंचे—भाव है कि मेरे हृदय की कलियाँ खिल गईं।
फूल देखकर सखियों का मुख ध्यान, पर चढ़ गया। चंपा की कली नाक के समान, भौंह उसके दो पत्तों के समान और भौंरे तिल से जान पड़ते थे।

२ उर्दू लिपि में हिंदी लिखने से इसके मूल के पाठ में कई अशुद्धियाँ रह गई हैं।

आकाश रूपी तालाब में रात्रि रूपी (नीला) जल भरा हुआ है जिसमें चाँद रूपी फुहारे से निकली हुई बूँदें तारे के समान बिखरी हुई हैं।

मुहम्मद कुली कुतुबशाह की कविता के जो नमूने ऊपर दिए गए हैं, उनमें फारसी कविता का रंगरूप अच्छी तरह प्रकट हो रहा है। भाव, विचार, उपमा आदि फारसी की हैं और छंद भी उसी के साँचे में ढले हुए हैं। पर इन सब के होते भी एक बात शुद्ध हिंदी या भारतीय है जो इसकी समग्र कविता में एक रूप से पाई जाती है। फारसी की कविता में पुरुष प्रेमी अर्थात् आशिक होता है और स्त्री प्रेम की पात्र अर्थात् माशूक होती है; पर हिंदी में इसके बिलकुल विपरीत होता है। विरहाग्नि में जलना हो तो स्त्रियाँ जलें, सौतों का कष्ट उठाना हो तो वे उठावें और पुरुष पर प्रेम प्रकट करना हो तो वे करें। पुरुष ने इन सब बातों में स्त्रियों से असहयोग करने की ठान ली है। पर फारसी कविता स्त्रियों के प्रति अधिक उदार है और उसमें पुरुष ही सब कष्टों को झेलता है। पर यह औदार्य कहाँ तक युक्तियुक्त है, यह इस उदाहरण से व्यक्त हो जायगा। यह सर्वमान्य होगा कि जब प्रेम एकांगी नहीं है तब विरह में दोनों को कष्ट होता है और स्त्री के अधिक सुकुमार और असहनशील होने के कारण उसका विरह पहले ही प्रकट हो जाता है। किसी प्रकार के कष्ट को स्वभावतः पुरुष स्त्री से अधिक सहन करनेके योग्य होता है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि उसीके द्वारा कवि विरहादि-जनित क्लेशों को प्रकट करे। पुरुषों का आहें भरना, रोना, गाना किसी सीमा तक ही उचित है; पर स्त्रियों के लिये वह सीमाबद्ध नहीं हो सकता। अस्तु, यही हिंदी कविता का रंग है जो इनके काव्य-संग्रह में सर्वत्र झलकता है।

इस विषय का उल्लेख करते हुए जहाँगीर बादशाह के समय की एक घटना का वर्णन करना उचित जान पड़ता है। एक समय जहाँगीर के सामने कव्वाल अमीर खुसरो की ग़ज़ल गा रहा था

और वह बड़ी प्रसन्नता से सुन रहे थे। जब उसने निम्नलिखित शेर गाया—

मू शवानः मीनुमाई वेह परे कि बूदी इमशब।
कि हनोज़ चश्मे मस्त अस्त असरे खुमार दारद॥

तो जहाँगीर एकाएक बिगड़ गया और कव्वाल को पिटवाकर निकलवा दिया। वह इतना क्रुद्ध हो गया था कि लोगों ने झट मुल्ला नक़शी मेहकुन को बुलवाया जिस पर जहाँगीर की बड़ी कृपा रहती थी। इन्हें देखते ही जहाँगीर ने कहा कि देखो अमीर खुसरो कैसी निर्लज्जता का भाव लाया है। भला कोई भला आदमी अपनी प्रेयसी या विवाहिता से ऐसी बात कह सकता है। मुल्ला ने कहा कि अमीर खुसरो का भारतवर्ष में ही पालन हुआ था, इसलिये वे यहीं के विचारों के अनुकूल कविता करते थे। यह शेर भी उसी विचार के अनुसार है जिसका भाव यह है, कि स्त्री अपने पति को उलाहना देती है कि तू आज रात्रि को किसी अन्य स्त्री के यहाँ रहा है, क्योंकि अभी तक तेरी आँखों में जागने तथा मद्यपान की खुमारी भरी हुई है।

यदि उर्दू के कवि-संसार के दो चार उच्च कोटि के कवियों को अलग कर दिया जाय तो चार शताब्दी पहले की शृंगारिक कविता और आधुनिक समय की कविता में कोई नई बात नहीं दिखलाई देती। यदि दोनों में कुछ भिन्नता है तो वह भाषा की भिन्नता तथा सफ़ाई के सिवा और कुछ नहीं है। वे ही विचार, वे ही भाव, छंद आदि आज तक चले आ रहे हैं।
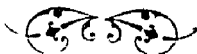
(१२) महाकवि-भास और उसका नाटक-चक्र

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर]

[पत्रिका, भाग ४, पृष्ठ १६१ के आगे]

छठे अंक में दिखलाया है कि कुंतिभोज का भेजा हुआ दूत सौराष्ट्र से लौटकर कहता है कि वहाँ के अमात्यों ने यह कहा है कि सौवीरराज आपके ही नगर में गुप्त-रूप से निवास कर रहे हैं। इस पर राजा उसका पूर्ण अन्वेषण कराता है और पता लग जाने पर अत्यन्त स्नेह से उससे मिलता है। बचपन से सख्य भाव रखनेवाला सौवीरराज, कुंतिभोज के इतने सत्कारयुक्त स्वागत करने पर भी, उचित उत्साह से उससे नहीं मिलता; अतएव उसे कहना पड़ता है कि—

चिन्ताकुलत्वं प्रजतीव बुद्धिर्वाक्यं च बाष्पाहतगद्गदं च।
नेत्रे सबाष्पे मुखमप्रसन्नं किं हर्षकाले क्रियते विकारः॥

आशय—मित्र! यह क्या बात है? आपका मन चिंताकुल सा हो रहा है, आपसे बोला भी नहीं जाता, नेत्रों में नीर आ गया है, मुख उदास हो रहा है, हर्ष के समय यह क्या विपरीत अवस्था कर रक्खी है?

वह उत्तर देता है कि मित्र, यह बात नहीं कि मैं आपके मिलने से अप्रसन्न हूँ, किंतु पुत्र-स्नेह बहुत बलवान् है। चंडभार्गव नामक अत्यंत कोपशील महर्षि हैं। वे एक समय हमारे देश में आए और वहाँ पर एक स्थान पर उनका एक शिष्य व्याघ्र से मारा गया। मैं भी उस अवसर पर आखेट करता हुआ उस स्थल पर पहुँच गया। ऋषि ने अपने मृत शिष्य को अपने हाथों में ले रक्खा था और वे

मुझे देखते ही मेरे ऊपर कठोर शब्दों की वर्षा करने लगे। मैंने उनसे कहा—

न भाषसे सूनृतमुग्ररोष निष्कारणं प्रक्षिपसि प्रकामम्।
अभाजनं त्व तपसां प्रकोपाद् ब्रह्मर्षिरूपेण भवाञ्श्वपाकः ॥

आशय—आप बात तो बनाते नहीं, रुष्ट हो रहे हैं, व्यर्थ ही जो चाहे जैसे भला बुरा कह रहे हैं, क्रोध के कारण आप तपस्वी होने के योग्य नहीं, वस्तुतः ब्रह्मर्षि के रूप में आप श्वपाक हैं।

इस पर क्रुद्ध होकर उन्होंने मुझको पुत्र कलत्र सहित श्वपाक बनने का शाप दिया। हमारा पुत्र विष्णुसेन (जो अवि नाम के राक्षस के वध करने से अविमारक कहलाता है) हमारे साथ था, परंतु एक वर्ष से उसका कुछ भी पता नहीं। यह शोक मेरे हृदय को विदीर्ण कर रहा है। जिस समय ये बातें बीती हो रही हैं, उस समय नारद मुनि यह सोचकर कि कुन्तिभोज के पिता दुर्योधन ने हमारी चिरकाल तक सेवा की थी, यहाँ पधारते हैं और अपने योगबल से अविमारक का कुरंगी के साथ स्नेह हो जाना आदि घटनाएँ प्रकट कर देते हैं। पिता को अपने पुत्र की प्राप्ति से परम हर्ष होता है और कुन्तिभोज भी, जो पहले ही से अपनी कन्या कुरंगी का विवाह अविमारक से करना चाहता था, इस अपूर्व मिलाप से प्रमुदित होता है। नारद बन्धुओं को आशीर्वाद देते हैं और नाटक समाप्त होता है।

बलियों में से जो जौ के दाने बिखर कर उग गए हैं, उन्हें कीड़े चबा रहे हैं। इतने ही में उसके पास उसका मैत्रेय नामक मित्र आ जाता है और अनेक प्रकार से उसे सांत्वना देता है। चारुदत्त कहता है कि हाँ, यह ठीक है, मेरा धन सहानुभूति के कार्य्यों में समाप्त हो गया। मुझे याद नहीं कि मैंने कभी किसी अर्थी जन को अकृतार्थ रक्खा हो। अतएव—

सत्यं न मे धनविनाशगता विचिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि पुनर्भवन्ति।
एतत्तु मां दहति नष्टधनश्रियो मे
यत् सौहृदानि सुजने शिथिलीभवन्ति॥

आशय—सचमुच मुझको धन के नाश हो जाने की तो चिंता नहीं, भाग्यक्रम से धन तो नष्ट होकर फिर भी हो जाया करता है, परंतु वास्तव में मेरे हृदय को यह बात अवश्य विदीर्ण करती है कि मुझको नष्ट वैभव जान लोगों ने मुझसे सख्य-भाव भी शिथिल कर डाला।

इस प्रकार चारुदत्त और मैत्रेय का पारस्परिक वार्त्तालाप होता है और मैत्रेय रदनिका नाम की चेटी को साथ में लेकर बलि देने को जाता है। इधर मार्ग में जाती हुई एक बहुत समृद्धिशाली राजवेश्या की पुत्री वसंतसेना का, जो चारुदत्त के विविध गुणों को सुनकर उससे अनुराग करती थी, उज्जैन के राजा का साला "शकार" और उसका सहचर "विट" पीछा करता है। वे उसे अनेक प्रकार से प्रलोभन और तर्जना देते हैं, परंतु वह उनका अनवधान करती हुई भागती जाती है। रात्रि का समय होने के कारण वे एक दूसरे को भले प्रकार से गली में नहीं देख सकते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि शकार जो वहाँ के मकानों से अधिक परिचित है, वसंतसेना को भाग गई जानकर अपने सहचर से कहता है कि यह युवती सार्थवाह (मुखिया) के पुत्र चारुदत्त से अनुराग करती है। और यह उसीके निवास स्थान का

उससे चारुदत्त के प्रति प्रेम का आविष्करण करा लेती है। इस प्रेम को पोषण करनेवाली दो और भी घटनाएँ इस अवसर पर होती हैं। उनमें से प्रथम यह कि शरण चाहता हुआ संवाहक नाम का एक पुरुष वहाँ आकर कहता है—"मैं पाटलीपुत्र का रहनेवाला एक वैश्य हूँ। मन्द भाग्य से संवाहक वृत्ति से अपना निर्वाह करता हूँ। लोगों के मुख से उज्जैन की बहुत प्रशंसा सुनकर अपना कुतूहल शमन करने यहाँ चला आया और एक सार्थवाह-पुत्र के यहाँ नियुक्त होकर सेवा करने लगा। मैं आपसे उस पुरुष-रत्न के गुणों का क्या वर्णन करूँ! वह बहुत सुंदर है, परंतु उसे अपने सौंदर्य्य का लेश मात्र भी गर्व नहीं; उसका स्वभाव बहुत ही ललित और मधुर है। वह किसी को दान देकर कभी उस दान की चर्चा नहीं करता; थोड़े से भी उपकार को बारंबार स्मरण करता है। मैं बड़े आनंद के साथ उसके यहाँ काम करता रहा, परंतु विभव की मन्दता के कारण उस आर्य्य को मुझसे यह कहना पड़ा कि अब तुम और जगह नौकरी तलाश कर लो। मैं यह सोचकर कि मुझे कहाँ ऐसा नर-रत्न मिलेगा, इसके कोमल, ललित, मधुर शरीर के स्पर्श से कृतार्थ किए हुए अपने हाथ को मैं क्योंकर साधारण शरीर के संमर्दन से शोचनीय करूँगा, द्यूतोपजीवी बन गया। तदनंतर मैंने बहुत दिनों तक द्यूत में विजय पाई; परंतु एक दिन मैं भी एक पुरुष से १० सुवर्ण हार गया और आज दैव संयोग से उसने मुझको मार्ग में पकड़ लिया। उसके भय से मैं यहाँ आया हूँ।" वसंतसेना यह निर्णय कर कि वह सार्थवाह पुत्र चारुदत्त ही है जिसकी इसने प्रशंसा की है, प्रसन्न होकर उस मनुष्य को जो उससे द्रव्य मांगता था, द्रव्य देकर विसर्जित करा देती है और ऋण से मुक्त हुआ तथा इस द्यूतरूपी दुष्कर्म से लज्जित हुआ संवाहक धन्यवाद देता हुआ कहता है कि निर्वेद (अनुताप) के कारण मैं आज ही परिव्राजक बन जाऊँगा। यदि आपका कोई परिजन इस संवाहन कला को सीखे तो मैं उसे सिखाकर अनुगृहीत

दायक है, तुरंत अपना हित सिद्ध करती है। ज्यों ही मैत्रेय दीपक लेकर द्वार खोलकर बाहर निकलता है, त्यों ही दीवार के पास खड़ी हुई वसंतसेना उसे बुझा देती है और चुपके से घर के अंदर घुस जाती है। मैत्रेय स्वयं तो दीपक जलाने को वापस चला जाता है और चेटी रदनिका को पूजा की सामग्री लेकर आगे चलने को कह जाता है। वह बेचारी वसंतसेना के धोखे में शकार और विट से पकड़ ली जाती है और वृथा घसीटी जाती है। पीछे से मैत्रेय दीपक लेकर आता है और सब भेद खुल जाता है। विट इस अनुचित घटना के लिये क्षमा माँगता है, परंतु सर शर-प्रहार-परवश शकार यह जानकर कि यह मैत्रेय चारुदत्त का मिलनेवाला है, उससे कहता है कि तुम मेरा नाम लेकर उस सार्थवाह पुत्र से कह देना कि वसंतसेना बहुत सा ज़ेवर पहने हुए तुम्हारे घर में घुस गई है। उसे कल दिन निकलते ही मेरे अर्पण करना, अन्यथा तुम्हारे धन-जीवन की कुशल नहीं है। ये बेचारे चुपचाप सुनकर वापस चले आते हैं और सौम्य वृत्ति से यह दुर्घटना चारुदत्त को सुनाते हैं। वसंतसेना, जो समीप ही खड़ी हुई है, अपने आप को प्रकट करने का सुअवसर समझ कर कहती है—"मैं बिना आपकी आज्ञा के आपके स्थान में घुस आने के लिये क्षमा प्रार्थी हूँ। जैसा आपसे निवेदन किया गया है, कुछ पापी मेरे आभूषण के लालच से मुझको बलात्कार पकड़ने की चेष्टा करते हैं, अतएव मैं इन्हें आपके पास रखकर इन (मैत्रेय) को अपने साथ रक्षार्थ लेकर अपने घर जाना चाहती हूँ"। चारुदत्त इस बात को सहर्ष स्वीकार करता है और मैत्रेय को वसंतसेना के साथ भेजता है। यहाँ प्रथम अंक समाप्त होता है।

दूसरे अंक में यह बताया है कि वसंतसेना अकेली बैठी हुई अपने प्रियतम के विषय में अनायास कुछ उच्चारण करती है। उसे सुन उसकी चतुर दासी युक्तिपूर्वक प्रश्न करने लग जाती है और

उससे चारुदत्त के प्रति प्रेम का आविष्करण करा लेती है। इस प्रेम को पोषण करनेवाली दो और भी घटनाएँ इस अवसर पर होती हैं। उनमें से प्रथम यह कि शरण चाहता हुआ संवाहक नाम का एक पुरुष वहाँ आकर कहता है—"मैं पाटलीपुत्र का रहने-वाला एक वैश्य हूँ। मन्द भाग्य से संवाहक वृत्ति से अपना निर्वाह करता हूँ। लोगों के मुख से उज्जैन की बहुत प्रशंसा सुनकर अपना कुतूहल.शमन करने यहाँ चला आया और एक सार्थवाह-पुत्र के यहाँ नियुक्त होकर सेवा करने लगा। मैं आपसे उस पुरुष रत्न के गुणों का क्या वर्णन करूँ! वह बहुत सुंदर है, परंतु उसे अपने सौंदर्य का लेश मात्र भी गर्व नहीं; उसका स्वभाव बहुत ही ललित और मधुर है।" वह किसी को दान देकर कभी उस दान की चर्चा नहीं करता; थोड़े से भी उपकार को बारंबार स्मरण करता है। मैं बड़े आनंद के साथ उसके यहाँ काम करता रहा, परंतु विभव की मन्दता के कारण उस आर्य्य को मुझसे यह कहना पड़ा कि अब तुम और जगह नौकरी तलाश कर लो। मैं यह सोचकर कि मुझे कहाँ ऐसा नर-रत्न मिलेगा, इसके कोमल, ललित, मधुर शरीर के स्पर्श से कृतार्थ किए हुए अपने हाथ को मैं क्योंकर साधारण शरीर के संमर्दन से शोचनीय करूँगा, द्यूतोपजीवी बन गया। तद-नंतर मैंने बहुत दिनों तक द्यूत में विजय पाई; परंतु एक दिन मैं भी एक पुरुष से १० सुवर्ण हार गया और आज दैव संयोग से उसने मुझको मार्ग में पकड़ लिया। उसके भय से मैं यहाँ आया हूँ।" वसंतसेना यह निर्णय कर कि वह सार्थवाह पुत्र चारुदत्त ही है जिसकी इसने प्रशंसा की है, प्रसन्न होकर उस मनुष्य को जो उससे द्रव्य मांगता था, द्रव्य देकर विसर्जित करा देती है और ऋण से मुक्त हुआ तथा इस द्यूतरूपी दुष्कर्म से लज्जित हुआ संवाहक धन्यवाद देता हुआ कहता है कि निर्वेद (अनुताप) के कारण मैं आज ही परिव्राजक बन जाऊँगा। यदि आपका कोई परि-जन इस संवाहन कला को सीखे तो मैं उसे सिखाकर अनुगृहीत.

होऊँगा। वसंतसेना उत्तर देती है कि जिसके लिये आपने यह कला सीखी है, वही पुनरपि आपका सेवनीय होगा। यह सुनते ही वह प्रसन्न होकर चला जाता है।

दूसरी घटना यह होती है कि एक हाथी उन्मत्त होकर बहुत उपद्रव करने लगता है। वह मार्ग में एक संन्यासी को, जो रँगे हुए कपड़ों के कारण अधिक लक्षणीय था, सहसा पकड़ लेता है और सूँड़ से लपेट दाँतों पर घुमाता है। इस भयंकर दृश्य को देखकर लोग हाहाकार करते हैं; परंतु वसंतसेना का एक साहसी सेवक निःशंक आगे बढ़कर अपने शारीरिक श्रम से उस हाथी पर विजय पा उस संन्यासी को निराबाध छुड़ा लाता है। दर्शक लोग इस सेवक के असामान्य साहस की अत्यंत सराहना करते हैं; परंतु उनमें से एक पुरुष (जो वास्तव में चारुदत्त है) मौखिक सराहना करके ही अपना कर्तव्य पूर्ण हुआ न समझ अपनी दरिद्रता की परवाह न कर अपने एक पुरुषद्वारा नित्य उपयोग में आनेवाला प्रावारक (लबादा) उसको भेंट करने के लिये भिजवाता है। वह उसे लेकर घर आता है और बड़े उत्साह से सारा वृत्तांत वसंतसेना को सुनाता है, जिसे सुनकर वह बहुत प्रसन्न होती है और उससे उस दानी महाशय का नाम पूछती है। वह नाम तो नहीं बताता, परंतु उसको इस घटना स्थल की ओर, जो उसके निवास-स्थान के समीप ही था, ले जाकर उँगली के निर्देश से यज्ञोपवीत मात्र धारण किए उस पुरुष को अपने घर को जाते हुए दिखा देता है। वसंतसेना उसको, जो दरिद्र चारुदत्त है, पहचान जाती है और उसके दुर्लभ गुणों से और भी अधिक आकर्षित हो जाती है।

तृतीय अंक में यह दिखाया है कि चारुदत्त अपने मित्र मैत्रेय सहित एक संगीतोत्सव में जाता है और वहाँ पर एक से एक बढ़िया गीत सुनते सुनते उसे आधी रात हो जाती है। वह वहाँ से लौटकर घर आता है और मैत्रेय से कहता है—

इयं हि निद्रा नयनावलम्बिनी
ललाटदेशादुपसर्पतीव माम्।
अदृश्यमाना चपला जरेव या
मनुष्यवीर्यं परिभूय वर्धते॥

आशय—मित्र! जैसे अदृश्यमान चपला वृद्धावस्था के मनुष्य के बल को दबाकर बढ़ती है, वैसे ही नेत्रों का सहारा लेती हुई यह नींद मेरे ललाट स्थान से धीरे धीरे नीचे आ रही है।

चारुदत्त मैत्रेय को सोने के लिये कहता है, परंतु इतने ही में एक चेटी आकर वसंतसेना के आभरण की पेटी लाकर कहती है कि आज अष्टमी है, पूर्व प्रतिज्ञानुसार आज के दिन आप इसकी रक्षा करें। मैत्रेय को वह पेटी लेनी पड़ती है। इतने ही में सज्जलक नाम का एक पुरुष, जो वसंतसेना की चेटी मदनिका में आसक्त है; परंतु उसके निष्क्रय (स्वतंत्र) कराने के लिये द्रव्य देने में असमर्थ है, चोरी करने को निकलता है। वह चारुदत्त के मकान पर आता है और उसके बगीचे में घुस जाता है। फिर अंदर चक्कर लगाता है और देखता है कि कौन सी जगह जल के कारण ढीली सी है जहाँ छेद करने से आहट न हो, भीतों में कहाँ पर दरार है जहाँ सेंध आसानी से लग सकेगी, मूत्रादि के क्षार से ईंटें ढीली हुई हों ऐसा इस मकान का कौन सा भाग है, कहाँ ऐसी जगह है जहाँ स्त्रियाँ न हों और मेरा यत्न पूर्ण-रूप से सिद्ध हो। उसे एक यथेष्ट स्थान मिल जाता है और वह सेंध लगा लेता है। सेंध की लम्बाई चौड़ाई नापने के लिये अन्य साधन के अभाव से वह अपने यज्ञोपवीत को ही कर्मसूत्र बना लेता है। मकान के भीतर प्रवेश करके वह देख-भाल करता है, परंतु उसे कोई बहुमूल्य पदार्थ न दिखाई पड़ने से वह उदासीन हो जाता है। इतने ही में मैत्रेय स्वप्नावस्था में कहता है—"अजी यह सुवर्ण भांड ले लो"। यह सुनकर वह चोर सावधानी से यह परीक्षा करने लगता है कि यह उच्चारण करनेवाला यथार्थ रूप से सोया हुआ है या सोने का बहाना किए हुए मुझको चिढ़ाता

है। वह देखता है कि इसका साँस निःशंक है और ऊँचा-नीचा नहीं है, एक समान चल रहा है, शरीर जोड़ों पर पूरा पूरा फैला हुआ है; इतना ही नहीं बल्कि शय्या से भी अधिक लंबा है, आँखें मिची हुई हैं, पलकें ज़रा भी नहीं हिलतीं; और इसके सिवा एक बात यह भी है कि यदि बनावटी रूप से यह सोया हुआ होता तो अपने सामने ही रक्खे हुए दीपक को इतनी देर तक सहन न कर सकता। इतना निश्चय करके वह अपने पास से एक कीड़े को निकालकर फेंकता है जो दीपक को बुझा देता है। थोड़ी देर में मैत्रेय फिर कहता है—"अरे रे! दीपक बुझ गया; अरे चारुदत्त तुम इस पिटारी को ले लो"। और ज्यों ही वह उसे हाथ में ले आगे करता है, त्यों ही चोर उसे ग्रहण करके चला जाता है। मैत्रेय तो यही समझता है कि चारुदत्त ने उसे ले लिया; परंतु थोड़ी देर बाद एक चेटी आकर चिल्लाती है-"उठो, उठो, चोरों ने सेंध लगा दी"। चारुदत्त और मैत्रेय उठते हैं और उन्हें उस वसंतसेना के अलंकार का चोरी हो जाना बहुत संताप उत्पन्न कराता है। चारुदत्त मन में सोचता है-

कः श्रद्धास्यति भूतार्थं सर्वो मां तुलयिष्यति।

शङ्कनीया हि लोकेषु निष्प्रभावा दरिद्रता॥

आशय—कौन इस बात की सचाई में विश्वास करेगा! सब लोग मेरे ही ऊपर संदेह करेंगे; और लोक रीति भी यही है कि ऐसे दोषों में जहाँ दोषी का सम्यक् रूप से पता न हो, दरिद्र पुरुष पर ही शंका की जाती है।

जब यह दुर्घटना चारुदत्त की स्त्री को ज्ञात होती है, तब वह साध्वी सबसे प्रथम तो अपने पति और पति के मित्र के शरीर की कुशलता पुछवाती है, तदनंतर पति की संकट अवस्था को निहार अपने पीहर से प्राप्त हुई एक लक्ष के मूल्य की मुक्तावली उस वसंतसेना की धरोहर के बदले में देने का संकल्प करती है। वह जानती है कि मेरा पति स्त्री का धन लेने में संकोच करेगा, अतएव मैत्रेय को बुलवाकर कहती है कि मैं छठ का व्रत किया करती हूँ। ब्राह्मण को

अपने घर की सर्वश्रेष्ठ वस्तु दान में देकर इस व्रत का पूजन किया जाता है, अतएव आप इस मुक्तावली को ग्रहण करें। मैत्रेय को यह पता लग जाता है कि यह साध्वी इस धन से अपने पति को अनृण करना चाहती है। वह उसे ग्रहण कर चारुदत्त के पास जाता है और वह (चारुदत्त) इस बात की चिंता न कर कि यह खोए हुए आभरण से कितनी अधिक कीमती है, उसे वसंतसेना के पास भिजवा देता है।

चौथे अंक में यह दिखलाया है कि सज्जलक वसंतसेना के निवास स्थान पर पहुँचकर अपनी प्रियतमा मदनिका से मिलता है और बड़े उत्साह के साथ कहता है कि लो, मैं तुम्हारे निष्क्रय के लिये यह आभूषण ले आया हूँ। वह उसे देखते ही पहचान जाती है कि यह तो आर्य्या वसंतसेना का है। और फिर उससे उसके लाने की सारी कथा पूछती है जिसे सुनकर वह कहती है कि तू ने यह बड़ा अनर्थ किया। इतना ही अच्छा किया कि वहाँ किसी पर प्रहार नहीं किया। अब तू इसे उसी जगह जहाँ से लाया है, पहुँचा दे। वह कहता है कि वे मुझे पुलिस के हवाले कर देंगे तो मेरी कैसी दशा होगा! मैं तो अब वहाँ नहीं जा सकता। मदनिका कहती है कि अच्छा, यदि तू ऐसा करने के लिये तैयार नहीं, तो तू इसे आर्या वसंतसेना को यह कहकर कि चारुदत्त ने भेजा है, दे दे। वह इसे स्वीकार करता है और मदनिका वसंतसेना से यह कहने जाती है कि सार्थवाह-पुत्र के पास से कोई ब्राह्मण आया है और आपसे मिलना चाहता है। मदनिका के पहुँचने के पहले ही एक दूसरी चेटी वसंतसेना से मैत्रेय का आगमन निवेदन करती है। वह मुक्तावली को लिए अंदर आता है और कहता है कि जो आभूषण आपने आर्य्य चारुदत्त के यहाँ धरोहर रक्खा था, उसे वे द्यूत में हार गए; अतएव उन्होंने उसके स्थान में यह मुक्तावली भेजी है; इसे आप कृपया ग्रहण कीजिए। वसंतसेना ने दूर खड़े होकर सज्जलक और मदनिका का सारा वार्तालाप सुन लिया था, इसलिये वह यह जानती थी कि मेरा आभरण चुराया

गया है न कि द्यूत में हारा गया। यह उसे ले लेती है और मन में चारुदत्त की विलक्षण साधुता की सराहना करती है। मैत्रेय के विदा होते ही मदनिका कमरे में घुस पूर्व निश्चयानुसार निवेदन करती है और सज्जलक आभरण समर्पण करता है। वसंतसेना अपनी दासी की अव्याज भक्ति और उन्नत चरित्र से इतनी प्रसन्न होती है कि वह उसे अपने शरीर के आभरणों से समलंकृत कर देती है और दास-भाव से विमुक्त कर सज्जलक के साथ उसका पाणिग्रहण कराती है। सज्जलक मन में सोचता है कि मैं कब इस अहसान का बदला चुका सकूँगा। क्षण मात्र में इससे भी अधिक उन्नत विचार उसके मन में प्रवर्त होता है और वह कहता है—

नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तौ लभते फलम्।
छिपतामेव कालोऽस्तु योऽस्तु भवतु तस्य वा* ॥

आशय—वास्तव में जो मनुष्य किए हुए उपकार के लिये प्रत्युपकार करना चाहता है, वह जिसके साथ करना चाहता है, उस पर जब विपत्ति पड़े तब कर सकता है; परन्तु ऐसा हाल शत्रुओं का हो। इसका तो जो है, वही रहे।

सज्जलक और मदनिका वसन्तसेना को धन्यवाद दे विदा होते हैं। यहाँ पर चौथा अंक पूरा हो जाता है।

जैसा कि पहले लिख आए हैं, यह रूपक अधूरा है। इसके अभी तक दो ही आदर्श मिले हैं जिनमें से एक के अंत में "अव-सितं चारुदत्तम्" लिखा हुआ है। मृच्छकटिक इसी रूपक का परिवर्धित स्वरूप है। उसकी रचना शूद्रक ने की है जिसका समय

---

* रामायण में भी एक स्थान पर लिखा है कि जब रामचंद्र विभीषणादि को विदा कर चुके, तब सुग्रीव से कहा'—मित्र! मैं तेरे उपकार का तो ऋणी ही रहना चाहता हूँ'। प्रत्युपकार का विचार करने में सुग्रीव के ऊपर विपत्ति का होना संभव था जो रामचन्द्र को कभी अभीष्ट नहीं था, अतएव ऋणी रहना कहना ही समुचित है।

अब तक ठीक ठीक निश्चित नहीं हुआ। मृच्छकटिक में दस अंक हैं। उसके प्रथम चार अंकों की कथा भास के चारुदत्त से बहुत कुछ मिलती हुई है। भास की गद्य रचना इतनी सरस, मधुर, स्निग्ध, ललित और गम्भीर है कि यद्यपि उसने चारुदत्त के द्वितीय अंक में एक भी श्लोक नहीं लिखा है, तथापि उसके पारायण में तनिक भी किसी प्रकार की न्यूनता नहीं प्रतीत होती। शेष अंकों के ६० श्लोक मृच्छकटिक में ज्यों के त्यों अथवा अल्प पाठांतर से मिल जाते हैं। मृच्छकटिक में यह कथा इस प्रकार से आगे बढ़ती है कि उज्जैन के राजा पालक ने आर्यक नाम के एक पुरुष को, जिसके विषय में सिद्ध पुरुषों का यह कहना था कि वह पालक के स्थान में राजा बनेगा, कैद कर लिया। आर्यक सज्जलक (मृच्छकटिक में शर्विलक नाम है) का मित्र था, अतः वह अपनी नवोढ़ा को एक मित्र के घर ठहराकर तुरंत आर्यक को मुक्त करने के लिये यत्न करने जाता है। वसंतसेना उस रत्नावली को, जो मैत्रेय दे गया था, चारुदत्त की स्त्री धूता के पास यह कहलाकर भिजवाती है कि मैं भी चारुदत्त की गुणनिर्जिता दासी हूँ एवं आपकी भी दासी हूँ, अतः यह रत्नावली आपके ही कंठ को समलंकृत करे। धूता यह कहकर कि आर्यपुत्र ने यह आपको भेंट की है अतः आपको ही रखनी चाहिए; उसे वापस भिजवा देती है। उसी समय रदनिका चारुदत्त के पुत्र रोहसेन को खिलाती हुई वसंतसेना के पास ले आती है। वह उस बालक को देख प्रसन्न होती है और पूछती है कि यह क्यों रूसा हुआ है। दासी कहती है कि इसने एक आदमी के पास सोने की गाड़ी देखी और देखकर उसे लेना चाहा। वह चला गया। मैंने इसको बहलाने के लिये यह मिट्टी की गाडी दे दी है, परंतु यह इससे प्रसन्न नहीं होता और सोने ही की गाड़ी चाहता है। वसंतसेना प्रेम से उस बालक को अपने शरीर के आभूषण दे देती है और कहती है कि इनसे सुवर्ण की गाडी बनवा लेना। दासी उसे लेकर घर चली आती है। तदनंतर वसंतसेना चारुदत्त से, जो पुष्प-

करंडक उद्यान में था, मिलने जाती है। परंतु ऐसा विचित्र संयोग हो जाता है कि वह भूल से राजा के साले शकार (मृच्छकटिक में संस्थानक) की गाड़ी में बैठ जाती है और जिस चारुदत्त की गाड़ी में उसे बैठना था, उसमें आर्यक, जो सज्जलक द्वारा जेल से भगा दिया गया था, बेड़ी पहने चुपके से बैठ जाता है। गाड़ियों को हाँकने-वाले इस बात को नहीं जानते। परिणाम यह होता है कि उद्यान में चारुदत्त के पास वसंतसेना के बदले आर्यक पहुँच जाता है। वह चारुदत्त से मिलता है जो उसे उसी गाड़ी से यथेष्ट स्थान को पहुँचवा देता है। वसंतसेना शकार के पास पहुँच जाती है और पुनरपि प्रलोभनों द्वारा उसे वशीभूत करने का उद्योग किया जाता है। परंतु जब वह वश में नहीं आती, तब वह दुष्ट अपने मनुष्यों से उसके प्राण हरण करने को कहता है। जब वे इस पापाचरण में प्रवृत्त नहीं होते, तब वह स्वयं इस साध्वी का गला घोंटता है। इस अव-सर पर संवाहक, जो पहले द्यूतोपजीवी था परंतु अब संन्यासी बन गया था, वसंतसेना को पहचान लेता है और उसे समीपवर्ती स्थान में ले जाता है। जब वह स्वस्थ हो जाती है, तब वह उसे नगर में उसके निवासस्थान पर पहुँचाने जाता है। मार्ग में ये क्या देखते हैं कि दुष्ट शकार ने ऐसी घोषणा कर दी है कि वसंतसेना चारुदत्त द्वारा मार डाली गई, और उसके आभरण चारुदत्त के यहाँ मिले। यों प्राणहरण का दोष सिद्ध हुआ समझ जाने से चारुदत्त को फाँसी का हुक्म हो जाता है। वसंतसेना तुरंत उस स्थान पर चली जाती है और चारुदत्त निर्दोष सिद्ध हो जाता है। इतने ही में यह भी समाचार आता है कि राजा पालक मार डाला गया और उसके स्थान में आर्यक राजा बनाया गया है। वह नया राजा वसंतसेना को चारुदत्त की वधु कहकर परितुष्ट होता है और पूर्व उपकार का स्मरण कर चारुदत्त को जागीर देता है।

अभिषेक नाटक

इस नाटक के प्रथम अंक में वालि का वध दिखाया गया है।

किष्किंधा के समीप राम और सुग्रीव का वार्तालाप होता है। सुग्रीव स्वीकार करता है कि आपके बाण ने सात साल-वृक्षों को छेदा, इससे मुझको प्रतीत होता है कि आप अवश्य वाली को हरा सकेंगे। राम की प्रेरणा से सुग्रीव वालि के पास जाता है और कहता है कि युद्ध में मैं आपकी पादशुश्रूषा करना चाहता हूँ। तारा के रोकने पर भी वीर वाली सुग्रीव से युद्ध करने को निकल पड़ता है। दोनों में युद्ध होता है और वह सुग्रीव को बलपूर्वक दबा लेता है। हनुमान अपने स्वामी की इस दुर्बल अवस्था को देख राम को पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हैं जिसके कारण वे छिपकर एक तीर मार देते हैं। तीर पर लिखे हुए नाम को पढ़कर वालि साक्षेप कहता है—

> युक्तं भो नरपतिधर्ममाश्रितेन
> युद्धे मां छलयितुमक्रमेण राम।
> वीरेण व्यपगतधर्मसंशयेन
> लोकानां छलमपनेतुमुद्यतेन* ॥

आशय—हे राम! राजा के धर्म को धारण करनेवाले वीर होते

---

* वस्तुतः वीर राम से वालि का इस प्रकार मारा जाना अच्छा नहीं गिना गया। महाभारत के द्रोण पर्व में जब अश्वत्थामा (हाथी) मारा जा चुका था, तब अर्जुन ने युधिष्ठिर को जो शब्द कहे, वे इस प्रकार हैं—

> उपचीर्णो गुरुर्मिथ्या भवता राज्यकारणात्।
> धर्मज्ञेन सता नाम सोऽधर्मः सुमहान्कृतः ॥
> चिरं स्थास्यति चाकीर्तिस्त्रैलोक्ये सचराचरे।
> रामे वालिवधाद्यद्वदेवं द्रोणे निपातिते ॥

आशय—भगवन्! आपने राज्य के कारण गुरु से मिथ्या कहा। आप धर्म के जाननेवाले हैं, अतएव आपका "अश्वत्थामा मारा गया" ऐसा झूठ कहना महान् अधर्म है। यह अपयश, जो राम के वालि को वध करने से उत्पन्न अपयश के समान आपके द्रोण को युद्ध से अलग करने से उत्पन्न हुआ है, त्रिलोकी में चिरकाल तक बना रहेगा।

हुए धर्मध्वजी तथा संसारियों के छल को दूर करने के लिये उद्यत तुम्हारा यह छल करना कहाँ तक युक्त है।

वास्तव में छल से मेरे ऊपर प्रहार करते हुए आपने सर्वदा के लिये अपयश कमा लिया। और वल्कल धारे हुए तुम्हारा, भाई से युद्ध में व्यग्र हुए मुझको प्रच्छन्न रूप से मारना नितांत अधर्म है। यह सुन राम उत्तर देते हैं—

वागुराच्छन्नमाश्रित्य मृगाणामिष्यते वधः।
वध्यत्वाच्च मृगत्वाच्च मयाऽच्छन्नेन दण्डित †॥

आशय—गुप्त फंदा लगाकर मृगों को मारना लोक की रीति है। वध्य होने तथा मृग होने से तुमको इस प्रकार दंड दिया गया है।

वाली फिर प्रश्न करता है कि आप मुझको दंड देने के योग्य किस प्रकार मानते हैं? वे उत्तर देते हैं—विपरीत रीति से विषय करने से। देखो, धर्माधर्म को जानकर भी तुमने अपने भाई की स्त्री से अभिमर्श (संसर्ग) किया। वह कहता है कि इस विषय में तो सुग्रीव भी तुल्य दोषी है। उसने मेरी धर्मपत्नी से अभिमर्श किया। उसको आपने दंड क्यों नहीं दिया। राम समझाते हैं कि ज्येष्ठ का

---

* यह श्लोक वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धाकांड के १८वें सर्ग के निम्नलिखित श्लोकों के आधार पर लिखा गया है—

शृणु चाप्यपरं भूय कारणं हरिपुङ्गव।
तच्छ्रुत्वा हि महद्वीर न मन्युं कर्तुमर्हसि॥
न मे तत्र मनस्तापो न मन्युर्हरिपुङ्गव।
वागुराभिश्च पाशैश्च कूटैश्च विविधैर्नराः॥
प्रतिच्छन्नाश्च दृश्याश्च गृह्णन्ति सुबहून्मृगान्।
प्रधावितान्वा वित्रस्तान्विस्रब्धानतिविष्ठितान्॥
प्रमत्तानप्रमत्तान्वा नरा मांसाशिनो भृशम्।
विध्यन्ति विमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते॥
यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः।
तस्मात्त्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर॥
अयुध्यन्प्रतियुध्यन्वा यस्माच्छाखामृगो ह्यसि॥ (३६-४०)

छोटे भाई की दारा से अभिमर्श* करना युक्त नहीं। इस पर वह निरुत्तर हो जाता है। तदनंतर वह अपने पुत्र अंगद को सुग्रीव के सुपुर्द कर प्राण त्यागता है और राम, लक्ष्मण को सुग्रीव का अभिषेक करने की आज्ञा देते हैं।

दूसरे अंक में हनुमान का जटायु से वृत्तांत पाकर सीता की

---

* इस विषय में रामायण के किष्किंधाकांड में बहुत विस्तार से लिखा हुआ है। कुछ उपयोगी अंश नीचे उद्धृत करते हैं—

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि ॥१८–६॥
तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवागृजुः।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः ॥१८–७॥
तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसंतानमिच्छवः ॥१८–६॥
ज्येष्ठो भ्राता पिता चापि यश्च विद्यां प्रयच्छति।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः ॥१८–१३॥
यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः।
पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चैवात्र कारणम् ॥१८–१४॥
तदेतत्कारणं पश्य यदर्थं त्वं मयाहतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ॥१८–१८॥
अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रुमायां वर्तसे कामात्स्नुषायां पापकर्मकृत् ॥१८–१९॥

आशय—राम बालि से कहते हैं, कि यह भूमि इक्ष्वाकुओं की है, मनु ने दी है, इसको धर्मात्मा भरत इस समय पालता है, उसीकी आज्ञा से हम और अन्य नृप धर्म का प्रचार करते हुए विचरते हैं। निग्रह और अनुग्रह में हमारा अधिकार है। ज्येष्ठ भाई पिता और गुरु के समान है, छोटा भाई पुत्र के समान है। तुम सुग्रीव के जीते हुए उस छोटे भाई की स्त्री से रमण करते हो, यह पाप है; अतएव अपराधी होने से मारे गए। यहाँ यदि यह प्रश्न करो कि सुग्रीव ने भी तो बालि के जीते जी उसकी स्त्री ले ली थी, तो इसका यह समाधान है कि उसने बालि को मरा हुआ जाना, तदनंतर नियोग किया। जीता जानते हुए ऐसा करना पाप गिना जाता। इसी रीति से सुग्रीव का बालि के मर जाने पर पुनरपि तारा के साथ संयोग हो जाना अनिन्द्य माना गया है।

खोज में लंका को जाना, उनसे मिलना, रावण का सीता को त्रास दिखाना; तीसरे अंक में प्रमोदवाटिका* भग्न करना, रावण के पुत्र अक्ष का पाँच सेनापतियों सहित मारा जाना, इंद्रजित् द्वारा हनुमान का ग्रहण हो जाना, विभीषण के परामर्श की अवहेलना

होना और चौथे अंक में विभीषण का राम से मिलना, राम का समुद्र पार कर लंका पर चढ़ाई करना, गुप्त रूप से आए हुए रावण के शुक और सारण नाम के मंत्रियों का पकड़ा जाना दिखाया गया है। ये सब बातें लोक विदित हैं, अतः अधिक लिखना अनावश्यक है।

पाँचवें अंक में पुनरपि रावण का सीता को त्रास देना दिखाया गया है। यहाँ तक कि वह राम लक्ष्मण के सदृश दो कटे हुए सिरों को उनके सामने रखवाकर कहता है कि वे तो इंद्रजित् ने मारे गए, पहचानो येही हैं न ? अब कहो, तुम किसके द्वारा मुक्त की जाओगी ? इतने ही में तुरंत एक घबराया हुआ राक्षस आकर कहता है "राम से, राम से"। सीता इस ध्वनि से प्रसन्न हो जाती है और इसके उच्चारण करनेवाले को आशीर्वाद देती है। वह राक्षस निवेदन करता है कि महाराज ! कुमार मेघनाद आज उदीर्ण सत्व महाबली राम लक्ष्मण से युद्ध में मारा गया। वीराभिमानी रावण सहसा अपने पराक्रमी पुत्र के मारे जाने की सूचना पर विश्वास नहीं करता और कहता है—

देवा सेन्द्रा जितायेन दैत्याश्चापि पराङ्मुखा ।
इन्द्रजित् सोऽपि समरे मानुषेण निहन्यते ॥

आशय—अरे, इंद्र सहित देवताओं को तथा दैत्यों को जिसने पराङ्मुख किया, वह इंद्रजित् कहीं युद्ध में मनुष्य से मारा जा सकता है ?

राक्षस इसे विषय का विश्वास दिलाता है। अंत में उसका मरना निःसंशय सिद्ध हो जाने पर पुत्रस्नेह उसे विह्वल कर डालता है "और" वह रोने लगता है। वह सीता की ओर, यह विचार कर कि इसी के कारण मेरे अनेक भाई, सुहृद और सुत नष्ट हुए हैं, अतः इस शत्रु को तो मार डालूँ, लपकता है, परंतु वह राक्षस उसे इस स्त्री-हत्या से बचा लेता है।

छठे अंक में रावण का वध, सीता की अग्नि द्वारा परीक्षा और अग्नि का राम को अभिषेक करना लिखा है, जो इस कवि की ही कल्पना है।

प्रतिमा नाटक

श्रीराम की जीवनी को नाटक रूप में कई कवियों ने ढाला है। उनमें से वर्तमान काल में भवभूति के उत्तररामचरित का स्थान संस्कृत साहित्य में बहुत ऊँचा माना जाता है। यह करुण रस का अद्वितीय नाटक है। भास ने अपनी नूतन-निर्माण-निपुण मेधा से ऐतिहासिक वृत्त के साथ साथ कई एक काल्पनिक विवरण देकर इस प्रतिमा नाटक की रचना ऐसी उत्कृष्ट शैली की बनाई है कि उसके सदृश पूर्वराम-चरित् संबंधी कोई नाटक हमारे देखने में नहीं आया। इस नाटक की कथा राम के राज्याभिषेक से प्रारंभ होती है। संगीत-शाला के नाटक करनेवालों को काल संभावी नाटक का अभिनय करने की आज्ञा दी जाती है। यहाँ से अवदातिका नाम की एक चेटी हँसी में चुपके से एक वल्कल अपने हाथ में दबा सीता के पास आती है। उसे शंकित रूप में देख सीता प्रश्न कर बैठती है और वह उत्तर देती है कि मैंने नेपथ्यपालिनी आर्या रेवा से रङ्ग-प्रयोजन के हो जाने पर अशोक वृक्ष का वल्कल माँगा था, परन्तु उसने मुझे नहीं दिया, अतः वह अपराधिनी है, यों मन में धार मैं इसे यहाँ से ले आई हूँ। सीता उसे यह कहती हुई कि—यह तूने पाप (नियम-विरुद्ध) किया है—उसे वापस दे आने की आज्ञा देती है। परन्तु जब चेटी चलने लगती है, तब सकौतुक उसे ठहराकर कहती है कि तनिक इसे यहाँ ला, देखूँ मुझे यह कैसा लगता है। चेटी उसे वल्कल दे देती है और वह पहन लेती है। इतने में एक और चेटी आकर कहती है—हो मुबारक है, मुबारक है, राजकुमार का अभिषेक हो रहा है। सीता पूछती है "अपि तातः कुशली" (ससुरजी प्रसन्न हैं)? वह उत्तर देती है—हाँ, और वे स्वयम् अभिषेक कर रहे हैं। अब प्रसन्न होकर वह उसे झोली बढ़ाने को कहती है और अपने शरीर के सब आभरण उपहार में दे देती है। चेटी कहती है—देखिए, पटहशब्द हुआ। सीता भी सुनकर उसका अनुमोदन करती है। चेटी कुछ देर बाद फिर

कहती है कि पटह शब्द एक बार ही होकर बन्द हो गया। सीता इसका अधिक अनुचिंतन नहीं करती और कहती है कि कौन जाने, कदाचित् अभिषेक बन्द हो गया हो; राजकुल बहुत वृत्तान्तवाले हुआ करते हैं।

इतने में राम वहीं पर आ जाते हैं और सीता से मिलते हैं। अवदातिका उन्हें प्रति दिन के साधारण वस्त्र पहने देखकर सीता से धीरे से पूछती है कि हम लोगों ने जो पहले सुना, क्या वह असत्य है? सीता इसका उत्तर देती है, परंतु राम यह शंकापूर्ण पारस्परिक संलाप होते देख पूछते हैं कि क्या बात है? सीता कहती है कुछ नहीं, यह चेटी अभिषेक अभिषेक कहती है। वे कहते हैं—अच्छा, मैं तुम्हारा कुतूहल समझ गया। वह अभिषेक है। सुनो, आज उपाध्याय, अमात्य और प्रकृतिजनों के समक्ष, या यों समझो कि एक प्रकार से संक्षिप्त रूप से सारे कोसल राज्य को एकत्र करके महाराज ने बचपन की सी तरह मुझ को गोद में बैठा माता के गोत्र से सप्रेम मेरा नाम लेकर कहा—"पुत्र राम! अब तुम इस राज्य-भार को सँभालो"। सीता पूछती है—तब आप ने क्या कहा? वे कहते हैं—देखें तुम तो बताओ, मैंने क्या उत्तर दिया होगा? वह कहती है—मैं तो यह अनुमान करती हूँ कि आप कुछ न कह दीर्घ श्वास ले महाराज के चरणों में गिर गए होंगे। राम यह सुन बहुत प्रसन्न होते हैं और कहते हैं कि तुमने ठीक अनुमान किया, मैं सचमुच उनके चरणों में गिर गया—

समं बाष्पेण पतता तस्योपरि ममाप्यधः।
पितुर्मे क्लेदितौ पादौ ममापि क्लेदितं शिरः॥

आशय—मेरे और उनके आँसू एक साथ गिरने लगे, नीचे को गिरनेवाले मेरे आँसुओं से उनके चरण और ऊपर से गिरनेवाले उनके आँसुओं से मेरा सिर भीग गया।

फिर राज्य की कठिनाइयों का विचार कर मेरे नट जाने पर भी मुझको राज्य-भार लेने के लिये शपथ दिलाई गई। तदनन्तर शत्रुघ्न और

वन्! आपका अभिषेक उसी के कहने से रोका गया है। राम उसे समझाते हैं कि यदि यही बात है तो देखो, जैसा मैंने पहले कहा है, परिणाम में गुण ही सिद्ध है, क्योंकि अब—

> वनगमननिवृत्तिः पार्थिवस्यैव ताव-
> न्मम पितृपरवत्ता बालभावः स एव।
> नवनृपतिविमर्शे नास्ति शङ्का प्रजाना-
> मथ च न परिभोगैर्वञ्चिता भ्रातरो मे॥

आशय—महाराज का वनगमन बन्द हुआ, मेरा पिता के अधीन रहना और बालभाव ज्यों का त्यों रह ही गया, प्रजागण को जो नए राजा के होने पर शंकाएँ हुआ करती हैं, वे न रहीं और मेरे भाई भी किसी भोग से वंचित नहीं रहे।

ये उदार विचार सुन कंचुकी फिर कहता है कि भगवन्! बिना बुलाए महाराज के पास आकर उसने कहा कि भरत को राज्य देना चाहिए। क्या आप इसमें भी लोभ का दोष नहीं गिनते? राम उत्तर देते हैं कि आर्य, आप मेरे लिये पक्षपात रखने के कारण ठीक बात नहीं विचारते। देखिए—

> शुल्के* विपणितं राज्यं पुत्रार्थे यदि याच्यते।
> तस्या लोभोऽत्र नास्माकं भ्रातृराज्यापहारिणाम्॥

---

* वाल्मीकि की रामायण के अयोध्याकाण्ड के १०७वें सर्ग में निम्नलिखित श्लोक दिए हैं—

> पुनरेव ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः।
> प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्ज्ञातिमध्ये सुसत्कृतः॥
> पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
> मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम्॥
> देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः।
> सम्प्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः॥

राम को राज्य देने तथा लौट आने के लिये जब भरत बहुत कुछ कह चुके तब राम ने कहा कि भाई, जब पिता जी ने तुम्हारी माता से विवाह किया, तब उन्होंने तुम्हारे नाना से यह प्रतिज्ञा की थी कि (तव पुत्र्यां जनिष्यते तस्मै राज्यं

—आशय—पहले से ही शुल्क में लगाया हुआ राज्य यदि यह (कैकयी) अपने पुत्र के लिये माँगे तो इसमें उसका क्या लोभ है? यदि हम अपने भाई के राज्य को हड़प जाएँ तो उसमें हम लोभ के दोषी हो सकते हैं।

कंचुकी कुछ और कहने लगता है, परंतु राम उसे यह कहकर कि बस अब माता की और निंदा मैं नहीं सुनना चाहता, रोक देते हैं

दास्यामीति प्रतिज्ञातवानित्यर्थः—रामभद्रप्यातिलकाख्यया व्याख्या) तुम्हारी पुत्री से जो पुत्र उत्पन्न होगा उसे राज्य दूँगा। यदि यह कहो कि (स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्यर्थे प्राणसंकटे। गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम्) स्मृति के वचन से गान्धर्व विवाह में झूठ भी चल सकता है, तो उन्होंने देवासुर संग्राम में भी तुम्हारी माता को दो वर दे दिए थे। उसने उन्हें याद दिलाकर मेरा वन-गमन और तुम्हारा राजा बनना माँगा, अतः मैं नहीं लौट सकता। प्रारंभ में ही (२।१ सर्ग) परिषद् बुलाकर दशरथ कहते हैं कि आप लोगों को यह विदित ही है कि मेरे पूर्वजों ने प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। मैंने भी यथाशक्ति उन्हीं के मार्ग का अनुकरण किया। लोकोपकारी सेवा करते करते अब यह शरीर जर्जर हो गया है, बाल सफेद हो गये हैं, वृद्धावस्था आ गई है, मैं परिश्रांत हो गया हूँ, अतएव आप सब मान्यवरों की अनुमति से पुत्र को आपकी सेवा में अर्पण कर विश्राम करना चाहता हूँ। मुझमें जो गुणसंपत्ति है, वह राम में ज्यों की त्यों है, अतएव मैं उसे युवराज बनाने का प्रस्ताव करता हूँ।

यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥२–१५॥
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम्।
अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया ॥२–१६॥

यदि यह मैंने ठीक विचारा है और आपके भी अनुकूल है, तो आप मुझे अपनी स्वीकृति दीजिए; अन्यथा यह बताइए कि मैं क्या करूँ। आप मेरी ही मर्जी पर निर्भर न रहिए, आप स्वतंत्र रूप से जो हितकारी हो, वह सोचकर बताइए। राग-द्वेषरहित मध्यस्थों का विचार, जो पूर्वापर पक्ष की जाँच कर निर्णीत होता है, अधिक लाभकारी हुआ करता है। वे लोग राम का राज्याभिषेक स्वीकार करते हैं और दशरथ राम से (तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि। कामतस्त्वं प्रकृत्यैव निर्णीतो गुणवानिति ३–४१) कहते हैं कि तुमको पुष्ययोग में यौवराज्य मिलेगा। वस्तुतः मैंने नहीं किंतु स्वयं प्रकृति ने तुमको युवराज पद के लिये तेरे गुणों के कारण चुना है।

और महाराज का वृत्तांत पूछते हैं। वह कहता है कि राजा ने शोक से कुछ न कह हाथ के संकेत से उन्हें (कैकेयी को) दूर कर दिया और स्वयं मूर्छित हो गए। राम घबराकर कहते हैं—क्या मूर्छित हो गए? यह समाचार लक्ष्मण को भी विदित हो जाता है और मानों उन्होंने प्रच्छन्न रूप से राम और कंचुकी का संवाद सुन लिया हो, वे सहसा निकल आते हैं और कहते हैं—

यदि न सहसे राज्ञो मोहं धनुः स्पृश मा दया
स्वजननिभृतः सर्वोऽप्येवं मृदुः परिभूयते।
अथ न रुचितं मुञ्च त्वं मामहं कृतनिश्चयो
युवतिरहितं लोकं कर्तुं यतश्छलिता वयम्॥

आशय—यदि राजा की मूर्च्छा नहीं सहते हो तो धनुष उठाओ, दया का कुछ काम नहीं, विनयशील और सरल पुरुष यों ही तिरस्कृत किए जाते हैं; यदि यह तुमको अच्छा नहीं लगता तो मुझ पर छोड़ दो। मैंने इस संसार को स्त्रियों से शून्य करने का पक्का विचार कर लिया है, क्योंकि हम स्त्री से छले गए हैं।

लक्ष्मण के ऐसे जोश भरे वचन सुन सीता अपने पति से कहती है कि शोक करने के योग्य अवसर पर लक्ष्मण ने धनुष उठाया है। राम कहते हैं—"लक्ष्मण, यह क्या है?" वे उत्तर देते हैं, है क्या—

क्रमप्राप्ते हृते राज्ये भुवि शोच्यासने नृपे।
इदानीमपि सन्देहः किं क्षमा निर्मनस्विता॥

आशय—अरे क्रमागत (अधिकार से प्राप्त) राज्य हरा जा रहा है और राजा मृत्यु-शय्या पर हैं, अब भी कुछ संदेह है? क्या ऐसी निर्मनस्विता को क्षमा कहते हैं?

राम यह सुनकर कहते हैं—अच्छा! ज्ञात हुआ कि मेरा राज्य का न पाना तुमको युद्ध के लिये उद्यत करता है; परंतु यह तुम्हारी भूल है। देखो—

भरतो वा भवेद् राजा वयं वा ननु तत् समम्।
यदि तेऽस्ति धनुःश्लाघा स राजा परिपाल्यताम्॥

आशय—भरत राजा हों चाहे हम हों, तुम्हारे लिये तो दोनों ही समान हैं। यदि तुमको धनुष चलाने की अधिक उत्सुकता है तो उस राजा (भरत) की सेवा करना।

तदनंतर लक्ष्मण यह कहते हुए कि अब मैं रोष नहीं रोक सकता, उठने लगते हैं, परंतु राम उन्हें पकड़ लेते हैं और कहते हैं कि तुम में धीरज उत्पन्न करने को मैंने यों कहा था। अब तुम तनिक विचार कर मुझको यह बताओ कि—

तातं धनुर्नमतु सत्यमवेक्षमाणे
मुञ्चानि मातरि शरं स्वधनं हरन्त्याम्।
दोषेषु बाह्यमनुजं भरतं हनानि
किं रोषणाय रुचिरं त्रिषु पातकेषु॥

आशय—वचन का प्रतिपालन करनेवाले पिता पर अथवा अपना धन लेनेवाली माता पर, या निर्दोष भाई पर धनुष उठाना इन तीनों पातकों में से बताओ, तुमको कौन सा अच्छा लगता है?

ये वचन लक्ष्मण की आँखों में आँसू ला देते हैं और वे कहते हैं कि यथार्थ बात न जानने से हमको इतनी धिक्कार मिली। अजी—

यत्कृते महति क्लेशे राज्ये मे न मनोरथः।
वर्षाणि किल वस्तव्यं चतुर्दश वने त्वया॥

आशय—जिस राज्य के लिये बहुत क्लेश होता है, उससे मेरा मनोरथ नहीं है, बात तो यह है कि आपको चौदह वर्ष वन में रहना पड़ेगा।

तब राम की समझ में आता है कि इसी बात ने पिता को मूर्च्छित किया है। वे झट सीता से वल्कल लेकर पहन लेते हैं, वह भी अच्छी तरह पहनने लगती है, परंतु वे उसे ऐसा करने से रोकते हैं। सीता कहती है कि जब आपको वनवास के लिये कहा तो मुझको भी अर्द्धांगिनी होने से आज्ञा दे दी गई, अतः मैं साथ चलूँगी। वे कहते हैं—लक्ष्मण इसे रोको। परंतु लक्ष्मण उत्तर देते

हैं कि इस प्रशंसनीय कार्य में इनको रोकने का साहस मैं नहीं कर सकता, क्योंकि—

अनुचरति शशाङ्कं राहु दोषेऽपि तारा
पतति च वनवृक्षे याति भूमिं लता च।
त्यजति न च करेणुः पङ्कलग्नं गजेन्द्रं
व्रजतु चरतु धर्मं भर्तृनाथा हि नार्यः॥

आशय—राहु के आक्रमण करने पर तारा (रोहिणी, चंद्रमा की स्त्री) चंद्रमा का साथ नहीं छोड़ती, वन-वृक्ष के गिरने पर लता भी उसके साथ साथ भूमि पर गिर जाया करती है, हथिनी कीचड़ में फँसे हुए हाथी को नहीं छोड़ा करती, इसलिये पतिप्राणा स्त्री को साथ चलने दो और अपना धर्म निबाहने दो।

इतने में एक चेटी आकर सीता से कहती है कि नेपथ्यपालिनी आर्या रेवा ने प्रणाम करके कहलवाया है कि अवदातिका संगीत-शाला में से छिपाकर वल्कल ले आई है, उसे लौटा दीजिए। यदि प्रयोजन हो तो आप यह नया लीजिए। राम यह कहकर कि यह तो संतुष्ट है, हमें इससे प्रयोजन है, उन्हें ले लेते हैं और पहनते हैं। परंतु लक्ष्मण कहते हैं—यह क्या ? भूषण, माला आदि में तो आप नियमपूर्वक आधा आधा भाग देते रहे और यह चीर अकेले ही धारण करते हैं, इसमें ईर्ष्या कैसी ? फिर लक्ष्मण भी साथ हो जाते हैं और झुंड के झुंड पुरवासी उन्हें देखने को मार्ग में आ जाते हैं। राम कहते हैं—

स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतद् बाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः।
निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च॥

आशय—आँसू भरी हुई आँखों से इस (सीता) को आप निःशंक देखिए, क्योंकि यज्ञ में, विवाह में, व्यसन में और वन में स्त्रियों को देखने में कोई दोष नहीं होता। यहाँ प्रथम अंक समाप्त होता है।

राम और लक्ष्मण के वियोग से दशरथ विह्वल हो जाते हैं और

सीता का साथ जाना उनको और भी अधिक संतप्त करता है जिससे वे कहते हैं—

सूर्य इव गतो रामः सूर्यं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः।
सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता॥

आशय—हा कष्ट! सूर्य की तरह राम चला गया, जैसे सूर्य के पीछे पीछे दिन चला जाता है वैसे लक्ष्मण भी राम के पीछे पीछे चला गया, सूर्य और दिन के चले जाने पर जैसे छाया (सूर्य की स्त्री) नहीं दिखाई देती वैसे सीता भी नहीं दिखाई देती।

अरे कृतांत हतक! तू ने—

अनपत्या वयं रामः पुत्रोऽन्यस्य महीपतेः।
वने व्याघ्री च कैकेयी त्वया किं न कृतं त्रयम्॥

आशय—हमको निपूता, राम को किसी और राजा का पुत्र और कैकेयी को वन की सिंहनी क्यों नहीं बनाया!

रानियाँ महाराज को अनेक प्रकार से समझाती हैं, परंतु उनके शोक को न्यून करने में असमर्थ होती हैं। इतने में समाचार आता है कि सुमंत्र वापस आ गया। दशरथ पूछते हैं—क्या राम को लेकर? इसका उन्हें उत्तर मिलता है,—"नहीं, रथ को लेकर"। यह सुनते ही वे कहते हैं—

शून्यः प्राप्तो यदि रथो भग्नो मम मनोरथः।
नूनं दशरथं नेतुं कालेन प्रेषितो रथः॥

आशय—यदि रथ सूना ही आया है तो मेरा मनोरथ भग्न हो गया और इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि काल ने दशरथ को लिवा लाने को यह रथ भेजा है।

तदनंतर सुमंत्र आकर वहाँ का वृत्तांत सुनाता है और कहता है कि शृंगवेरपुर में रथ से उतर, अयोध्या की ओर मुख कर, खड़े हो, राम रघु ने आपको सिर से प्रणाम कर कुछ कहलाना चाहा था, परंतु आँसुओं से उनके कंठ रुँध गए और बिना कुछ कहे ही वे वन को चले गए। ये मर्मान्तकी बातें सुन राजा को दुगुनी मूर्छा हो

आती है और सुमंत्र अमात्यों के पास समाचार भिजवाता है कि अब महाराज अप्रतिकार अवस्था में हैं। कुछ देर बाद जब उन्हें संज्ञा आती है, तब वे कहते हैं—

अङ्गं मे स्पृश कौसल्ये ! न त्वां पश्यामि चक्षुषा।
रामं प्रति गता बुद्धिरद्यापि न निवर्तते ॥

आशय—हे कौसल्ये ! मेरे शरीर को तू छू। मैं तुझे आँखों से नहीं देखता, क्योंकि राम में गई हुई मेरी चेतना अभी तक वापस नहीं आई।

पुत्र राम ! मैं बार बार सोचता था कि तुझको राज्य देने से प्रजा कृतार्थ हो जायगी, तेरे भाइयों को समान विभववाले करने से सब तेरे समान हो जायँगे। ये विचार थे, परंतु कहना पड़ा तुझे तपोवन जाने को। हाय ! कैकेयी ने क्षण भर में सब कुछ उलटा कर डाला। फिर राजा कहते हैं कि सुमंत्र ! तुम कैकेयी से जाकर कह दो-

गतो रामः प्रियं तेऽस्तु त्यक्तोऽहमपि जीवितैः।
क्षिप्रमानीयतां पुत्रः पापं सफलमस्त्विति ॥

आशय—राम तो चला गया, मैं भी मरनेवाला हूँ, अब तू खूब खुश हो ले। अपने पुत्र को शीघ्र ला और पाप को पूर्ण कर।

थोड़ी देर में उन्हें उनके पूर्वज दिलीप, रघु और अज दिखाई देते हैं और पुत्रों को स्मरण करते हुए उनके प्राण निकल जाते हैं। यहाँ द्वितीय अंक समाप्त होता है।

तीसरे अंक में यह बताया है कि अपने पिता को हृदय-परिताप से अत्यन्त व्यग्र सुनकर अपने मामा के यहाँ से भरत शीघ्र रवाना होते हैं और अयोध्या से कुछ दूर पर उनसे एक राजपुरुष निवेदन करता है कि उपाध्याय (वसिष्ठ) ने कहलवाया है कि इस समय कृत्तिका नक्षत्र है, यह एक नाडिका और रहेगा। तदनन्तर रोहिणी नक्षत्र आ जायगा। उसमें आप अयोध्या में प्रवेश करें। वे यहाँ पर रथ को ठहरा देते हैं और पास ही वृक्षों से घिरा हुआ एक देव-कुल देखते हैं। समीप आकर वे देखते हैं कि यहाँ फूल, खीलें और

आशीर्वाद दिया करते थे। भरत कहते हैं—अहो! काल कैसा विकराल है, जिसने ऐसी पुण्य-रक्षा का भी उल्लंघन कर डाला। फिर ये उन्हें नमस्कार कर आगे की मूर्ति के विषय में पूछते हैं। देवकुलिक कहता है कि प्रिया के वियोग से विदीर्ण हृदय हो राज्य-भार त्याग जिन्होंने नित्य यज्ञान्त से रजोगुण को शान्त किया, वे ये महाराज अज हैं। भरत कहते हैं—नमस्कार है ऐसे श्लाघनीय पश्चात्तापी को। अब क्रमश दिलीप, रघु और अज की मूर्तियाँ आ चुकने पर चौथी मूर्ति अज के पुत्र दशरथ की होनी चाहिए, अतः भरत बड़े व्याकुल हो जाते हैं और पूछते हैं कि इनके गुणों के अतिशय आदर के कारण मुझे ठीक ठीक स्मरण नहीं रहा, अतएव बताओ ये कौन हैं। वह कहता है—ये दिलीप हैं। भरत कहता है—महाराज के पड़दादा हैं। अच्छा दूसरे कौन हैं? वह कहता है—श्रीमान रघु। भरत कहते हैं—महाराज के दादा, और पूछते हैं कि इनके आगे कौन हैं। वह कहता है श्रीमान् अज। भरत सोचते हैं कि ये तो पिता के पिता अर्थात् मेरे दादा हैं। वे फिर भी संशय निवारण करने के लिये पूछते हैं—क्या कहा? क्या कहा? देवकुलिक फिर बतलाता है—ये दिलीप हैं, ये रघु हैं, ये अज हैं। इस पर भरत के चित्त की चिन्ता और भी बढ़ जाती है और वे पूछते हैं—क्योंजी क्या जीते हुओं की भी प्रतिमाएँ रक्खी जाती हैं? वह उत्तर देता है—नहीं। केवल स्वर्गवासियों की प्रतिमाएँ रक्खी जाती हैं। अब तो भरत का विषाद और भी विशुद्ध रूप धारण कर लेता है और वे कहते हैं "हाँ इसलिए आप से कुछ पूछना है।" देवकुलिक यह देखकर कि यह बारंबार इन तीनों के ही विषय में पूछ रहा है, उसको रोक कर कहता है कि—

येन प्राणाश्च राज्यं च स्त्रीशुल्कार्थे विसर्जताः।
इमां दशरथस्य त्वं प्रतिमां किं न पृच्छसि॥

आशय—जिन्होंने स्त्री के शुल्क के लिये प्राण और राज्य दोनों ही त्याग दिए, उन दशरथ की इस मूर्ति के बारे में आप क्यों नहीं

पूछते ? इन शब्दों के सुनते ही भरत "हा तात !" कहकर मूर्च्छित हो जाते हैं। जब उन्हें कुछ चेत आता है तब वे देवकुलिक से सारा वृत्तांत सुनकर और भी दुखी हो जाते हैं। इतने ही में सुमंत्र-सहित रानियाँ उस प्रतिमागृह को देखने आती हैं और भरत से मिलती हैं। भरत सबसे सत्कारपूर्वक मिलते हैं, परंतु कैकेयी से कहते हैं कि तू तो मेरी माता ही नहीं, तू तो गंगा-यमुना रूपी मेरी माताओं के बीच में कुनदी के समान घुस पड़ी है। वह कहती है—मैंने क्या किया? भरत कहते हैं—क्या किया ? अरे हमको अपयश के चीर से और महाराज को कफन से ढक दिया, सारी अयोध्या की आँखों में आँसुओं के नाले बहा दिए, प्यारे राम लक्ष्मण को मृगों के साथ कर दिया, अम्बाओं को शोक में डाल दिया, पुत्रवधू को रास्ते चलाया; धिक्कार है कि तूने अपनी आत्मा को ऐसे बुरे काम में नियोजित किया। कैकेयी कहती है कि पुत्र ! मैंने तो महाराज के साथ वचन की रक्षा करते हुए कहा था कि मेरा पुत्र राजा हो। इस पर भरत उत्तर देते हैं—मेरे बड़े भाई (राम) तेरे क्या लगते हैं ?

पितुर्मे नौरसः पुत्रो न क्रमेणाभिषिच्यते।
दयिता भ्रातरो न स्युः प्रकृतीनां न रोचते॥

आशय—क्या वे मेरे पिता के आए हुए पुत्र नहीं? क्या नियम के अनुसार वे अभिषेक के अधिकारी नहीं ? क्या वे भाइयों के प्यारे नहीं ? क्या प्रकृति उन्हें पसंद नहीं करती ?

कैकेयी कहती है कि इन प्रश्नों का उत्तर तो जो शुल्कलुब्धा हो, उससे पूछना। मैं अपनी बात उचित अवसर पर बताऊँगी। तदनंतर सुमंत निवेदन करता है कि वशिष्ठ, वामदेव प्रकृति के सहित अभिषेक की सामग्री लेकर यहाँ आए हुए हैं और उन्होंने यह कहलवाया है कि जैसे बिना गोप के अरक्षित रहने से गौएँ इधर उधर हो जाती हैं, उसी प्रकार बिना राजा के प्रजा विच्छिन्न हो जाती है। भरत कहते हैं—प्रकृति मेरे साथ चले। यह सुनकर मंत्री

पूछता है कि अभिषेक को छोड आप कहाँ जायँगे ? इसका ये उत्तर देते हैं कि अभिषेक श्रीमती कैकेयी को दे दो; मैं तो—

तत्र यास्यामि यत्रासौ वर्तते लक्ष्मणप्रिय ।
नायोध्या त विनायाऽध्या साऽयोध्या यत्र राघव ॥

आशय—वहाँ जाऊँगा जहाँ लक्ष्मण के प्यारे (राम) हैं, उनके विना अयोध्या अयोध्या नहीं । अयोध्या वही है जहाँ राघव हैं ।

चौथे अंक में यह बतलाया है कि भरत सुमंत्र को साथ लेकर राम के पास जाते हैं, उनका आश्रम समीप आने पर रथ से उतर जाते हैं और सुमंत्र से कहते हैं कि तुम निवेदन करो। सुमंत्र पूछता है कि क्या निवेदन करूँ ? ये कहते हैं कि राम से यह निवेदन करो कि राज्यलुब्धा कैकेयी का पुत्र भरत आया है। यह सुन सुमंत्र कहता है कि कुमार ! रहने दो, बारबार गुरुजन की निंदा करना ठीक नहीं। वे कहते हैं कि हाँ ठीक है, दूसरे का दोष बखानना अच्छा नहीं, इसलिये यों कहोकि इक्ष्वाकुकुलकलंक भरत आपके दर्शन करना चाहता है। मंत्री कहता है कि मैं तो यों भी नहीं कह सकता। हाँ इतना कह सकता हूँ कि भरत आया है। भरत कहते हैं कि नहीं, केवल नाम कहना तो अकृत प्रायश्चित्त के समान जँचता है, इसलिये मैं ही निवेदन करता हूँ। इतना कहकर वे उच्च स्वर से कहते हैं कि पितृवचनप्रतिपालक श्रीमान् राघव की सेवा में निवेदन करो कि—

निर्घृणश्च कृतघ्नश्च प्राकृत प्रियसाहस ।
भक्तिमानागत कश्चित् कथ तिष्ठतु यात्विति ॥

आशय—कोई निर्दय, कृतघ्न, गँवार, अक्खड, परंतु भक्तिमान् आया है, वह ठहरा रहे या चला जाय।

ये स्वर सुनते ही लक्ष्मण से राम कहते हैं कि वत्स, बाहर जाकर देखो, यह कौन है, जिसका स्वर अपने पिता के स्वर जैसा है। लक्ष्मण बाहर आते हैं और शीघ्र भरत और सुमंत्र से मिल लौटकर कहते हैं—आर्य !

अयं ते दयितो भ्राता भरतो भ्रातृवत्सलः।
संक्रान्तं यत्र ते रूपमादर्श इव तिष्ठति ॥

आशय—आईने में पड़े हुए आपके प्रतिबिंब के समान यह आपका प्यारा भाई भ्रातृ वत्सल भरत आया हुआ है।

यह सुन राम सीता से कहते हैं कि तुम भरत के दर्शन करने के लिये अपने नेत्र विशाल करो, देखो—

अद्य खल्ववगच्छामि पित्रा मे दुष्करं कृतम्।
कीदृशस्तनयस्नेहो भ्रातृस्नेहोऽयमीदृशः ॥

आशय—आज मुझको पता लगा है कि मेरे पिता ने बड़ा कठिन काम किया। जब भ्रातृस्नेह ही ऐसा है तो सोचो, पितृस्नेह कैसा होगा।

लक्ष्मण कहते हैं—आर्य! क्या कुमार को अंदर बुला लाऊँ? यह प्रश्न सुन राम उत्तर देते हैं कि वाह, क्या इसमें भी यह आवश्यकता है कि तुम मेरे मन की मेरे मुख से कहलवाओ? जाओ, सत्कारपूर्वक कुमार को शीघ्र ले आओ अथवा ठहरो—

इयं स्वयं गच्छतु मानहेतोर्मातेव भावं तनये निवेश्य।
तुषारपूर्णोत्पलपत्रनेत्रा हर्षास्रमासारमिवोत्सृजन्ती ॥

आशय—सन्मानार्थ पुत्र के प्रति माता के भावों को धारण करती हुई, ओस से ढँके हुए कमल-दल के समान नेत्रवाली, हर्ष के आँसुओं को जलधारा के समान गिराती हुई यह (सीता) स्वयं चली जाय।

अपने पति के आज्ञानुसार सीता स्वयं जाती है और भरत को अंदर ले आती है। वे अभिवादन करते हैं और राम "स्वस्ति!" उच्चारण कर कहते हैं—

वक्षः प्रसारय कवाटपुटप्रमाण-
मालिङ्ग मां सुविपुलेन भुजद्वयेन।
उन्नामयाननमिदं शरदिन्दुकल्पं
प्रह्लादय व्यसनदग्धमिदं शरीरम् ॥

आशय—हे प्यारे, किवाड़ की जोड़ी के समान अपनी छाती को फैलाओ और अपनी लंबी लंबी भुजाओं से मुझे आलिंगन दो। शरद् चंद्र के समान अपने मुख को ऊँचा करो और विपद से विदीर्ण इस शरीर को हर्षित करो।

तदनंतर पिता के स्वर्गवास का प्रसंग प्रारंभ हो जाता है और भरत कहते हैं कि मैं यहाँ आपकी सेवा करूँगा। राम इस बात को अंगीकार नहीं करते और कहते हैं कि देखो—

पितुर्नियोगादहमागतो वनं
न वत्स ! दर्पान्न भयान्न विभ्रमात्।
कुलं च नः सत्यधनं ब्रवीमि ते
कथं भवान् नीचपथे प्रवर्तते॥

आशय—वत्स ! मैं पिता की आज्ञा से वन को आया हूँ, घमंड से, भय से अथवा पागलपन से नहीं। मैं तुमसे कहता हूँ कि अपना कुल सत्यधन है। उसमें उत्पन्न हुए तुम क्योंकर नीच मार्ग में प्रवृत्त होने लगे?

इस प्रबल प्रतिषेधकारी वचन के लिये भरत के पास कुछ भी उत्तर नहीं रहता। वे पूछते हैं अच्छा! यह बताओ कि यह अभिषेक-उदक कहाँ रक्खें? राम कहते हैं कि जहाँ रखने के लिये माता ने कहा है, वहीं रक्खो। यह मर्मभेदी वचन भरत को बहुत व्यथित करता है, और वे सप्रभाव और सकरुण शब्दों में कहते हैं कि आर्य! प्रसन्न हूजिए! अब जले पर नमक छिड़कना अनुचित है। देखिए—

अपि सुगुण ! ममापि त्वत्प्रसूतिः प्रसूतिः
स खलु निभृतधीमांस्ते पिता मे पिता च।
सुपुरुष ! पुरुषाणां मातृदोषो न दोषो
वरद ! भरतमार्तं पश्य तावद् यथावत्॥

आशयः—हे सुगुण ! जो मेरी माता है, वह आपकी भी माता है, जो मेरे पिता हैं वे आपके भी पिता हैं। हे पुरुषोत्तम, पुरुष

मातृदोष को दोष नहीं गिनते। हे भरत ! आर्त भरत को तो आप पूर्ववत् यथार्थ ही समझें।

राम इन प्रभावशाली शब्दों को सुन गंभीरता के साथ कुछ सोचने लगते हैं और उनके मुख से कुछ उत्तर न निकलने से सीता कहती है—आर्यपुत्र ! भरत ने अति करुण वचन कहे हैं। आप क्या सोचने लग गए हैं ? इस पर वे उत्तर देते हैं कि मैथिलि ! मैं उन स्वर्गगत महाराज को सोचता हूँ, जिन्होंने गुण के निधान इस सुपुत्र (भरत) को नहीं देखा; और फिर भरत को समझाते हैं कि मैं तुमसे अत्यंत संतुष्ट हूँ, तुम निष्पाप हो, किंतु तुम्हें महाराज के वचनों को अनृत करना उचित नहीं। तुम जैसे पुत्र उत्पन्न करनेवाले पिता की आज्ञा का पालन न होना कहाँ तक ठीक है ? यह सुन भरत कहते हैं—अच्छा, १४ वर्ष तक आपका राज्य अपने हाथों में धरोहर के रूप में रख आपको वापस देना चाहता हूँ और आप की प्रतिनिधि रूप पादुका साथ ले जाना चाहता हूँ। यह सुन राम मन में कहते हैं—

> सुचिरेणापि कालेन यशः किञ्चिन्मयार्जितम् ।
> अचिरेणैव कालेन भरतेनाद्य सञ्चितम् ॥

आशय—जो मैंने बहुत कुछ समय में थोड़ा सा यश कमाया था, परंतु आज क्षणमात्र में ही उसे भरत ने कमा डाला।

सीता कहती है कि आर्यपुत्र ! यह भरत की प्रथम याचना है, इसे पूरा कीजिए। इस पर वे पादुकाएँ देकर भरत को विदा करते हैं। यहाँ चतुर्थ अंक समाप्त होता है।

पाँचवें अंक में यह दिखलाया है कि राम सीता से सलाह करते हैं कि कल पिताजी का वार्षिक श्राद्ध है। कल्प (श्राद्धकल्प) के अनुसार पितर निवपन किया चाहते हैं। वे मेरी इस दशा को जानते हैं, अतएव वे जैसे तैसे जो कुछ बन पड़े, उससे तृप्त हो जायँगे। तथापि मैं यह चाहता हूँ कि मैं राम के पिता के योग्य अर्पण करूँ। सीता इस विषय में कहती है कि भरत भक्ति पूर्वक श्राद्ध कर लेंगे।

आप भी इस स्थिति के अनुसार जो कुछ फल फूल जल आदि मिले, उससे अर्चन कर दें और इसे पिताजी बहुत कुछ मानेंगे। राम कहते हैं—मैथिलि! बहुत कुछ क्या मानेंगे, मैं तो समझता हूँ कि—

फलानि दृष्ट्वा दर्भेषु स्वहस्तरचितानि नः।
स्मारितो वनवासं च तातस्तत्रापि रोदिति॥

आशय—अपने हाथों से दी हुई दर्भ और फलों की अंजली को देख वनवास की याद आ जाने से वहाँ पर भी पिताजी की आँखों से आँसू निकल पड़ेंगे।

इतने में रावण अतिथि के रूप में वहाँ आ जाता है और कहता है—मैं काश्यप गोत्रोत्पन्न ब्राह्मण हूँ, मैंने सांगोपांग वेद, मानवीय धर्मशास्त्र, माहेश्वर का योगशास्त्र, बार्हस्पत्य का अर्थशास्त्र, मेधातिथि का न्यायशास्त्र तथा प्राचेतस् का श्राद्धकल्प पढ़ा है। राम कहते हैं—क्या कहा श्राद्धकल्प! तदनंतर श्राद्ध के विषय में पारस्परिक वार्त्तालाप हो पड़ता है और वह कांचन-पार्श्व-मृग (ऐसा हरिण जिसका पीछे का भाग सोने का सा होता है) को श्राद्ध के विषय में उत्तम बताता है। इतने ही में एक उसी तरह का मृग भी दिखाई पड़ता है और राम सीता से कहते हैं कि तुम लक्ष्मण से कहो कि इसे ले आवें। सीता उत्तर देती है कि लक्ष्मण को तो आपने तीर्थ यात्रा से लौटे हुए कुलपति (जो दस सहस्र विद्यार्थियों को पढ़ावे) से मिलने को भेज दिया है। यह सुन वे कहते हैं—अच्छा, मैं स्वयं जाता हूँ। तुम इन (*ब्राह्मण के रूप में रावण*) की शुश्रूषा करना। यों सीता अकेली रह जाती है और रावण उसे हर ले जाता है। चलते समय वह जनस्थानवासी तपस्वियों से कहता है—

बलादेष दशग्रीवः सीतामादाय गच्छति।
क्षात्रधर्मे यदि स्निग्धः कुर्याद् रामः पराक्रमम्॥

आशय—मैं रावण बलात्कार सीता को लिए जा रहा हूँ; यदि राम को क्षात्रधर्म से प्रेम हो तो पराक्रम दिखावे।

मार्ग में उसे जटायु रोकता है, परंतु वह मारा जाता है।

छठे अंक में यह बतलाया है कि राम के समाचार (दर्शन) लेने के लिये जनस्थान को भेजा हुआ सुमन्त्र लौटकर बड़ी चतुराई से भरत से कहता है कि सीता रावण से हरी गई और राम जनस्थान से किष्किन्धा को चले गए। भरत इस दुर्घटना को सुन मूर्च्छित हो जाते हैं और सचेत होने पर कैकेयी के पास जाकर कहते हैं कि ले, जो तेरी आज्ञा से स्वराज्य छोड़ वन को गए, उनकी स्त्री सीता हर ली गई। अब तेरा मनोरथ सिद्ध हुआ। सत्ययुक्त मनस्वी इक्ष्वाकुओं के घर में जब तुझ जैसी वहू आई, तब हमारी कुलवधु को अपकीर्त्ति प्राप्त हुई। कैकेयी कहती है कि पुत्र! तुझे एक शाप का वृत्तांत ज्ञात नहीं जिससे तू मुझे बुरा भला कहता है। एक समय महाराज ने कलश भरते हुए अंधे ऋषि के पुत्र को वनगज के धोखे में मार डाला था। उससे उन्हें शाप मिला कि तुम पुत्र-शोक से संतप्त होकर शरीर त्यागोगे। महर्षि का शाप अपरिहार्य था, अतएव वह बिना पुत्र-वियोग के पूरा नहीं हो सकता था। मैंने अपने आपको अपराधी बना राम को वन भेजा, तुझको इसलिये वन में नहीं भेजा कि तू तो मातुल कुल में रहने से अपने आप ही विप्रवासी था। मैं १४ दिन कहनेवाली थी, परंतु पर्याकुल हृदय होने से मुख से १४ वर्ष निकल गए, और यह रहस्य वशिष्ठ, वामदेवादि को ज्ञात है। भरत इस कृत्य से संतुष्ट होते हैं और राम की सहायता के लिये सेना लेकर जाने का उद्योग करते हैं।

सातवें अंक में यह बताया है कि रावण को मार सीता को साथ ले रामचंद्र जनस्थान पर आते हैं। वहीं भरत भी उनसे मिल जाते हैं और वहीं पर वशिष्ठ, वामदेवादि उनका अभिषेक करते हैं। अभिषेक होने पर राम आकाश की ओर मुख कर कहते हैं—भो तात—

> स्वर्गेऽपि तुष्टिमुपगच्छ विमुञ्च दैन्यं
> कर्म त्वयाभिलषितं मयि यत्तदेतत्।
> राजा किलास्मि भुवि सत्कृतभारवाही
> धर्मेण लोकपरिरक्षणमभ्युपेतम्॥

आशय—हे पिताजी ! आप स्वर्ग में हैं, परंतु वहाँ पर भी प्रसन्न हूजिए, उदासीनता त्याग दीजिए, जो कार्य आपने चाहा था, वह मैंने कर लिया है । अब मैं सत्कर्म का भार उठानेवाला एवं धर्म से प्रजा का पालन करने के लिये राजा हुआ हूँ ।

भरत इस अभिषेक से बहुत ही प्रसन्न होते हैं और कहते हैं—

अधिगतनृपशब्दं धार्यमाणातपत्रं
विकसितकृतमौलिं तीर्थतोयाभिषिक्तम् ।
गुरुमधिगतलीलं वन्द्यमानं जनौघै-
र्नवशशिनमिवार्यं पश्यतो मे न तृप्तिः ॥

आशय—राजा के पद से विभूषित, छत्र धारण किए हुए, तीर्थ-जल से अभिषिक्त, सिर पर मुकुट धारण किए हुए, नवीन चंद्रमा के समान प्रजाजन से वन्द्यमान अपने बड़े भाई को बारंबार देखते देखते भी मुझे तृप्ति नहीं होती ।

शत्रुघ्न भी कहते हैं—

वत्सदार्याभिषेकेण कुलं मे नष्टकल्मषम् ।
पुनः प्रकाशतां याति सोमस्येवोदये जगत् ॥

आशय—आज आर्य के अभिषेक से हमारा कुल निष्कलंक हुआ और जिस प्रकार चंद्रमा के उदय से जगत् प्रकाशित होता है, उसी प्रकार पुनरपि वह प्रकाशित हो रहा है ।

शत्रुघ्न के भाषण के समाप्त होने पर लक्ष्मण से स्वयं राम कहते हैं कि वत्स लक्ष्मण ! अब मैं राज्यारूढ़ हो गया हूँ । वे संक्षेप में उत्तर देते हैं—'बधाई है' ।

तदनंतर सब पुष्पक पर चढ़ अयोध्या जाते हैं और अभिनय समाप्त होता है ।

---

(१३) गो० तुलसीदास जी के दार्शनिक विचार

[लेखक—राय कृष्ण जी, काशी]

गोस्वामी तुलसीदास जी की त्रिशत वार्षिक जयंती के अवसर पर काशी नागरीप्रचारणी सभा ने तुलसी ग्रंथावली प्रकाशित की है। उसके पहले खंड में राम चरितमानस, दूसरे में विनय पत्रिका इत्यादि तुलसी कृत ग्रंथ और तीसरे में निबंधावली है। इस तीसरे खंड की निबंधावली में पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी का 'गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार' नाम का एक लेख है। उसके आरंभ में चतुर्वेदी जी ने लिखा है—"यह लेख किसी सांप्रदायिक पक्षपात के वश होकर नहीं लिखा जाता"। यों तो इस तरह के बहुतेरे लेख प्रकाशित हुआ करते हैं, परंतु चतुर्वेदी जी ऐसे प्रसिद्ध विद्वान् का ऐसा लिखने और सभा ऐसी प्रतिष्ठित संस्था का ऐसे अवसर पर उसे इस प्रकार प्रकाशित करने से यदि लोग इसकी प्रामाणिकता के विषय में विश्वस्त हों तो कोई आश्चर्य नहीं। अतएव मैंने इसे चाव से पढ़ना प्रारंभ किया। परंतु बड़े दुःख से कहना पड़ता है कि उसे पढ़ने पर मेरी यह धारणा जाती रही।

चतुर्वेदी जी का कथन है—"यही निश्चय करना पड़ता है कि दार्शनिक सिद्धांतों में श्री गोस्वामी जी श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद के अनुगामी हैं।" यहाँ शांकरवाद के मोटे मोटे तत्त्व बहुत संक्षेप में कह देना अनुचित न होगा। अद्वैत उस सिद्धांत को कहते हैं जिसमें ईश्वर और जीव को परमार्थतः एक मानते हैं। इसकी शांकरवाद के अतिरिक्त कई शाखाएँ हैं, जैसे विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत इत्यादि। शांकरवाद का यह सिद्धांत है कि परब्रह्म में अच्छे बुरे कोई गुण नहीं हैं; वह सत्य है; वह सर्वव्याप्त है; वह न कुछ करता है न कराता है, वह स्वयं ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान का विषय नहीं है;

सारा जगत—जो कुछ इंद्रिय, मन या बुद्धि-गोचर है—सब मिथ्या है, जीवात्मा परमात्मा ही है, परंतु माया और अविद्या के कारण आत्मा अपने को परमात्मा से भिन्न समझता है। जिस तरह रस्सी देखकर कभी कभी सर्प का भ्रम हो जाता है या कुछ अँधेरे में जंगल में लकड़ी का कुंदा खड़ा देखकर आदमी का भ्रम हो जाता है, पर वास्तव में वे सर्प या आदमी नहीं रहते, उसी तरह सृष्टि भी मनुष्य का भ्रम मात्र ही है, वास्तव में मिथ्या है, है ही नहीं। जब मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है, जब वह सृष्टि को मिथ्या और अपनी आत्मा को परमात्मा—सोऽहमस्मि—जान लेता है, तब वह जीव भी अव्यक्त, अचिंत्य, निर्गुण ब्रह्म है। जितने जप, तप, दान, क्रिया, कर्म, भक्ति इत्यादि साधन हैं, उन सब का अभिप्राय, उन सब का एक मात्र हेतु, ज्ञान होना है। ज्ञान हो जाने पर कोई कर्म करना शेष नहीं रह जाता; क्योंकि सब साधनों का अंतिम फल ज्ञान ही है। केवल अज्ञान—माया और अविद्या के आवरण—ही के कारण जीव अपने को परमात्मा से भिन्न समझकर सांसारिक शोक मोह इत्यादि में फँसता है। जहाँ उसका अज्ञान नष्ट हुआ, वह अविद्या और माया से मुक्त हुआ, कि उसने अपने आत्मा का वास्तविक रूप जाना। जहाँ उसमें इस अभेद का ज्ञान हो गया, तहाँ वह परमात्मा है।

चतुर्वेदी जी ने अपने लेख में रामायण के अंशों का प्रमाण दिया है। मैंने भी प्रायः उन्हीं अंशों को उद्धृत किया है। जो पाठक स्वयं तत्त्व-निरूपण करना चाहें, उनके सुभीते के लिये हर एक प्रमाण के नीचे पूर्वोक्त सभा द्वारा प्रकाशित रामचरितमानस की पृष्ठ-संख्या दी जाती है। संभव है कि रामायण की सब प्रतियों में यह शुद्ध हो, इससे इसीका आधार लिया गया है। यहाँ यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि रामायण ऐसे महाकाव्य से एक पंक्ति यहाँ से और एक वहाँ से लेकर सभी मत सिद्ध किए जा सकते हैं। परंतु गोस्वामी जी के विचारों का प्रामाणिक तत्त्व-निरूपण करने के लिये व्यापक दृष्टि से, अनेक स्थलों पर कहे हुए वाक्यों की

परस्पर संगति का विचार किए बिना कोई 'परिणाम निकालना उचित न होगा।

पहला प्रमाण मंगलाचरण से देकरः—

"यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा·
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥"

लेखक महाशय सिद्ध करते हैं कि "इस श्लोक में स्पष्ट ही श्री शंकराचार्य का अद्वैतवाद, न केवल अद्वैतवाद ही किंतु मायावाद भी, उल्लिखित हुआ है।" और कुछ आगे लिखते हैं—"शंकर दर्शन में भी ब्रह्मा, विष्णु, शिव, ये मायाविशिष्ट चैतन्य की उपाधि भेद भिन्न भिन्न संज्ञाएँ स्वीकार की गई हैं और विशिष्ट सब शुद्ध चैतन्य पर ही अधिष्ठित हैं।" आप स्वयं पहले लिख आए हैं—"यह प्रसिद्ध बात है कि रामभक्त गोस्वामी जी अनन्य वैष्णव थे।" ऐसी हालत में जब इसका भक्ति मार्ग के अनुसार सीधा सीधा अर्थ लग सकता है तब हमें कोई कारण नहीं दीखता कि उसमें ऊपर से और अर्थों का आरोप क्यों किया जाय। गोस्वामी जी को पहले शांकरवाद का अनुगामी बनाकर फिर यह कहना कि, अपने इष्ट को शुद्ध चैतन्य की उपाधि समझने पर भी वे इस मिथ्या उपाधि मात्र के अनन्य भक्त थे, धर्म के कुछ विरुद्ध ही जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी ने आगे स्पष्ट शब्दों में कहा है कि श्री रामचंद्र मायाविशिष्ट नहीं किंतु शुद्ध चैतन्य हैं। यहाँ भी इस श्लोक के पूर्व गोस्वामी जी ने

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥ (पृ० २)

लिखा है। इसका अर्थ है—उत्पत्ति, रक्षा और संहार करनेवाली, क्लेश हरनेवाली, संपूर्ण मंगल करनेवाली राम की प्रिया को मैं नमस्कार करता हूँ। यह स्पष्ट त्रिगुणात्मक प्रकृति का वर्णन है, न कि माया का। चतुर्वेदी जी ने सब जगह यह अर्थ लगाया है; मानो

"जड़ चेतन जगजीवजत, सकल राममय जानि।
बंदौं सब के पद-कमल, सदा जोरि जुग पानि॥"
देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्ब।
बंदौं किन्नर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब॥
आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल-थल-नभ-बासी।
"सीय-राम-मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग-पानी॥"
(पृ० ६-७)

इस पर चतुर्वेदी जी की राय है कि "राममय जगत् देखना, राम के अतिरिक्त और कोई वस्तु ही न मानना अद्वैतवाद ही की पराकाष्ठा है।" पहले तो राममय का अर्थ राम से उत्पन्न अथवा राम-प्रधान है, न कि रामात्मक; दूसरे गोस्वामी जी ने चौपाई में 'राममय' मात्र न कह कर 'सीय राममय' कहा है; तीसरे इस प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी सब चराचर सृष्टि को सत्य मानते थे—केवल सत्य ही नहीं बल्कि राममय समझने के कारण वंदनीय भी मानते थे। यह भक्ति मार्ग की काष्ठा भले ही हो, परंतु यह अद्वैतवाद की पराकाष्ठा नहीं जान पड़ती।

इसके आगे रामकथा की श्रेष्ठता और अपनी दीनता प्रकट करने के लिये गोस्वामी जी ने जो कुछ कहा है, उसमें से लेखक महाशय यह पंक्तियाँ लेकर :—

"सारद सेष महेस विधि, आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान॥
सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥
तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन-प्रभाउ भाँति बहु भाखा॥
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥
व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपालु प्रनत-अनुरागी॥"

'नेति नेति', 'एक', 'अनीह', 'अरूप', 'अनामा', 'अज' और 'सच्चिदानंद' शब्दों की अद्वैतवाद के अनुसार व्याख्या कर

जनक-सुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुग-पद-कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं॥
पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदौं सब लायक॥
राजिवनयन धरे धनुसायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक॥

"गिरा अरथ जल-बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥"

बंदौं रामनाम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥
बिधि-हरि-हर-मय बेदप्रान सो। अगुन अनूपम गुननिधान सो॥

(पृ० १३)

इसके अनंतर लेखक महाशय

"नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी"॥

का प्रमाण देकर सिद्ध करते हैं कि "यहाँ नाम और रूप को ईश्वर की उपाधि बताया है . . . . सो यह उपाधिवाद शंकर मत का एक ख़ास सारभूत वाद है, जिसे यहाँ गोस्वामी जी ने स्वीकार किया है। अतः श्री गोस्वामी जी का शंकर-मतानुयायी होना स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।" पहले तो उपाधिवाद सब दर्शनों में माना है। अद्वैत और अन्य दर्शनों में भेद यह है कि अद्वैत में इसे मिथ्या और अन्य दर्शनों में इसे सत्य मानते हैं। इसलिये केवल उपाधि से शांकरवाद सिद्ध नहीं होता। दूसरे गोस्वामी जी के मत से निर्गुण या सगुण ब्रह्म में एक को दूसरे से छोटा या बड़ा कहना तो अपराध है, परंतु 'साधू' गुण भेद समझ कर आप ही देखेंगे कि 'रूप-ज्ञान' (अर्थात् ज्ञान-स्वरूप निर्गुण शुद्ध ब्रह्म) नाम-विहीन नहीं हो सकता। क्या इसका यह अभिप्राय है कि गोस्वामी जी ने शांकर उपाधिवाद स्वीकार किया? हमें तो इस अर्थ का स्वीकार करने में अड़चन जान पड़ती है। गोस्वामी जी का कथन है:—

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥
"नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥"

ब्यापकु एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनँदरासी।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।
नामनिरूपन नामजतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें।

निरगुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज विचार-अनुसार॥ (पृ० १५)

इसके अतिरिक्त इस उद्धृत भाग के पहले की चौपाइयों में कहा है कि जो ब्रह्म-सुख का अनुभव करना चाहते हैं, वे भी नाम और रूप न मानने पर भी, नाम का जप करने ही से उस सुख को जान सकते हैं:—

ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।
जाना चहहिं गूढ़गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।
(पृ० १४)

"एकि दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू।" के संबंध में लेखक महाशय ने लिखा है—"विज्ञान-विहीन सत्रहवीं शताब्दी के गोस्वामी जी की यह उक्ति कितनी आश्चर्यकर है, इस पर नई रोशनी से चुँधियाए बाबू सज्जन विचार करें।" गोस्वामी जी के लिये यह कोई नई उक्ति नहीं थी। यह दृष्टांत वल्लभ संप्रदाय का है और इससे तो यही सिद्ध होता है कि यहाँ शुद्धाद्वैत का निरूपण है। आपने कई जगह ज़ोर दिया है कि 'निर्गुण' जैसे या और अमुक शब्द शांकरवाद मात्र में प्रयुक्त होते हैं। इससे जहाँ वैसे शब्द आ गए हैं, वहाँ गोस्वामी जी ने अपने शांकरवाद के अनुगामी होने का प्रमाण दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी शब्द मात्र के प्रयोग से दार्शनिक विचार नहीं सिद्ध होते। इसके अतिरिक्त ऐसे शब्दों का प्रयोग सभी मतों में होता है; केवल उनके अर्थ में भेद होता है। एक ही शब्द का एक मत में एक और दूसरे में दूसरा अर्थ मानते हैं; अतः शब्दों के प्रयोग मात्र से यह नहीं सिद्ध होता कि गोस्वामी जी शांकरमतानुयायी थे।

अब लेखक महाशय

"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥"

बिष्णु जो सुरहित नरतनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥
खोजत सो कि अग्य इव नारी। ग्यानधाम श्रीपति असुरारी॥"

का प्रमाण देकर यह तो कहते हैं कि "यह बाल कांड में सती मोह का प्रकरण है," परंतु कथा कुछ विस्तार से कहने पर भी आप यों चले हैं कि "इसी प्रसंग में ब्रह्म का वर्णन किया जाता है" और इसके शब्दार्थ समझाकर कुछ तर्क के बाद यह निश्चय करते हैं कि "इन सब प्रकरणों पर दृष्टिपात करने से गोस्वामी तुलसीदास जी के शंकर-मतानुयायी होने में कोई संदेह नहीं रहता। यह भी यहाँ स्पष्ट हो गया कि गोस्वामी जी विष्णु, शंकर आदि को सृष्टि-पालन आदि के लिये ब्रह्म के सोपाधिक रूप एवं परस्पर समान मानते थे और शुद्ध ब्रह्म को इन सब से परे मानते थे"। इस प्रसंग पर 'दृष्टिपात करने से' यह जान पड़ता है कि वास्तव में यह ब्रह्म का वर्णन नहीं है, किंतु सती के बुद्धि भ्रम का वर्णन है। गोस्वामीजी सती सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी।
संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा।
तिन्ह नृपसुतहिं कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा।
भये मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी।
लिखकर चतुर्वेदी जी के प्रमाणवाले दोहे आदि के अनंतर फिर लिखते हैं—

संभुगिरा पुनि मृषा न होई। सिव सर्बग्य जानु सब कोई।
अस संसय मन भयेउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा।

(पृ० २३)

जैसा कि हम पहले कह आए हैं, उपाधिवाद तो सभी मतों में मानते हैं। देखना यह है कि अद्वैत मत के अनुसार गोस्वामी जी सोपाधि रूप को मिथ्या मानते हैं या नहीं। यदि यह मिथ्या नहीं

मानते, तब इस वाक्य से 'ब्रह्म का वर्णन' मान कर भी अद्वैतवाद की पुष्टि नहीं होती। यहाँ ब्रह्म का वर्णन यों है:—

जासु कथा कुंभज रिषि गाई। भगति जासु मैं मुनिहि सुनाई।
सोइ मम इष्ट-देव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।
मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन-निकाय-पति मायाधनी।
अवतरेउ अपने भगत-हित निज-तंत्र नित रघु-कुल-मनी॥

(पृ० २७)

यह वाक्य शांकरवाद के अनुकूल नहीं दिखाई देता। कुंभज ऋषि के कथा-गान, उनकी भक्ति, इष्ट-देव, मुनियों के सेव्य, ध्येय, व्यापक, 'भुवन निकाय पति मायाधनी' होने से यह सगुण ब्रह्म का निरूपण है जिसकी कीर्ति को 'नेति नेति' कहने पर भी वेद, पुराण आदि गाते चले आए हैं। इससे गोस्वामी जी का शांकर-मतानुयायी होना सिद्ध नहीं होता।

आगे चलकर चतुर्वेदी जी

"आगे शिव पार्वती के विवाह वर्णन के अनंतर श्री पार्वती ने पुनः शंकर से राम-कथा के संबंध में प्रश्न किया, और शंकर भगवान् श्रीराम का स्मरण कर कथा आरंभ करने लगे। ...... उसमें अति स्पष्ट शंकर सिद्धांत का मायावाद विराजमान है। देखिए—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रज्जु पहिचाने।
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन-भ्रम जाई॥
बंदौं बालरूप सोइ रामू। सब विधि सुलभ जपत जिसु नामू।
मंगल-भवन अमंगल-हारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥

... ... इससे अधिक शांकर 'मायावाद' का स्पष्टीकरण और क्या हो सकता है।... ... ...इससे कुछ ही आगे... गोस्वामीजी मायावाद के सिद्धांतों का और भी विस्तृत वर्णन करते हैं। यथा—

जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुविचारी॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ॥
उमा राम विषयक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥
विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुण-धामू॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥
रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥
एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥
ज्यौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई॥
जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥

"यहाँ एक शंका होती है कि ब्रह्म जब स्वयंप्रकाश है, तब फिर उसके विषय में भ्रम क्यों हो रहा है ?......अविद्या जीव की दृष्टि को (दर्शनशक्ति को) आच्छादित कर देती है जिससे इसे बिना अविद्या दूर किए ब्रह्म का यथार्थ बोध नहीं होता। यही आशय कुछ ही पूर्व की चौपाइयों में भी स्पष्ट किया जा चुका है—

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह-निसा लवलेसा॥
सहज प्रकास. रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि विग्यान बिहाना॥
हरष विषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥

इत्यादि कहकर और कुछ शांकरवाद अभिमत शंकाओं को उपस्थित और उसी मतानुसार उनका समाधान कर आक्षेप करते हैं—"*क्या अब भी श्री गोस्वामी जी के शंकरमतानुयायी होने में कोई संदेह रह जाता है ?*" खेद के साथ कहना पड़ता है कि चतुर्वेदी जी ने यहाँ गोसाईं जी के वाक्य की संगति का बिलकुल तिरस्कार करके मनमाना अर्थ लगाया है। केवल यही नहीं किंतु अपनी ओर से शब्दों का आरोप करके और का और अर्थ निकालने की

चेष्टा की है। जैसे भ्रम के वर्णन को, जो पार्वती जी के प्रश्न से स्पष्ट है, अविद्या कहा है। यह प्रसंग कुछ लंबा है, अतः पाठकों से यह प्रार्थना करके कि वे स्वयं यह प्रकरण पूरा पढ़कर चतुर्वेदी जी के प्रश्न का यथार्थ उत्तर निकालने की कृपा करें, मैं, यथा शक्ति, संक्षेप में पूर्वोक्त पंक्तियों के वास्तविक संबंध और गोस्वामी जी के अभिप्राय का दिग्दर्शन कराता हूँ।

पहले तो पार्वती जी का प्रश्न इस प्रकार है:—

× × ×

तौं प्रभु हरहु मोर अग्याना। कहि रघुनाथ कथा-बिधि नाना।
जासु भवन सुरतरु-तर होई। सहि कि दरिद्रजनित दुख सोई।

(पृ० ५१)

× × ×

प्रभु जे मुनि परमारथवादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी।
सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति-गुन-गाना।
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग-अराती।
राम सो अवध-नृपति-सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई।

जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि नारि-बिरह-मतभोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥

× × ×

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन-बपु-धारी।

× × ×

पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी। जेहि बिग्यान मगन मुनि ग्यानी।
भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। पुनि सब बरनहु सहित बिभागा।

× × ×

(पृ० ५२)

यह प्रश्न सुनकर महादेव जी ने कथा प्रारंभ करने के पहले परमेश्वर का ध्यान किया:—

उदाहरण श्री लक्ष्मण जी का वाक्य है जिससे आप सिद्ध करते हैं कि "यह प्रकरण भी संपूर्णतः शांकर-अद्वैतमत की व्याख्या के अनुकूल ही है।" चतुर्वेदी जी

"बोले लखन मधुर मृदु बानी। ग्यान-बिराग-भगति रस सानी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय-बिलास बिरागा॥"

पर्यंत लिखकर अपने स्वभाव के अनुसार श्री लक्ष्मण जी के वाक्य पूरे नहीं करते। इसके आगे लक्ष्मण जी यों कहते हैं:—

होइ बिबेकु मोहभ्रम भागा। तब रघुनाथ-चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन रामपद-नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथरूपा। अबिगत, अलख, अनादि, अनूपा॥
सकल-बिकार-रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुरहित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तन सुनत मिटहिं जगजाल॥

(पृ० १८३)

इसके अनुसार ज्ञान होने पर, माया-जनित भ्रम के हट जाने पर 'रघु-नाथ-चरन अनुराग' होता है, न कि यह जीव ब्रह्म हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसका 'सकल बिकार-रहित' ब्रह्म भी 'करत चरित धरि मनुज तन।' इसलिये 'यह प्रकरण भी संपूर्णतः शांकर-अद्वैतमत के अनुकूल' नहीं।

"राम, लक्ष्मण और सीता के वन में चलने के संबंध में जो श्री गोस्वामी जी की" उपमा है, उस पर चतुर्वेदी जी ने अपना संतोष प्रकट करते हुए लिखा है कि "उससे भी अद्वैतवाद की बड़े विलक्षण चमत्कार से पुष्टि की गई है"। आपने दो चौपाइयाँ दी हैं:—

"आगे राम लखन पुनि पाछे। तापस बेष बिराजत काछे।
उभय मध्य सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥"

इस पर मेरा निवेदन है कि क्या यह सिद्धांत विशिष्टाद्वैत की पुष्टि नहीं करता? गोस्वामी जी ने इस भाव को तीन उपमाओं से पूरा किया है। बाकी दो उपमाएँ यह हैं:—

नरतनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा।
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा।
दो०—पूछेहु मोहिं कि रहौं कहँ मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥
सुनि मुनि बचन प्रेमरस-साने। सकुचि राम मन-महुँ मुसुकाने।
बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी। बानी मधुर अमिअ-रस बोरी।
सुनहु राम अब कहौं निकेता। जहाँ बसहु सिय लखन समेता।
जिन्ह के श्रवन समुद्रसमाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहँ गृह रूरे।

× × × × ×

दो०—स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मनमंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥

(पृ० २०८)

इत्यादि इसी भाव की रचना है। यह सत्य है कि गोस्वामी जी में अभेद भाव था; पर उनका अभेद भाव भक्तिमार्ग की पराकाष्ठा का अभेद भाव था—वह अपने इष्ट श्री राम को सर्वशक्तिमान्, सर्वव्याप्त, सर्वगुणनिधान, अज, अप्रमेय, अव्यक्त ब्रह्म समझते थे; वह सारे जगत् को राममय जान कर केवल सत्य ही नहीं किंतु वंदनीय भी समझते थे। यहाँ भी गोस्वामी जी ने बिलकुल स्पष्ट कहा है 'तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा'। यह अद्वैत मत के विरुद्ध है। गोस्वामी जी की वाक्य संगति का ध्यान रखने से, जितना अंश आपने ग्रहण किया है, उससे भी यही स्पष्ट होता है। इस पर जो चतुर्वेदी जी का लंबा लेख है, वह उनका निज का दार्शनिक विचार है न कि गोस्वामी जी का। इस संबंध के लेख के अंत में आप कहते हैं—"ज्ञान के साधनों में गोस्वामी जी भक्ति को सब से उत्कृष्ट अवश्य समझते हैं; किंतु भक्ति से ईश्वर की प्रसन्नता संपादित कर ज्ञान प्राप्त करते ही मुक्ति हो जाती है, यह सिद्धांत उक्त चौपाई से

प्रस्फुटित हो गया है।' जिसको आप जनाते हैं, वही जानता है' यह भक्ति ज्ञान का साधन रहा। और 'आपको जानते ही आप रूप हो जाता है' यह ज्ञान का फल बताया गया। ज्ञान के अनंतर किसी साधन विशेष की आवश्यकता नहीं, न साधन उस समय हो ही सकता है, यही शांकर सिद्धांत है। सो इस सिद्धांत का भी यहाँ गोस्वामी जी ने पूर्ण अनुगमन किया। और आगे भी 'आपकी कृपा से भक्त लोग आपको जान सकते हैं, आपका स्वरूप चिदानंदमय, विकार-रहित है। उस स्वरूप को उसके अधिकारी ही जानते हैं'— इत्यादि कहते हुए ज्ञान और उसके अधिकारी की श्रेष्ठता स्फुट रूप से बताई है। 'मुझसे आप पूछते हैं कि मैं कहाँ रहूँ, सो इसका उत्तर देने में मुझे बड़ा संकोच है। मैं नहीं जानता कि आप कहाँ नहीं हैं। यदि कहीं न होते तो वहाँ रहने का स्थान बताता।' इत्यादि उक्ति-चातुरी से आगे भी भगवान् वाल्मीकि के वाक्यों में राम की व्यापकता का ही विस्तार बताया गया है। किंतु आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से कोई संबंध न होने के कारण उनपर विस्तार से लिखना अनावश्यक है।" अब विचार कीजिए कि इस लेख में क्या तत्त्व है। वाल्मीकि मुनि के वाक्य की पहली ही चौपाई—

'कस न कहहु अस रघुकुल केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥'

से सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी यहाँ सगुण ब्रह्म का ही निरूपण कर रहे हैं। मायारूपी जानकी के बारे में भी 'जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की' से यही ज्ञात पड़ता है कि सगुण ब्रह्म और उसकी माया, प्रकृति, शक्ति अथवा परमेश्वर की इच्छा जो सगुण ब्रह्म के इच्छानुसार काम करती है, उद्देश्य है। यह आगे की चौपाई —

'जगु पेखन तुम देखनिहारे। विधि हरि संभु नचावनिहारे॥'

से भी स्पष्ट होता है।

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥'

से चतुर्वेदी जी मतलब निकालते हैं कि पहले पद से "भक्ति ज्ञान

का साधन रही"। यह अर्थ न शब्दों से निकलता है न वाक्य संगति से। इसका सीधा अर्थ यह है कि आपका रूप तो 'वचन अगोचर बुद्धिपर अविगत अकथ अपार' है। वेद भी हारकर नेति नेति कहता है। 'बिधि हरि संभु' भी 'न जानहिं मरमु तुम्हारा'। फिर भला और कौन जान सकता है। हाँ जिस पर आप स्वयं अनुग्रह करें, वही जान सकता है। दूसरे पद से आप मतलब लगाते हैं कि "ज्ञान प्राप्त करते ही मुक्ति हो जाती है"। गोस्वामी जी ने यहाँ 'मुक्ति' का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने भक्ति मार्ग की पराकाष्ठा का प्रयोग किया है। यही अर्थ चतुर्वेदी जी भी स्वीकार करते हैं—'आपको जानते ही आप रूप हो जाता है'। अपने इष्ट के तद्रूप हो जाना भक्तिमार्ग का अंतिम फल है। अद्वैत मार्ग में ब्रह्म सर्वथा अप्रमेय है। उसे कोई जान नहीं सकता, वह ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान का विषय नहीं है। ज्ञान होने पर ज्ञानी यह जान लेता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' अर्थात् ज्ञानी ब्रह्म को नहीं जानता किंतु अपने को जान लेता है। इसके आगे चतुर्वेदी जी यह कहकर कि ज्ञान के अनंतर कुछ साधन नहीं है, झट सिद्ध कर लेते हैं कि गोस्वामी जी इस मत के अनुगामी हैं, परंतु इसका कोई प्रमाण नहीं देते। 'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।' के आधार पर लेखक महाशय सिद्ध करते हैं कि "ज्ञान व उसके अधिकारी की श्रेष्ठता स्फुट रूप से बताई है" और आगे कहते हैं—"आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से कोई संबंध न होने के कारण उन पर विस्तार से लिखना अनावश्यक है।" आपका शायद उस 'ज्ञान' और 'अधिकारी' से मतलब है जिसका शांकरवाद में निरूपण है। परंतु गोस्वामी जी के विचार-निरूपण के लिये 'आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से' अवश्य संबंध है। उनमें उन्होंने अधिकारियों के लक्षण बताए हैं। इनसे और अद्वैत-कथित अधिकारियों से बहुत अंतर है; जैसेः—

सबु करि माँगहिं एकु फल राम-चरन रति होउ।
तिन्ह के मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ ॥ (पृ० २०८)

प्रस्फुटित हो गया है।' जिसको आप जनाते हैं, वही जानता है' यह भक्ति ज्ञान का साधन रहा। और 'आपको जानते ही आप रूप हो जाता है' यह ज्ञान का फल बताया गया। ज्ञान के अनंतर किसी साधन विशेष की आवश्यकता नहीं, न साधन उस समय हो ही सकता है, यही शांकर सिद्धांत है। सो इस सिद्धांत का भी यहाँ गोस्वामी जी ने पूर्ण अनुगमन किया। और आगे भी 'आपकी कृपा से भक्त लोग आपको जान सकते हैं, आपका स्वरूप चिदानंदमय, विकार-रहित है। उस स्वरूप को उसके अधिकारी ही जानते हैं'— इत्यादि कहते हुए ज्ञान और उसके अधिकारी की श्रेष्ठता स्फुट रूप से बताई है। 'मुझसे आप पूछते हैं कि मैं कहाँ रहूँ, सो इसका उत्तर देने में मुझे बड़ा संकोच है। मैं नहीं जानता कि आप कहाँ नहीं हैं। यदि कहीं न होते तो वहाँ रहने का स्थान बताता।' इत्यादि उक्ति-चातुरी से आगे भी भगवान् वाल्मीकि के वाक्यों में राम की व्यापकता का ही विस्तार बताया गया है। किंतु आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से कोई संबंध न होने के कारण उनपर विस्तार से लिखना अनावश्यक है।" अब विचार कीजिए कि इस लेख में क्या तत्त्व है। वाल्मीकि मुनि के वाक्य की पहली ही चौपाई—

'कस न कहहु अस रघु-कुल केतू। तुम्ह पालक संतत श्रुति सेतू॥'

से सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी यहाँ सगुण ब्रह्म का ही निरूपण कर रहे हैं। मायारूपी जानकी के बारे में भी 'जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की' से यही जान पड़ता है कि सगुण ब्रह्म, और उसकी माया, प्रकृति, शक्ति अथवा परमेश्वर की इच्छा जो सगुण ब्रह्म के इच्छानुसार काम करती है, उद्देश्य है। यह आगे की चौपाई:—

'जगु पेखन तुम देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥'

से भी स्पष्ट होता है।

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥'

से चतुर्वेदी जी मतलब निकालते हैं कि पहले पद से "भक्ति ज्ञान

का साधन रही"। यह अर्थ न शब्दों से निकलता है न वाक्य संगति से। इसका सीधा अर्थ यह है कि आपका रूप तो 'वचन अगोचर बुद्धिपर अविगत अकथ अपार' है। वेद भी हारकर नेति नेति कहता है। 'विधि हरि संभु' भी 'न जानहिं मरमु तुम्हारा'। फिर भला और कौन जान सकता है। हाँ जिसपर आप स्वयं अनुग्रह करें, वही जान सकता है। दूसरे पद से आप मतलब लगाते हैं कि "ज्ञान प्राप्त करते ही मुक्ति हो जाती है"। गोस्वामी जी ने यहाँ 'मुक्ति' का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने भक्ति मार्ग की पराकाष्ठा का प्रयोग किया है। यही अर्थ चतुर्वेदी जी भी स्वीकार करते हैं—'आपको जानते ही आप रूप हो जाता है'। अपने इष्ट के तद्रूप हो जाना भक्तिमार्ग का अंतिम फल है। अद्वैत मार्ग में ब्रह्म सर्वथा अप्रमेय है। उसे कोई जान नहीं सकता, वह ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान का विषय नहीं है। ज्ञान होने पर ज्ञानी यह जान लेता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' अर्थात् ज्ञानी ब्रह्म को नहीं जानता किंतु अपने को जान लेता है। इसके आगे चतुर्वेदी जी यह कहकर कि ज्ञान के अनंतर कुछ साधन नहीं है, चट सिद्ध कर लेते हैं कि गोस्वामी जी इस मत के अनुगामी हैं, परंतु इसका कोई प्रमाण नहीं देते। 'चिदानंदमय देह तुम्हारी। विगत,विकार जान अधिकारी।' के आधार पर लेखक महाशय सिद्ध करते हैं कि "ज्ञान व उसके अधिकारी की श्रेष्ठता स्फुट रूप से बताई है" और आगे कहते हैं—"आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से कोई संबंध न होने के कारण उन पर विस्तार से लिखना अनावश्यक है।" आपका शायद उस 'ज्ञान' और 'अधिकारी' से मतलब है जिसका शांकरवाद में निरूपण है। परंतु गोस्वामी जी के विचार-निरूपण के लिये 'आगे की चौपाइयों का प्रकृत विषय से' अवश्य संबंध है। उनमें उन्होंने अधिकारियों के लक्षण बताए हैं। इनसे और अद्वैत-कथित अधिकारियों से बहुत अंतर है; जैसे:—

सबु करि माँगहिं एकु फल राम-चरन रति होउ।
तिन्ह के मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥ (पृ० २०८)

"आरण्य कांड में तत्वज्ञान का एक खास प्रकरण है, जहाँ लक्ष्मण के प्रश्न पर स्वयं भगवान् रामचन्द्र ने श्रीमुख से जीव, ईश्वर, माया आदि का स्वरूप समझाया है। कहने की आवश्यकता न होगी कि यह प्रकरण भी अक्षरशः शंकर सिद्धांत के अनुकूल है ....स्वच्छ दर्पण की तरह इसमें अद्वैतवाद के मुख्य तत्त्व स्फुट प्रकाशित हो रहे हैं। अब पाठक उस प्रश्नोत्तर की ओर सावधान होकर दृष्टिपात करें—

"एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥
सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछौं निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सो देवा। सब तजि करौं चरण रज सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥
ईश्वर जीवहि भेद प्रभु कहहु सकल समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

"प्रश्न के शब्द अत्यंत स्पष्ट हैं। एकांत में बैठे प्रभु रामचंद्र से लक्ष्मण ने ज्ञान, वैराग्य, माया, भक्ति, जीव, ईश्वर और इनके भेद तथा उन सब का स्वरूप समझाने की प्रार्थना की है। अब भगवान् रामचंद्र का उत्तर सुनिए:—

"थोरेहि महँ सब कहौं बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीवनिकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥ ✓
एक रचै जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥
ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि-गुन त्यागी॥
माया ईस न आपु कहँ, जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर, माया प्रेरक सीव॥
धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

जाते बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत-सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंबन न आना। तेहि आधीन ग्यान विग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलै जो संत होहिं अनुकूला॥"

यहाँ पहले तो गोस्वामी जी ने भक्ति को केवल स्वतंत्र ही नहीं किंतु ज्ञान को भी भक्ति के अधीन बताया है। इसके आगे राम वाक्य यों पूरा होता हैः—

भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं विप्रचरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति रीती॥
यहि कर फल पुनि विषय-विरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीला-रति अति मन माहीं॥
संत-चरन-पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहिं कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥

बचन करम मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करौं सदा विश्राम॥

(पृ० २९९)

यहाँ चतुर्वेदी जी का अच्छे पांडित्य का लेख है; परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि यह तत्त्व-निरूपण का वाद * नहीं किंतु अपने ,पूर्व-निश्चित संकल्प को सिद्ध करने का जल्प * है। गोस्वामी जी के आंतरिक भाव जानने के लिये उन्हीं का वाक्य

---

* शास्त्रार्थ या वादविवाद तीन प्रकार के होते हैं (क) वाद, (ख) जल्प और (ग) वितंडा।

(क) तत्त्व-निरूपण की चहश 'वाद' है।

(ख) तत्त्व-निरूपण की परवाह न कर केवल अपने पक्ष को सिद्ध करना 'जल्प' है।

(ग) और इसी तरह दूसरे के पक्ष का खंडन मात्र 'वितंडा' है।

"यहाँ वेदांताभिमत सर्व कर्म त्याग, गुण और दोषों की मायिकता व परमार्थ दृष्टि में दोनों का अदर्शन बताया गया है"। यहाँ गोस्वामी जी ने 'सर्व कर्म त्याग' नहीं कहा है। शुभदायक अर्थात् काम्य कर्म और अशुभदायक अर्थात निषिद्ध कर्म कहने ही से साफ़ मालूम होता है कि इसमें निष्काम कर्म अथवा नित्य कर्म शामिल नहीं हैं। यह उपदेश अवश्य है, पर संतों और असंतों का लक्षण मात्र है। इस के पूर्व ही श्री रामचंद्र जी कहते हैं :—

नर सरीर धरि जे परपीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा ॥
करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथरत परलोक नसाना ॥
कालरूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम फलदाता ॥

(पृ० ४५८)

इसके और पूर्व :—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

(पृ० ४५८)

इसके और भी पूर्व असंतों के लक्षण हैं; जैसे :—

स्वारथ-रत परिवार-विरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी ॥
मातु पिता गुरु विप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहि ॥
करहिं मोह-बस द्रोह परावा। संत संग हरिकथा न भावा ॥

(पृ० ४५८)

इस सब पर व्यापक दृष्टि से विचार करने पर यह तो गुण और दोषों का दर्शन है, न कि अदर्शन।

"आगे गरुड के प्रति काक के उपदेश में ब्रह्म का वेदांताभिमत विस्तृत निरूपण है। उसमें से कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड ॥
सो दासी रघुवीर की समुझे मिथ्या सोपि।
छुटै न राम कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि ॥

व्यापक व्याप अखंड अनंता। अखिल अमोघ शक्ति भगवंता ॥

सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज विग्यान रूप बलधामा॥
अगुन अदभ्र गिरागोतीता। समदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर-अनुरूप॥
जथा अनेक वेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै आपनु होइ न सोइ॥

"आगे भी इस प्रकरण में बहुत कुछ वेदांत विषय है। ऐसे स्थलों की व्याख्या बहुधा हो चुकी है। इस प्रकरण में यह विशेषता है कि यहाँ भगवान् रामचंद्र के प्राकृत चरित्रों का समाधान इसी रूप में किया गया है कि अज्ञानियों को भगवान् राम में प्राकृत चरित्रों का आभास होता है। यथार्थ में वे चरित हैं ही नहीं। इससे बढ़कर मायिकता का सिद्धांत क्या कहा जा सकता है।" बड़े परिताप का विषय है कि इस स्थल पर चतुर्वेदी जी ने काट छाँट ही नहीं की, बल्कि मूल का क्रम भी बदल दिया है। 'व्यापि रहेउ संसार महुँ' इत्यादि दोहों के बाद की चौपाइयों में दो ऊपर की और दो नीचे की छोड़ गए हैं। 'व्यापक व्याप्य अखंड अनंता' और 'सोइ सच्चिदानंदघन रामा' का क्रम बदल दिया है। 'जथा अनेक वेष धरि' इत्यादि दोहे के आगे की चौपाइयाँ—जिनसे इस दोहे से अत्यंत घनिष्ट संबंध है—केवल छोड़े ही नहीं गए हैं, प्रत्युत् अपनी माया का पूर्ण विकास करने के लिये प्रारंभ में यह कहकर कि "आगे गरुड़ के प्रति काक के उपदेश में ब्रह्म का वेदांताभिमत विस्तृत निरूपण है" इस दोहे के अनंतर कहते हैं कि "आगे भी इस प्रकरण में बहुत कुछ वेदांत विषय है" जिसमें पाठकों को यही विश्वास हो कि इसके आगे भी गोस्वामी जी के विचार इससे मिलते जुलते हैं, कम से कम इसके विपरीत नहीं हैं। वास्तव में गोस्वामी जी अद्वैत कथित 'मायिकता' के विरोधी थे; और रामचरितमानस में जहाँ जहाँ उन्होंने ऐसे मत का उल्लेख किया है, वहाँ वहाँ उनका यही प्रयोजन

था कि इस मत का खंडन करें। जिस 'कुछ अंश' को आपने प्रमाण माना है, उसका सच्चा रूप यह है:—

ब्यापि रहेउ संसार महुँ मायाकटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥
सो दासी रघुवीर कै समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥
सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिग्यानरूप बलधामा॥
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरागोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुखसंदोहा॥
प्रकृतिपार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रवि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं॥

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत-नर-अनुरूप॥
जथा अनेक वेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै आपुन होइ न सोइ॥

असि रघु-पति-लीला उरगारी। दनुजविमोहनि जन-सुख कारी॥
जे मतिमलिन विषयबस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥
नयनदोष जा कहुँ जब होई। पीतबरन ससि कहुँ कह सोई॥
जब जेहि दिसिभ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयेउ दिनेसा॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोहबस आपुहि लेखा॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परसपर मिथ्याबादी॥
हरि बिषयक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अग्यान प्रसंगा॥
मायाबस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥
ते सठ हठबस संसय करहीं। निज अग्यान राम पर धरहीं॥

संबंध में जो ऐसा कहते हैं, वह सपने में भी सत्य नहीं है; केवल उन मिथ्यावादियों के अज्ञान का प्रसंग है; वे मिथ्यावादी 'माया के वशीभूत,' 'मतिमंद,' 'अभागी,' 'सठ,' 'हठवस' हृदय पर बहुत तरह के परदे लगे होने के कारण संशय करते हैं और 'निज अज्ञान' को राम पर धरते हैं। प्रभु पर ऐसा मोह धरनेवाले, ऐसे मिथ्यावादी रघुपति को कैसे जान सकते हैं; क्योंकि वे तो दुःखरूपी 'काम' 'क्रोध' इत्यादि में आसक्त हैं और वे मूढ़ अंधकार कूप में पड़े हैं। यह मायिकता के सिद्धांत का प्रबल विरोध है।

ग्यान अखंड एक सीतावर। माया बस्य जीव सचराचर॥
जौं सबके रह ग्यान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन-खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

(पृ० ४७३-७४)

"ऐसे स्पष्ट शब्दों में अद्वैतवाद और मायावाद के प्रतिपादन के शतशः स्थल हैं।" खेद है कि इस पर और इसी तरह और भी कई जगह लेखक महाशय ने व्याख्या नहीं की है; क्योंकि 'स्पष्ट' छोड़ इन चौपाइयों में छिपा हुआ भी अद्वैतवाद नहीं दिखाई देता। यह वाक्य तो कुछ द्वैतवाद की पुष्टि करता है।

"आगे लोमश ऋषि जहाँ काकभुशुंड जी को ज्ञान का उपदेश देने लगे हैं, वहाँ का सब प्रकरण अद्वैत का अक्षर अक्षर अनुगामी है—"

"काकभुशुंड जी गरुड़ जी से कहते हैं कि—

"ब्रह्मग्यानरत मुनि बिग्यानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥
लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुण हृदयेसा॥
अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥
मनगोतीत अमल अबिनासी। निर्विकार निरवधि सुखरासी॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

× × × ×

"अब इस प्रकरण पर कोई टीका टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। वेदांत शास्त्र में जिनका कुछ भी प्रवेश है, वे स्पष्ट समझ सकते हैं कि यह प्रकरण अक्षरशः शांकर-सिद्धांत का अनुवाद मात्र है; और गोस्वामी जी ने तत्त्वज्ञान के उपदेश-प्रसंग में यही उपदेश लिखा है। दूसरी बात यह है कि भुशुंडी जी भक्तिमार्ग के अधिकारी थे, वे सगुण भक्ति में रुचि रखते थे, अतः उनको अपने अधिकारानुसार न होने से यह ईशोपदेश रुचिकर न हुआ और उन्होंने ऋषि से वाद-विवाद कर शाप पाया। जैसा कि हम पूर्व के प्रसंगों में दिखा चुके हैं, गोस्वामी जी ने अन्यत्र भी यही सिद्धांत माना है कि तात्त्विक तो निर्गुणाद्वैत है, किंतु भक्तों का मनोनिवेश सगुण, साकार मूर्तियों में होता है। यह मत शांकर सिद्धांत के प्रतिकूल नहीं। भगवान् श्री शंकराचार्य भी उपासना का संबंध सगुण ब्रह्म से मानते हैं। जो अपने को ज्ञान के अयोग्य समझकर उपासना के अधिकारी समझें, वे खुशी से सगुण ब्रह्म की उपासना करें। यही गोस्वामी जी ने भी अपने लिये चुना। किंतु तत्त्वनिरूपण में वे भगवान् शंकराचार्य के समान उपनिषत्प्रतिपादित अद्वैत सिद्धांत के ही अनुयायी रहे।"

इस लेख से यह प्रतीत होता है कि चतुर्वेदी जी शांकर अद्वैत-वाद के माया और मिथ्यावाद के अद्वितीय सेवक हैं। अद्वैतवाद का यह सारभूत सिद्धांत है कि जो कुछ देखा जा सकता है, सुना जा सकता है, जिसका मन से अनुमान किया जा सकता है, वह सब मिथ्या है। इस सिद्धांत को सिद्ध करने के लिये आपने अपने लेख ही को प्रमाण बना दिया है। इससे बढ़कर कोई क्या सेवा कर सकता था? पूर्वोक्त "ब्रह्मज्ञानरत मुनि विग्यानी" इत्यादि चौपाइयों से आप सिद्ध करते हैं कि "यह प्रकरण अक्षरशः शांकर सिद्धांत का अनुवाद मात्र है; और गोस्वामी जी ने तत्त्वज्ञान के उपदेश प्रसंग में यही उपदेश लिखा है। इसे मिथ्यावाद का प्रमाण बनाने के लिये गोस्वामी जी ने इस 'शांकर सिद्धांत के अनुवाद मात्र' कहते ही लिखा है—

"बिबिध भाँति मुनि मोहिं समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा"।

लेखक महाशय के अनुसार जो 'ज्ञान के अयोग्य' हैं, वे सगुण ब्रह्म के उपासक होते हैं; और उनके कथन से मतलब यह निकलता है कि गोस्वामी जी भी इन्हीं अयोग्यों की श्रेणी में थे, परंतु उनमें ज्ञान का इतना आभास आ गया था कि वह शांकर सिद्धांत के अनुयायी थे। आपके अनुसार अद्वैत मार्ग ही सब मार्गों में बड़ा है। यदि गोस्वामी जी ने कहीं और किसी मार्ग का उल्लेख किया है तो यह समझना चाहिए कि 'ज्ञान के अधिकारी' न होने के कारण उन्हें यह कष्ट झेलना पड़ा है। हम जैसा पहले लिख आए हैं, चतुर्वेदी जी के विचारों से हमें कोई प्रयोजन नहीं; देखना यह है कि गोस्वामी जी के क्या विचार हैं। स्वयं चतुर्वेदी जी के मत में भी "उत्तरकांड का उत्तर भाग तत्त्वज्ञान का एक और बहुत बड़ा खज़ाना है।" उस पर ध्यान देने से गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार और भी स्पष्ट रूप से प्रकट हो जायँगे।

उत्तर कांड के उत्तर भाग में काकभुशुंडि और गरुड़ के संवाद की कथा है। जब युद्ध में इंद्रजीत ने नागास्त्र का प्रयोग किया, तब श्रीरामचंद्र ने उसका निषेध करना उचित न समझा। उस समय नारद मुनि ने गरुड़ जी को इस काम के लिये भेजा। इसके पश्चात् गरुड़ जी को बुद्धि-भ्रम हुआ कि यदि श्रीराम परमेश्वर के अवतार हैं, तो वह इस काम में स्वयं क्यों असमर्थ रहे। इस शंका-समाधान के लिये गरुड़ जी नारद मुनि और ब्रह्मा के पास होते हुए महादेव जी के पास पहुँचे। महादेव जी के उपदेश से वह भुशुंडि जी के पास गए और उनसे रामचरित और अन्य उपदेश सुनने और उस आश्रम की महिमा से उनका सब भ्रम नष्ट हो गया। महादेव जी भुशुंडि जी के आश्रम को बताते हैं:—

तेहि गिरि रुचिर बसै खग सोई। तासु नास कल्पांत न होई॥
मायाकृत गुन दोष अनेका। मोह मनोज आदि अविवेका॥
रहे व्यापि समस्त जग माहीं। तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं॥

(पृ० ४६४)

यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वास्तव में सीता सत्य हैं, केवल वह सीता जिसे रावण हर ले गया था, माया की थीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी मायावाद और मिथ्यावाद के अनुगामी नहीं थे। राम-कथा कहने के उपरांत गरुड़ जी के विनय और अनुराग के वचन सुन भुशुंडि जी प्रसन्न हो और 'परम रहस्य' सुनाने लगे और स्वयं मोहित होना विस्तार से कहा। इसी प्रसंग में 'ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड' इत्यादि जिसका कुछ पहले उल्लेख हो चुका है, कह कर भुशुंडि जी वर्णन करते हैं कि जब जब कल्प कल्पांतर में श्रीराम का अवतार होता है, तब तब वह अयोध्या जा परमेश्वर की बाल-क्रीड़ा का आनंद भोगते हैं। एक बार भुशुंडि जी को

प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयेउ मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंदसंदोह॥
(पृ० ४७३)

मोह होने का कारण यह था—

ग्यान अखंड एक सीतावर। मायावस्य जीव सचराचर॥
जौं सब के रह ग्यान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
(पृ० ४७३)

शांकरवाद तो दूर रहा, यह वाक्य तो द्वैतवाद को सिद्ध करता है कि ईश्वर और जीव में भेद है और ज्ञान हो जाने पर भी यह भेद बना ही रहता है; क्योंकि परब्रह्म के समान जीव को 'एकरस' ज्ञान नहीं होता।

अद्वैत मार्ग में ज्ञान हो जाना सिद्धि की पराकाष्ठा है; परंतु गोस्वामी जी के मत में:—

रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूछ बिषान॥
(पृ० ४७४)

गोस्वामी जी कहीं यह झलक भी नहीं देते कि भक्ति-मार्ग केवल

ज्ञान उपार्जन का हेतु है, परंतु उसमें स्वतंत्र कोई सिद्धि नहीं है। इसके विरुद्ध उनके मत में भक्ति मार्ग बिलकुल स्वतंत्र है। इतना ही नहीं, प्रत्युत् ज्ञान-विज्ञान भक्ति उपार्जन के हेतु हैं, भक्ति के अधीन हैं। आरण्य कांड में लक्ष्मण जी को उपदेश करते हुए श्री राम ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है:—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छ-प्रद बेद बखाना॥
जा तें बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत-सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥
(पृ० २६६)

इसमें यह शंका हो सकती है कि 'ज्ञान' और 'विज्ञान' से गोस्वामी जी का क्या अभिप्राय था। यह आगे उन्हीं के वाक्यों से साफ़ हो जायगा। लंका कांड में रावण वध के उपरांत सब देवता इत्यादि राम-दर्शन के लिये उपस्थित हुए। उसी समय दशरथ जी भी आए। यहाँ भी गोस्वामी जी ने यही दिखलाया है कि भक्ति मार्ग सब से उत्कृष्ट है:—

रघुपति प्रथम प्रेम अनुमाना। चितै पितहिं दीन्हेउ दृढ़ ग्याना॥
तातें उमा मोच्छ नहिं पावा। दसरथ भेदभगति मन लावा॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहुँ रामु भगति निज देहीं॥
(पृ० ४२६)

पुर-वासियों को उपदेश करते हुए श्री राम कहते हैं:—

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥
करत कष्ट बहु पावै कोऊ। भगतिहीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥
(पृ० ४६०)

अर्थात् परमार्थ दृष्टि से ज्ञान सहित जितने साधन हैं, वे यदि 'भगतिहीन' हैं तो व्यर्थ ही हैं; भक्ति मार्ग ही श्रेयस्कर है। ब्रह्मर्षि वशिष्ठ श्री राम से कहते हैं;—

तव पद-पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥
(पृ० ४६१)

× × × ×

सोइ सर्वग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिग्यान अखंडित।
दच्छ सकल-लच्छन-जुत सोई। जा कें पद-सरोज-रति होई॥
(पृ० ४६१)

अर्थात् सब साधनों का हेतु भक्ति है। जिसे भक्ति है, उसे सब कुछ प्राप्त है। विज्ञानी से गोस्वामी जी को अद्वैत-कथित मुक्त ज्ञानी, जिसे 'सोऽहमस्मि' का अनुभव हो चुका हो, अभिप्रेत है। गोस्वामी जी के मत से ऐसे विज्ञानी का भी दर्जा भक्त के नीचे है। कुछ आगे श्री पार्वती जी के श्रीमुख का यह वाक्य है:—

नरसहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म ब्रत धारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय-बिमुख बिरागरत होई॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥
(पृ० ४६३)

अर्थात् हजारों आदमियों में कोई एक 'धर्म-व्रत-धारी' होता है। ऐसे करोड़ों 'धर्मसील' में कोई एक 'विरक्त,' करोड़ों विरक्तों में कोई एक ज्ञानी और करोड़ों 'ज्ञानवंत' में कोई एक 'जीवनमुक्त' होता है। ऐसे हज़ारों जीवनमुक्तों में कोई एक 'दुर्लभ ब्रह्म-लीन' पद पाकर 'विज्ञानी' होता है। यहाँ तक अद्वैत कथित ज्ञान विज्ञान की श्रेष्ठता हुई। गोस्वामी जी के मत में यह सब भक्त के नीचे हैं। भगवती का बहुत स्पष्ट और दृढ़ वाक्य है :—

धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी।
सब तें सो दुर्लभ सुरराया। राम-भगति-रत गत-मद-माया॥
(पृ० ४६३)

केवल रामचरितमानस ही नहीं किंतु तुलसीकृत सभी ग्रंथों से यही सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी सब काल में, सब मार्गों में, सब के लिये भक्ति मार्ग को उत्कृष्ट और सर्वोत्तम मानते थे।

आगे भुशुंडि जी यों कहते हैं कि श्रीराम ने इन्हें अपना सर्वव्यापक

और विश्वरूप का दर्शन दिया जिससे भुशुंडि जी ने 'विकल', 'अमित' और 'प्रेमाकुल' होकर 'देहदसा बिसराई' और—

सजल नयन पुलकित कर जोरी। कीन्हेउँ बहु बिधि बिनय बहोरी॥
(पृ० ४७६)

श्रीरामचंद्र जी ने प्रसन्न होकर इनसे कहा कि वर माँगो। तब भुशुंडि जी ने यह निश्चय करके कि—

भगतिहीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु ब्यंजन जैसे॥
(पृ० ४७६)

'अबिरल भगति' का वर माँगा। यह वर देकर श्रीरामचंद्र जी ने इन्हें और भी उपदेश किया। इस संबंध में गोस्वामी जी के वाक्य बहुत ध्यान देने योग्य हैं; क्योंकि यहाँ उन्होंने 'निज सिद्धांत' कहा है—

निज सिद्धांत सुनावौं तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही॥
(पृ० ४७७)

॥

× × × ×

सत्य कहौं खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥
(पृ० ४७८)

प्रभु के वचनामृत सुनने से और उनकी बाललीला देखने से काकभुशुंड जी को ऐसा सुख हुआ—

सोइ सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ।
ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति॥
(पृ० ४७८)

यहाँ गोस्वामी जी ने बहुत स्पष्ट वाक्यों में कहा है कि उनके 'निज सिद्धांत' में सब मतों को छोड़कर सगुण रामचंद्र की अनन्य भक्ति अंतिम और परम पुरुषार्थ है और उनकी बाल-लीला देखने का यह सुख है जिसकी अपेक्षा ब्रह्मसुख—अद्वैतवाद का अंतिम सुख—तुच्छ है। इन सब में कहीं इसकी झलक भी नहीं है कि गोस्वामी जी ने अपने को अनधिकारी समझकर ज्ञान मार्ग छोड़ भक्ति मार्ग का ग्रहण किया था; बल्कि उन्होंने स्पष्ट रीति से दिख-

खाया है कि वह भक्ति मार्ग को सब मार्गों से उत्तम और श्रेयस्कर मानते थे; इसलिये हम लोगों के लिये भी यही अभिप्राय निकालना ठीक है कि उन्होंने भक्ति मार्ग का ग्रहण इसी कारण किया था। गोस्वामी जी ने इसी बात को आगे भी विस्तार से प्रस्फुटित किया है। जब गरुड़ जी ने भुशुंडि जी से प्रश्न किया कि आपको काल क्यों नहीं व्यापता और आपके आश्रम में आने ही से मेरा मोह क्यों भाग गया, तब उनको उत्तर देने के प्रसंग में भुशुंडि जी ने कहा है—

जप तप व्रत मख सम दम नाना। बिरति बिवेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघु-पति-पद प्रेमा। तेहि बिनु काउ न पावै पेमा॥

(पृ० ४८१)

× × × ×

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम-वचन रामपद नेहा॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥

इसी प्रसंग में कलि-काल के वर्णन में गोस्वामी जी ने लिखा है:-

परतिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥
तेइ अभेदवादी ग्यानी नर। देखेउँ मैं चरित्र कलिजुग कर॥
आप गए अरु औरनि घालहिं। जो कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं॥

(पृ० ४८४)

यह भी नहीं है कि कलि-काल होने से, फलतः, लोक को अद्वैत मार्ग का अनधिकारी समझकर, लोकसंग्रह की बुद्धि से गोस्वामी जी ने भक्ति मार्ग का अनुसरण किया हो; क्योंकि कलियुग ही के प्रसंग में वह कुछ आगे कहते हैं—

श्रुतिसंमत हरि-भक्त-पथ संजुत बिरति बिवेक।
तेहि न चलहिं नर मोह-बस कल्पहिं पंथ अनेक॥

(पृ० ४८४)

अर्थात् यह कलिकाल के मोह का प्रभाव है कि वेद अभिमत, विरक्ति और विवेकयुक्त, भक्तिमार्ग का तिरस्कार कर और और मार्गों के अनुगामी धन लोग कल्पना करते हैं; जिन्हें कलि-मोह नहीं

व्यापता, वह ऐसे भक्ति मार्ग ही पर चलते हैं। इतना ही नहीं किंतु जिस तरह नट के सेवक को उसकी नटबाज़ी की माया नहीं व्यापती, उसी तरह ईश्वर के भक्त को परमेश्वर-रचित कलियुग का धर्म नहीं व्यापताः—

कालधर्म नहिं व्यापहिं तेही। रघुपति-चरन प्रीति-रति जेही॥
नटकृत कपट विकट खगराया। नटसेवकहिं न व्यापै माया॥
(पृ० ४८६)

गरुड़ से अपनी जीवनी कहने में भुशुंडि जी ने कहा है कि उनके अनेक योनियों में अनेक जन्म हुए, परंतु उनका ज्ञान बना रहा। जब अंत में उन्होंने ब्राह्मण के घर में जन्म पाया, तब अपने माता पिता की मृत्यु के उपरांत वह वन में जाकर ईश्वर भजन करने लगे; और इस पर्यटन में जहाँ जहाँ मुनियों से समागम होता था, उनसे राम-कथा पूछते थे और उसे सुनकर हर्षित होते थे। परंतु यदि कोई इन्हें निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान बताता था तो :—

निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई। सगुन ब्रह्मरति उर अधिकाई॥
(पृ० ४६०)

यों ही घूमते घूमते यह वृद्ध लोमश ऋषि के आश्रम पर पहुँचे और उनसे भी सगुण उपासना का प्रश्न किया। गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार-निरूपण के लिये यह कथा बहुत महत्त्व की है क्योंकि यहाँ केवल शब्दों ही से नहीं वरन् भाव से भी गोस्वामी जी ने अपने विचार प्रकट किए हैं। भुशुंडि जी स्वयं ज्ञानी थे। लोमश मुनि ज्ञानमय थे। मुनिन्देव ने इन्हें 'परम अधिकारी' जान कर ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया। ऐसे उपदेशक मिलने पर भी और उनके 'बिबिध भाँति' से समझाने पर भी भुशुंडि जी यही कहते हैं कि 'निर्गुन मत मम हृदय न आवा'। इस पर इन दोनों में परस्पर खूब शास्त्रार्थ हुआ :—

मुनि पुनि कहि हरि-कथा अनूपा। खंडि सगुनमत निर्गुन रूपा॥
तब मैं निर्गुन मति करि दूरी। सगुन निरूपेउँ करि हठ भूरी॥
(पृ० ४६१)

इस वादविवाद से निर्गुण मत के उपदेशक को क्रोध हो आया। 'बारंबार सकोप मुनि करै निरूपन ग्यान'; परंतु सगुणमतानुयायी श्रोता को इस पाप मूलक क्रोध ने नहीं ग्रसा; उसकी विवेक बुद्धि बनी ही रही :—

मैं अपने मन बैठि तब करौं बिबिध अनुमान।
द्वैत बुद्धि बिनु क्रोध किमि द्वैत कि बिनु अग्यान॥
मायावस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान॥

(पृ० ४६१)

होते होते ब्रह्मज्ञानी इतने सकोप हुए कि उन्होंने सगुण मतवाले श्रोता को शाप दिया कि तू काक हो जा। परंतु शाप पाने पर भी सगुण भक्त को माया का आभास तक नहीं हुआ, निमेष मात्र के लिये भी मर्यादा उल्लंघन करने की बुद्धि नहीं हुई :—

लीन्ह साप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥
दो०—तुरत भयेउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ।
सुमिरि राम-रघुबंस-मनि हरषित चलेउँ उड़ाइ॥

(पृ० ४६२)

ऐसे कुसमय पर भी भक्ति के प्रभाव से अखंडित ज्ञान बना रहा:—

उमा जे राम-चरन-रत बिगत-काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(पृ० ४६२)

परंतु इसमें वास्तव में लोमश मुनि का दोष नहीं था, क्योंकि जब वह माया-ग्रस्त थे, उस समय की उनकी यह बुद्धि थी कि निर्गुण ब्रह्मज्ञान सगुण भक्ति से श्रेष्ठ है :—

सुन खगेस नहिं कछु रिषि दूसन। उर-प्रेरक रघु-बंस बिभूषन॥
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम-परीछा मोरी॥

(पृ० ४६२)

और जब उन पर से वह मायाच्छादन हट गया, तब—

व्यापता, वह ऐसे भक्ति मार्ग ही पर चलते हैं। इतना ही नहीं किंतु जिस तरह नट के सेवक को उसकी नटबाज़ी की माया नहीं व्यापती, उसी तरह ईश्वर के भक्त को परमेश्वर-रचित कलियुग का धर्म नहीं व्यापता:—

कालधर्म नहिं व्यापहिं तेही । रघुपति-चरन-प्रीति-रति जेही ॥
नटकृत कपट विकट खगराया । नटसेवकहिं न व्यापै माया ॥
(पृ० ४८६)

गरुड़ से अपनी जीवनी कहने में भुशुंडि जी ने कहा है कि उनके अनेक योनियों में अनेक जन्म हुए, परंतु उनका ज्ञान बना रहा। जब अंत में उन्होंने ब्राह्मण के घर में जन्म पाया, तब अपने माता पिता की मृत्यु के उपरांत वह वन में जाकर ईश्वर भजन करने लगे; और इस पर्यटन में जहाँ जहाँ मुनियों से समागम होता था, उनसे राम-कथा पूछते थे और उसे सुनकर हर्षित होते थे। परंतु यदि कोई इन्हें निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान बताता था तो:—

निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई । सगुन ब्रह्मरति उर अधिकाई ॥
(पृ० ४६०)

यों ही घूमते घूमते यह वृद्ध लोमश ऋषि के आश्रम पर पहुँचे और उनसे भी सगुण उपासना का प्रश्न किया। गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार-निरूपण के लिये यह कथा बहुत महत्त्व की है क्योंकि यहाँ केवल शब्दों ही से नहीं वरन् भाव से भी गोस्वामी जी ने अपने विचार प्रकट किए हैं। भुशुंडि जी स्वयं ज्ञानी थे। लोमश मुनि ज्ञानमय थे। मुनि-देव ने इन्हें 'परम अधिकारी' जान कर ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया। ऐसे उपदेशक मिलने पर भी और उनके 'बिबिध भाँति' से समझाने पर भी भुशुंडि जी यही कहते हैं कि 'निर्गुन मत मम हृदय न आवा'। इस पर इन दोनों में परस्पर खूब शास्त्रार्थ हुआ:—

मुनि पुनि कहि हरि-कथा अनूपा । खंडि सगुनमत निर्गुन रूपा ॥
तब मैं निर्गुन मति करि दूरी । सगुन निरूपेउँ करि हठ भूरी ॥
(पृ० ४६१)

इस वादविवाद से निर्गुण मत के उपदेशक को क्रोध हो आया। 'बारंबार सकोप मुनि करै निरूपन ग्यान'; परंतु सगुणमतानुयायी श्रोता को इस पाप मूलक क्रोध ने नहीं ग्रसा; उसकी विवेक बुद्धि बनी ही रही :—

मैं अपने मन बैठि तब करौं विविध अनुमान।
द्वैत बुद्धि बिनु क्रोध किमि द्वैत कि बिनु अग्यान॥
मायावस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान॥

(पृ० ४६१)

होते होते ब्रह्मज्ञानी इतने सकोप हुए कि उन्होंने सगुण मतवाले श्रोता को शाप दिया कि तू काक हो जा। परंतु शाप पाने पर भी सगुण भक्त को माया का आभास तक नहीं हुआ, निमेष मात्र के लिये भी मर्यादा उल्लंघन करने की बुद्धि नहीं हुई :—

लीन्ह साप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥
दो०—तुरत भयेउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ।
सुमिरि राम-रघुबंस-मनि हरषित चलेउँ उड़ाइ॥

(पृ० ४६२)

ऐसे कुसमय पर भी भक्ति के प्रभाव से अखंडित ज्ञान बना रहा:—

उमा जे राम-चरन-रत बिगत-काम-मद-क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(पृ० ४६२)

परंतु इसमें वास्तव में लोमश मुनि का दोष नहीं था, क्योंकि जब वह माया-ग्रस्त थे, उस समय की उनकी यह बुद्धि थी कि निर्गुण ब्रह्मज्ञान सगुण भक्ति से श्रेष्ठ है :—

सुनु खगेस नहिं कुछ रिषि दूसन। उर-प्रेरक रघु-बंस-बिभूषन॥
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम-परीक्षा मोरी॥

(पृ० ४६२)

और जब उन पर से यह मायाच्छादन हट गया, तब—

मन बच क्रम मोहिं निज जन जाना। मुनि मति पुनि फेरी भगवाना॥
तब—ज्ञान आ जाने पर—

रिषि मम सहनसीलता देखी। राम-चरन-बिस्वास बिसेखी॥
अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥
मम परितोष बिबिध बिधि कीन्हा। हरषित राम-मंत्र मोहि दीन्हा॥
बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना॥
सुंदर सुखद मोहि अति भावा। जो प्रथमहिं मैं तुम्हहिं सुनावा॥
मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। राम-चरित मानस सब भाषा॥
(पृ० ४६२)

यह खूब ध्यान में रखने की बात है कि गोस्वामी जी यहाँ "राम चरित मानस" का प्रयोग करके यही सिद्धांत सिद्ध कर देते हैं कि यही उनके तात्त्विक विचार हैं। इसके आगे इस मार्ग की उत्कृष्टता, परंपरा और प्रभाव यों कहते हैं:—

सादर मोहि यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई॥
रामचरित सर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा॥
तोहि निज भगत राम कर जानी। तातें मैं सब कहेउँ बखानी॥
राम-भगति जिन्ह के उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिअ तिन्ह पाहीं॥
मुनि मोहि बिबिध भाँति समुझावा। मैं सप्रेम मुनिपद सिरु नावा॥
निज-कर कमल परसि मम सीसा। हरषित आसिष दीन्ह मुनीसा॥
राम-भगति अबिरल उर तोरे। बसहु सदा प्रसाद अब मोरे॥

दो०—सदा रामप्रिय होहु तुम्ह सुभ-गुन भवन अमान।
कामरूप इच्छामरन ग्यान बिराग निधान॥
जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत।
ब्यापिहि तहँ न अबिद्या जोजन एक प्रजंत॥

काल कर्म गुनदोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहि न ब्यापिहि काऊ॥
रामरहस्य ललित बिधि नाना। गुप्त प्रगट इतिहास पुराना॥
बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ। नित नव नेह रामपद होऊ॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥

सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा॥
एवमस्तु तव बच मुनि ग्यानी। यह मम भगत करम मन बानी॥
सुनि नभगिरा हरष मोहि भयेऊ। प्रेम मगन सब संसय गयेऊ॥
करि बिनती मुनि आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिरु नाई॥
हरष सहित एहि आश्रम आयेउँ। प्रभुप्रसाद दुर्लभ बर पायेउँ॥

× × ×

भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्ह महा-रिषि साप।
मुनिदुर्लभ बर पायेउँ देखहु भजनप्रताप॥

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञानहेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहत्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महा सिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥

(पृ० ४६३-६४)

यहाँ गोस्वामी जी ने यही दिखलाया है कि ज्ञानी होने पर भी जब "भोरी मति' हो जाती है, तब वह विमोहित ज्ञानी स्वयं योगेश्वर महादेव के उपदेश को भूल निर्गुण मत का कट्टर पक्षपाती हो जाता है और पक्षपात के वशीभूत हो सत्यमार्गवादी संतों के प्रति भी अनर्थ व्यवहार करता है। परंतु ज्ञान निर्मल हो जाने पर अपने निर्गुण मत के आग्रह और उस आग्रह जनित अनुचित कर्मों को याद कर, अति विस्मित होता है और बारंबार पछताता है। निर्मल ज्ञान होने ही पर सगुण ब्रह्म के भक्ति मार्ग की सत्यता और उत्तमता में विश्वास करके दूसरों को भी उसी मार्ग का उपदेश करता है। सच्ची अनन्य भक्ति हो जाने पर केवल उस भक्त ही को नहीं वरन् उस भक्त के सत्संगियों को भी अविद्या नहीं व्यापती। स्वयं भक्त का तो कहना ही क्या है! उसे न काल व्यापता है, न कर्म के दोष या गुण, न स्वभाव (अर्थात् पूर्व संचित कर्म-संस्कार), और न दुःख ही। उसे बिना प्रयास परमेश्वर के गुन, प्रकट और ललित रहस्य का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह मन में भी

जिस बात की इच्छा करता है, वह उसे परमेश्वर के प्रसाद से सहज ही प्राप्त होती है। भक्ति का यह प्रताप है कि महर्षियों के शाप का भी परिणाम दुर्लभ श्रेय होता है। इसके विपरीत जो जान बूझकर भक्ति मार्ग को त्याग केवल ज्ञान को हेतु बना परिश्रम करते हैं, वे उन जड़ों के समान हैं जो कामधेनु सुलभ होते हुए भी दूध पाने की इच्छा से जंगल जंगल मदार का पेड़ फिरते हैं; अथवा उन शठों के समान हैं जो नौका बिना ही महासमुद्र को तैरकर पार करने की इच्छा करते हैं।

इसके आगे गरुड़ जी के प्रश्न पर कि:—

कहहिं संत मुनि वेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाईं। नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥
ग्यानहिं भगतिहिं अंतर केता। सकल कहौ प्रभु कृपानिकेता॥
(पृ० ४६४)

भुशुंडि जी पहले तो यह कहते हैं कि भक्ति और माया दोनों स्त्री हैं जिनमें भक्ति तो ईश्वर की प्रिया और माया नर्त्तकी की नाईं है। इससे रूपी प्रिया भक्ति के सामने माया संकोचवश अपनी प्रभुता का विकास नहीं कर सकती। इसके आगे ज्ञान मार्ग का विस्तृत निरूपण करने में जो प्रस्तावना है, उसमें शांकर अद्वैत तो बहुत दूर रहा, द्वैतवाद की झलक आती है। वह, यानी ज्ञान मार्ग, ऐसी 'अकथ कहानी' है जो 'समुझत बनै न जाइ बखानी'।

ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
(पृ० ४६५)

होने पर भी जैसे बहेलिया बुद्धिहीन नीच योनिवाले पशु-पक्षियों को फाँसता है, उसी तरह ज्ञान रूप ब्रह्म के जीव रूप अंश मनुष्य को:—

सो माया बस भयेउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥
(पृ० ४६५)

और इस जड़ माया और चैतन्य ब्रह्म अंश जीव के संबंध मात्र

से 'जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई।' यदि माया भी, ब्रह्म की तरह, सत्य हो तब भी समझ में आ सकता है कि बराबरी की गुत्थी है; इससे इसका सुलझाना कठिन है। परंतु शांकर अद्वैतवाद के अनुसार यद्यपि सब संसार, सब रूप, सब गुण, सब मायाकृत खेल, मिथ्या हैं, वास्तव में यह सब कुछ हैं ही नहीं, इनका होना भ्रम मात्र है,

'जदपि मृषा छूटत कठिनाई।'

तब तें जीव भयेउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥

और जीव के हृदय में मोह रूपी अंधकार के आधिक्य से यह नहीं देख पड़ता कि यह ग्रंथि कैसे छूटेगी। जब बहुत प्रयत्न करके सात्विक श्रद्धा-रूपी गौ जप, तप, व्रत इत्यादि 'अपार' नियम रूपी घास खाकर तैयार हो, भावरूपी बछड़ा उसे पिन्हावे, निवृत्ति रूपी रस्सी से उसके पैर बाँधे जायँ और विश्वास रूपी पात्र एकत्र हो जायँ, तब भी उसके दुहने के लिये मन रूपी एक ऐसा अहीर होना चाहिए जो निर्मल हो और अपने अधीन हो। इतनी कठिनाई झेलने पर भी जब इस 'परम धर्म' रूपी दूध को अकाम रूपी अग्नि पर औटावे और उसे संतोष और क्षमा रूपी हवा से ठंढा करके धैर्य-रूपी जामन देकर दही जमावे और ऐसे ही ऐसे कठिन प्रयत्नों की सब सामग्री जमा करके मक्खन निकाले, वैसे ही कठिनाइयों से घृत बनावे और वैसे ही कठिनाइयों को झेलता हुआ दीया, दीयट, बत्ती ठीक करके सोऽहमस्मि रूपी 'दीप-शिखा' प्रज्वलित करे, तब ज्ञान मार्ग द्वारा:—

'मोह आदि तम मिटै अपारा॥'

तब सोइ बुद्धि पाइ उँजिआरा। उरगृह बैठि ग्रंथि निरुआरा॥

(पृ० ४६६)

इतना सब हो जाने पर भी विघ्नों का अंत नहीं होता। तब माया रिद्धि-सिद्धि को उस ज्ञानदीप के समीप भेज 'अंचल बात बुझावहिं दीपा'। यदि यह इससे भी बच गया, तो सब इंद्रियों के

बिमल ग्यानजल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई ॥
(पृ० ५००)

कहकर अपना सिद्धांत पुष्ट करते हैं कि भक्ति ज्ञान का हेतु नहीं है किंतु ज्ञान ही भक्ति का हेतु है। जब मनुष्य को ज्ञान हो जाता है तब उसके हृदय में भक्ति अचल होती है। कथा का अध्याहार करते हुए भुशुंडि जी कहते हैं:—

महिमा निगम नेति करि गाई। अतुलित बल प्रताप प्रभुताई ॥
सिव-अज-पूज्य-चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई ॥
अस सुभाव कहुँ सुनौं न देखौं। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं ॥
साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी। कबि कोबिद कृतग्य संन्यासी ॥
जोगी सूर सुतापस ग्यानी। धर्मनिरत पंडित बिग्यानी ॥
तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी ॥
सरन गए मो से अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी ॥

जासु नाम भवभेषज हरन ताप त्रय-सूल।
सो कृपालु मोहि तोहि पर सदा रहहु अनुकूल ॥
(पृ० ५०१)

इतना कहने पर भी मानो गोस्वामी जी को तृप्ति न हुई। फिर भी महादेव जी की कथा के उपसंहार में महादेव जी के श्रीमुख से यह कहलाते हैं:—

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई ॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना ॥
भूतदया द्विज-गुरु सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई ॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरिभगति भवानी ॥
(पृ० ५०२)

इतने से भी विदित हो जाता है कि "श्री गोस्वामीजी श्रीशंकराचार्य के अद्वैतवाद के ही अनुगामी हैं" कहना वास्तव में सत्य नहीं है। गोस्वामी जी के लेखों से यह तो स्पष्ट ही है कि वह शांकर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अद्वैत के भेदों और द्वैत मतों से पूरा परिचय रखते थे। परंतु मेरे ऐसे छोटी बुद्धिवाले के लिये यह सिद्ध

करने का साहस करना बहुत कठिन है कि गोस्वामी जी किस मत के अनुयायी थे। कदाचित् इतना कहने में कुछ अनुचित भी न होगा कि गोस्वामी जी ने किसी एक मत के अनुयायी हो अपने ज्ञान और कर्म को संकीर्ण करना उचित नहीं समझा था। उनके मत में परमेश्वर अनंत और उसकी कथा भी अनंत है। उनके मत में स्वयं भगवान् महादेव भी परमेश्वर की सब कथा जानने और कहने में असमर्थ हैं, फिर वह मनुष्यों को क्यों समर्थ मानने लगे थे। उनके मत में परमेश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणनिधान और निर्गुण भी है, अनिर्देश्य और आदेश्य, अव्यक्त और व्यक्त, सर्वव्याप्त और एकदेशीय, अचिंत्य और चिंत्य सभी कुछ है; उसके गुण, प्रभाव, कृपा इत्यादि सब अलौकिक हैं। उनके मत में उसकी माया जानने में वेद और देवता भी अशक्त हैं, तब पुराणों, ग्रंथों और मनुष्यों की गिनती ही क्या है। वह यदि स्वयं कृपा करे—और गोस्वामी जी के मत अनुसार परमेश्वर परम दयालु, परम कृपालु है—तभी मनुष्य को उसका थोड़ा बहुत ज्ञान हो सकता है। उसके कृपापात्र होने के लिये एक मात्र मार्ग है—उसकी अनन्य भक्ति। इसी लिये

सोइ सर्वज्ञ सोई गुनग्याता। सोइ महिमंडित पंडित दाता॥
धर्म परायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जा कर मन राता॥

(पृ० ५०२)

× × × ×

मो सम दीन न दीनहित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघु-बंस-मनि हरहु विषम-भव-भीर॥
कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(पृ० ५०४)

हरिः ॐ तत्सत्।

(१४) रामावत संप्रदाय

[लेखक—बाबू श्यामसुंदर दास, काशी]

हिंदी साहित्य का इतिहास तीन मुख्य कालों में विभक्त किया जा सकता है—प्रारंभ काल, मध्य काल और उत्तर काल। प्रारंभ काल का आरंभ विक्रम संवत् ८०० के लगभग होता है, जब इस देश पर मुसलमानों के आक्रमण आरंभ हो गए थे पर वे स्थायी रूप से यहाँ बसे नहीं थे। यह युग घोर संघर्षण और संग्राम का था और इसमें वीर-गाथाओं ही की प्रधानता रही। शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के समय में मुसलमानों के पैर इस देश में जमने लगे और उनका शासन नियमित रूप से आरंभ हो गया। चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में मुसलमानी शासन ने दृढ़ता प्राप्त की। इसी के साथ हिंदी साहित्य के इतिहास का मध्य काल आरंभ होता है जो संवत् १४०० से १७०० तक रहा। यह तीन सौ वर्षों का समय मुसलमानों के पूर्ण अभ्युदय का था। इन तीन शताब्दियों में वे अपने वैभव और शक्ति के शिखर पर चढ़ गए। परंतु मुसलमानी राज्य की नींव धर्मांधता पर स्थित थी। उसका मुख्य उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार और प्रसार करना था। इस कारण इस राज्य-काल में अन्य धर्मवालों पर घोर अत्याचार और अन्याय होते थे। धर्मांधता के कारण मुसलमान समझते थे कि हमारी एकता, शक्ति और संपत्ति का स्थायित्व हमारे धर्म पर ही निर्भर है। अतएव जितना ही हम उसका अनुकरण और प्रसारन करेंगे, उतनी ही हमारी उन्नति होगी। उनकी समझ में यह नहीं आता था कि घात से ही प्रतिघात भी होता है। छोटे से छोटे जीव भी दबाने से, अधिक दबाने से, सीमा से अधिक दबाने से अपनी रक्षा के लिये और अपने पीड़क पर अपना क्रोध प्रद-

शित करने तथा उन्हें दंड देने के लिये सिर उठाते हैं। हिंदुओं के लिये यह समय बड़ी विपत्ति का था। वे निरालंब, निराधार और निराश्रय हो रहे थे; उन्हें चारों ओर निराशा और अंधकार देख पड़ता था; कहीं से भी आशा और अवलंब की झलक नहीं देख पड़ती थी। ऐसे समय में भक्ति मार्ग के प्रतिपादक महात्माओं ने हिंदू भारतवर्ष की रक्षा की, उसे सहारा दिया और उसमें आशा का संचार कर उसे बचा लिया। इनमें से कुछ महात्माओं ने हिंदुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने, उन्हें एक सूत्र में बाँधकर उनमें भ्रातृत्व स्थापित करने का उद्योग किया, पर इसमें उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हुई। विजेता होने के कारण मुसलमान अहंमन्यता से मदांध हो रहे थे। हिंदुओं के लिये किसी ऐसे ईश्वर की आवश्यकता थी जो दुष्टों का दमन करनेवाला, सुजनों की रक्षा करनेवाला, लोक-मर्यादा का स्थापित करनेवाला तथा मनुष्यों के लिये अनुकरणीय आदर्श चरित्रों का भांडार हो और जिसके चरित्र उसके गुणों के प्रत्यक्ष प्रदर्शक हों। पीछे के महात्माओं ने इस भाव की पूर्ति की और उनके धार्मिक विचारों तथा आदेशों ने हिंदुओं के हृदयों पर स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया जो अब तक ज्यों का त्यों बना हुआ है। अतएव मध्य काल के हिंदी साहित्य का इतिहास विशेष कर भक्ति मार्ग के प्रतिपादक महात्माओं की कृतियों का इतिहास है। एकेश्वरवादी, रामभक्त और कृष्णभक्त इन तीन संप्रदायों ने भारतवर्ष की रक्षा ही नहीं की वरन् उत्तर भारत के साधारण जीवन के प्रतिबिंब स्वरूप उसके साहित्य का अभ्युदय भी किया। इस काल में अलंकारी कवियों का भी अभ्युदय हुआ। कल्पित कथाओं से हिंदी साहित्य शरीर की श्रीवृद्धि तथा पुष्टि करनेवाले मुसलमान कवि भी इसी समय में हुए, परंतु यह विदेशीय पौधा भारतवर्ष की प्रतिकूल आब-वायु में परिपोषित और पल्लवित न हो सका। यह इसी काल में लगा और इसी में मुरझा भी गया। जहाँ इस काल में मुसलमानी राज्य

का अभ्युदय हुआ, वहीं साथ ही साथ उसकी जड़ में घुन भी लग गया और अंत में उत्तर काल में उसका समूल नाश भी हो गया, वहाँ हिंदी साहित्य भी उन्नति के शिखर पर पहुँचकर अलंकार के माया जाल में ऐसा फँसा कि वह अपना सच्चा स्वरूप ही भूलकर अपनी आत्मा का तिरस्कार कर बाहरी ठाठ बाट और शारीरिक सजावट बनावट में औरंगज़ेब के समय के मुसलमानी राज्य की भाँति लग गया। सच्ची कविता अपने उच्च आसन से नीचे गिर पड़ी और अंत में उत्तर काल में एक प्रकार से विलीन हो गई। उत्तर काल में ब्रिटिश शासन की जड़ जमी, मुसलमानी अत्याचारों से साँस लेने का समय मिला, पूर्व और पश्चिम का सम्मेलन हुआ, आध्यात्मिकता और भौतिकता में घोर संग्राम आरंभ हुआ। इन सब बातों का यह परिणाम हुआ कि भाव विचारादि में परिवर्तन होने लगा। कविता-युग की समाप्ति होकर गद्य-युग का आरंभ हुआ। इस काल में साहित्य-सरिता नए वेग और नए जल से पूरित हो बहने लगी।

आज हम मध्य काल के हिंदी साहित्य का एक अंक उपस्थित करते हैं। इन तीन सौ वर्षों में जिस साहित्य-नाटक का अभिनय हुआ है, उसके और और अंकों को भी यथा समय उपस्थित करने का विचार है।

मध्य काल में हिंदी साहित्य-सरिता कई धाराओं में प्रवाहित हुई। उसकी पहली धारा रामावत संप्रदाय की चर्चा को आरंभ करने के पहले उसकी परिस्थिति और पूर्वपीठिका का भी कुछ परिचय दे देना आवश्यक है। यद्यपि इस संप्रदाय का वास्तविक आरंभ कबीरदास जी से होता है, परंतु घटना शृंखला का सूत्रपात रामानुज जी से ही होता है। अतएव हम इस प्रकरण को उन्हीं से आरंभ करते हैं।

(१) रामानुजाचार्य

परंपरागत कथनों के अनुसार स्वामी रामानुजाचार्य का जन्म

शक संवत् ६३६ (वि० सं० १०७३) में हुआ था। इनकी पूर्वावस्था कांजीवरम् में बीती, जहाँ ये स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद के समर्थक यादवप्रकाश के शिष्य हुए। परंतु उन दिनों तामिल देश में वैष्णव धर्म का बहुत प्रचार हो रहा था। इसका प्रभाव रामानुज जी पर भी पड़ा। इस कारण वे अपने गुरु यादवप्रकाश को छोड़ यामुनमुनि के अनुयायी बने। यथा समय वे इन्हीं यामुनमुनि की गद्दी के उत्तराधिकारी हुए और त्रिचनापली के पास श्रीरंगम् में रहने लगे। इस समय चोलवंशीय राजाओं का प्रतापादित्य प्रखर प्रकाश से प्रकाशमान हो रहा था। इस वंश के राजा स्वामी शंकराचार्य के अद्वैत मत के अनुयायी थे। इस वंश के एक प्रसिद्ध राजा अधिराजेंद्र से, जिसकी हत्या वि० सं० ११३१ में हुई थी, रामानुज जी की धार्मिक विचारों में विभेद के कारण अनबन हो गई। इसके उत्तराधिकारी राजेंद्र कुलोत्तुंग से भी रामानुज जी की न बनी। अतएव वे वि० सं० ११५३ में श्रीरंगम् छोड़कर होयसल वंशीय राजाओं के राज्य (आधुनिक मैसूर) में जा बसे। इस होयसल वंश का एक प्रतापी राजा विट्टिदेव या विट्टिगदेव था जो इतिहास में विष्णु वर्धन नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इसकी मृत्यु वि० सं० ११६८ में हुई। इसने ३० वर्ष से अधिक राज्य किया था। यह विष्णुवर्धन पहले जैनमतावलंबी था। जब रामानुज जी इसके राज्य में रहने लगे, तब उनका प्रभाव इस पर पड़ने लगा और समय पाकर यह इनका अनुयायी हो गया। इसी समय इसने अपना नाम विट्टिग-देव से बदल कर विष्णुवर्धन रख लिया। इसके समय में अनेक अच्छे अच्छे मंदिर बने और वैष्णव धर्म की बहुत कुछ श्रीवृद्धि हुई। इसी के राज्य में रहकर वि० सं० ११९४ में १२१ वर्ष की अवस्था में रामानुज जी का स्वर्गवास हुआ। प्रपन्नामृत ग्रंथ के अनुसार रामानुज जी ने वि० सं० ११५४ में यादवाचल पर नारायण की मूर्ति स्थापित की थी। इनके बनाए हुए बहुत से ग्रंथ बतलाए जाते हैं जिनमें मुख्य वेदांतदीप, वेदांतसार, वेदार्थसंग्रह

तथा ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य हैं। ये सब ग्रंथ संस्कृत में हैं।

रामानुज जी के दार्शनिक सिद्धांतों के आधार उपनिषद् हैं। रामानुज जी के अनुसार अंतर्यामी ब्रह्म समस्त सृष्टि का कर्ता है। वही भोक्ता, भोग्य और प्रवर्तक है। वह ब्रह्म सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और करुणामय है। समस्त संसार ब्रह्ममय है, उससे बाहर कुछ भी नहीं है। परंतु इस अद्वैतवाद में, इस एकत्व में अनेकत्व की मात्रा वर्तमान है। इस संसार की जीवात्माएँ भिन्न भिन्न श्रेणी तथा चेतन की हैं; तथा संसार में अचेतन पदार्थ भी विद्यमान हैं जिनका ब्रह्म से वैसा ही संबंध है जैसा शरीर का आत्मा से है। अतएव आत्माएँ तथा समस्त भौतिक पदार्थ उसी के अंतर्गत हैं, उससे अलग उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसी लिये न उनका आदि है और न अंत। कल्पांत में जब प्रलय होता है, तब भौतिक पदार्थ सूक्ष्म रूप में वर्तमान रहते हैं। उस समय उनमें वे गुण नहीं रहते जिनके कारण हमें उनका अनुभव हो सकता है। उस समय आत्माएँ शरीर से भिन्न हो जाती हैं और यद्यपि उनमें ज्ञान की शक्ति अंतर्हित रहती है, पर वे उसे प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होती हैं। इस अवस्था से पुनः ब्रह्म की इच्छा से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, सूक्ष्म पदार्थ स्थूल रूप धारण करते हैं और आत्माएँ अपनी ज्ञानशक्ति को प्रत्यक्ष करने लगती हैं तथा अपने अपने कर्म के अनुसार शरीर धारण करती हैं। प्रलय की अवस्था में ब्रह्म कारण-अवस्था में था, अब सृष्टि के पुनः उत्पन्न होने पर वह कार्य-अवस्था में हो गया।

यही रामानुज जी के मुख्य दार्शनिक सिद्धांत हैं जिनके आधार पर उन्होंने अपने वैष्णव मत का मंदिर खड़ा किया। उनका कहना है कि ब्रह्म पाँच मुख्य रूपों में आविर्भूत होता है। पहला रूप "पर" है जिसमें वह वैकुंठ में शेषनाग पर विराजता है और लक्ष्मी, भू तथा लीला से घिरा हुआ और शंख चक्रादि धारण किए हुए

है। प्रपत्ति मार्ग के मुख्य अंग शरणागत होने का भाव, अविरोध, प्राण में विश्वास, ब्रह्म की दया पर भरोसा आदि हैं। भक्ति मार्ग अथवा प्रपत्ति मार्ग से ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। जब एक मार्ग से यह न हो सके, तब दूसरे मार्ग का अवलंबन करना चाहिए।

इन दो सिद्धांतों के कारण रामानुज जी के अनुयायियों में बड़ा मतभेद हुआ। कुछ लोगों का कहना था कि प्रपत्ति मार्ग से ईश्वर की प्राप्ति अवश्य हो सकती है, पर इसका अवलंबन तभी करना चाहिए जब जीव भक्ति-मार्ग का आश्रय लेने में असमर्थ हो। दूसरा दल कहता था कि ईश्वर-प्राप्ति का एक मात्र उपाय प्रपत्ति मार्ग है। भक्ति मार्ग में भक्त के कार्यशील होने की आवश्यकता मानी गई है और प्रपत्ति मार्ग में वह ईश्वर के शरणागत होकर अपने को उसकी इच्छा और दया पर छोड़ देता है। उदाहरण के लिये यह बताया गया है कि बंदर का बच्चा अपनी माता के शरीर से चिपटा रहता है और वह जहाँ चाहती है, उसे ले जाती है तथा उसकी रक्षा करती है। परंतु फिर भी बच्चे को अपनी माँ से चिपटा रहना पड़ता है। यही अवस्था भक्ति मार्ग के अनुयायियों की है। वे ईश्वर के शरणागत रहते हैं, परंतु स्वयं उनको भी मर्कट-वत् उद्योगशील रहना पड़ता है। प्रपत्ति मार्ग के अनुयायी बिल्ली के बच्चे की भाँति होते हैं। उनकी माँ उन्हें मुँह में दबाकर जहाँ चाहती है, ले जाती है। इस पथ के पथिकों की अवस्था मार्जारवत् होती है। वे अपने को ईश्वर की अनुकंपा पर छोड़ देते हैं और उसी पर अवलंबित रहते हैं। अतएव यह सिद्धांत निकला कि भक्ति मार्ग जटिल और प्रपत्ति मार्ग सरल है।

इस विभेद के कारण इस संप्रदाय के लोगों में और भी अनेक भेद उत्पन्न हो गए। भक्ति मार्ग के अनुयायियों का आग्रह था कि परम मंत्र के अधिकारी केवल ब्राह्मण हैं, दूसरे वर्णवालों को 'ओं' रहित मंत्र का ही उपदेश दिया जा सकता है। प्रपत्ति मार्ग के अनुयायी इस सिद्धांत के विरुद्ध थे। वे सब से सम व्यवहार

करना चाहते थे। ऐसा जान पड़ता है कि स्वयं रामानुज जी भक्ति मार्ग के अनुयायियों के पक्ष में थे। इसी लिये ब्राह्मणेतर वर्णवालों के लिये उन्हें एक तीसरे मार्ग का आश्रय लेना पड़ा था। इसका नाम उन्होंने "आचार्याभिमान योग" रखा था। इसका अनुयायी अपने आचार्य पर मुक्ति के लिये निर्भर रहता था और आचार्य उसके लिये सब कृत्यों का प्रतिपालन स्वयं करता था। इससे स्पष्ट है कि रामानुज जी के समय में ही इस संप्रदाय में जाति-पाँति के बंधन लगने लग गए थे और धर्म का प्रचार संस्कृत द्वारा हो अथवा देशभाषाओं द्वारा, इस संबंध में भी मतभेद हो चला था। इससे एक बात और प्रकट होती है। वह यह कि दक्षिण भारत में ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर जातियों का झगड़ा कई शताब्दी पुराना है। रामानुज जी इन झगड़ों को शांत कर हिंदुओं को भक्ति के सूत्र में बाँधकर एकता स्थापित करने में समर्थ नहीं हुए थे, वरन् उनके कारण विभेद की मात्रा अधिक हो गई थी। यह उनके अनुयायियों के भाग्य में था कि वे इन बंधनों से उत्तरीय भारतवर्ष के हिंदुओं को मुक्त कर उन्हें एकता के सूत्र में बाँध सके थे। कदाचित् वे घटनाएँ, विशेषतः राजनैतिक घटनाएँ, उनके अनुयायियों के समय में हुई थीं। उस समय वे उनका अनुमान करने में भी असमर्थ थे; अथवा उत्तर भारत की अवस्था तथा मुसलमानों के बढ़ते हुए अत्याचारों से भी परिचित न थे।

भक्तों के लिये रामानुज जी ने ये नियम बनाए थे कि वे शरीर पर शंख-चक्र की छाप तथा मस्तक पर तिलक धारण करें, महामंत्र का जप करें, भक्तों की सेवा करें, एकादशी का व्रत रखें, चरणामृत-ग्रहण करें, देवमूर्ति पर तुलसी चढ़ावें और केवल भोग लगाकर ही भोजन ग्रहण करें। कुछ लोगों का कहना है कि इन बातों को इन लोगों ने क्रिस्तानों से सीखा था। परंतु इसका कोई स्पष्ट और दृढ़ प्रमाण नहीं मिलता कि ये बातें यहाँ पहले से वर्तमान न थीं और दक्षिण भारत में प्रचलित क्रिस्तान धर्म के संसर्ग से ही वैष्णव

धर्म में उनका आयोजन हुआ था। केवल समानता ही इस बात का एक मात्र प्रमाण नहीं हो सकता कि एक मत में अनेक बातों का प्रचार दूसरे मत के आधार पर ही हुआ है। जो कुछ हो, इस विवाद में कुछ विशेष महत्व नहीं है। यहाँ अब केवल इतना और जान लेना आवश्यक है कि रामानुज जी ने अपने संप्रदाय में न कृष्णपूजा और न रामपूजा का कोई आयोजन आरंभ किया था। उनके आराध्य देव केवल नारायण थे। रामपूजा का आरंभ आगे चलकर उनकी शिष्य-परंपरा ने आरंभ किया था।

रामानुज जी के शिष्य देवाचार्य, उनके हरियानंद, उनके राघवानंद और राघवानंद के रामानंद हुए। इस शिष्य परंपरा में रामानंद ही परम प्रसिद्ध हुए। राघवानंद जी रामानुज जी के मत के पूर्ण रूप से प्रतिपादक थे। समस्त भारतवर्ष की यात्रा करके वे काशी में आ बसे थे और यहीं उन्होंने रामानंद को अपना शिष्य बनाया था।

(२) रामानंद जी

रामानुज जी के स्वर्गवासी होने के १६२ वर्ष पीछे वि० सं० १३५६ में रामानंद जी का जन्म प्रयाग में हुआ था। इनके पिता पुण्यसदन (या भूरिकर्मा या देवल) कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और इनकी माता का नाम सुशीला था। रामानंद जी का पहला नाम रामदत्त था। कहते हैं कि इनकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी और बारह वर्ष की अवस्था में ही ये सब शास्त्रों को पढ़कर पूर्ण पंडित हो गए थे। प्रयाग में अपनी शिक्षा समाप्त कर दर्शन शास्त्र का विशेष अध्ययन करने के लिये वे काशी चले आए थे। यहाँ वे एक स्मार्त अध्यापक से, जो स्वामी शंकराचार्य जी के अद्वैत मत का अनुयायी था, पढ़ने लगे। एक दिन अकस्मात् इनकी राघवानंद जी से भेंट हो गई। राघवानंद ने इन्हें देखते ही इस बात पर दुःख प्रकट किया कि रामानंद को अब इस पृथ्वी पर थोड़े ही दिन और रहना है और वह अभी तक हरि की शरण में नहीं आया है। रामानंद ने जाकर अपने गुरु से यह बात कही। गुरु ने कहा कि यह भविष्यद्वाणी

सकी है और मैं कोई ऐसा उपाय नहीं बता सकता जिससे तुम्हारी अल्पायु दूर हो और यह भारी संकट टल जाय। तुम राघवानंद की ही शरण में जाओ, कदाचित् वे तुम्हारी रक्षा कर सकें। रामानंद ने इस उपदेश के अनुसार राघवानंद से मंत्र ग्रहण किया। उसी समय इनका नाम रामदत्त से बदलकर रामानंद रखा गया। राघवानंद ने इन्हें योगाभ्यास करना और समाधिस्थ होना सिखाया। जब मृत्यु का समय आया तब रामानंद समाधिस्थ हो गए। उस घड़ी के टल जाने पर वे उठ बैठे। तब से उनकी श्रद्धा राघवानंद पर बहुत बढ़ गई और वे उनकी सेवा शुश्रूषा करने तथा उनसे उपदेश ग्रहण करने में दत्तचित्त हुए। गुरु ने भी प्रसन्न होकर उन्हें दीर्घजीवी होने का आशीर्वाद दिया। बहुत दिनों तक गुरु की सेवा कर रामानंद यात्रा करने के निमित्त बाहर निकले। इसके अनंतर वे पुनः काशी लौट आए और पंचगंगा घाट पर रहने लगे जहाँ उनकी पादुका अब तक दिखाई जाती है।

रामानुज नारायण के उपासक थे और उनकी धर्मव्यवस्था में वर्ण-धर्म का स्थान पूर्ववत् ही था। रामानंद के दार्शनिक विचार तो रामानुज के अनुसार ही थे, पर आचार-विचार की व्यवस्था में कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया था। यह नहीं कहा जा सकता कि रामानंद ने वर्णाश्रम के बंधनों को बिलकुल तोड़ दिया था, क्योंकि इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि शिष्य बनाने में उन्होंने जाति-पाँति का कोई विचार नहीं किया था। इस संबंध में उनका यही सिद्धांत जान पड़ता है कि—"जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई"। चाहे रामानंद ने स्वयं जाति-पाँति के बंधनों को तोड़ा हो या न तोड़ा हो, पर इसमें संदेह नहीं है कि वे रामानुज के श्री वैष्णव संप्रदाय से खान-पान के अपवाद के कारण ही अलग किए गए थे और इनके शिष्यों ने खान पान और जाति-पाँति के बंधनों को बिलकुल तोड़ डाला था। इन बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि रामानंद इन बंधनों के संबंध में कम से कम दृढ़ नहीं थे। इनके रामावत संप्रदाय में मनुष्य सांसारिक संकटों तथा आवागमन के कष्टों से ईश्वर की भक्ति करके बच सकता है। यह भक्ति राम की उपासना से प्राप्त हो सकती है और इस उपासना के अधिकारी मनुष्य मात्र हैं। जाति-पाँति का भेद उसमें किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित नहीं कर सकता। सारांश यह है कि रामानुज का संप्रदाय बहुत संकुचित था; रामानंद ने उसकी सीमा बढ़ाकर उसे अधिक उदार बनाया; और उनके शिष्यों ने तो उसे पूर्णतया उदार कर दिया।

कहते हैं कि रामानंद ने १११ वर्ष की आयु भोगी। इनका गोलोक वास वि० सं० १४६७ में हुआ। हमें कई कारणों से इस संवत् की सत्यता में संदेह होता है। यदि यह घटना १०-१५ वर्ष पहले हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

रामानंद के जीवन-काल के १०० वर्षों में भारतवर्ष का राजनैतिक आकाश मंडल भयानक तथा प्रलयकारी मेघों से घिरा रहा।

प्रायः वज्रपात होता था और हिंदू प्रजा को असीम कष्ट भोगना पड़ता था। इसमें संदेह नहीं कि बीच बीच में थोड़ी देर के लिये सूर्य देव के सुखद दर्शन हो जाते थे, पर यह अवस्था क्षणस्थायी ही होती थी, आकाश प्रायः मेघाच्छन्न ही रहता था। रामानंद के जन्मकाल में अलाउद्दीन खिलजी (वि० सं० १३५२–१३७३) दिल्ली के राजसिंहासन पर विराजता था। इस अत्याचारी, अन्यायी, स्वार्थी, इंद्रिय-लोलुप और धर्मांध हिंदू-विद्वेषी बादशाह के समय में रणथंभौर के किले पर (वि० सं० १३५७) आक्रमण किया गया था। इस युद्ध में शरणागत धर्म के पालन में वीर-शिरोमणि हम्मीरदेव अपना राजपाट नष्टकर स्वर्ग को सिधारे थे और उनका सारा रनिवास अग्निदेव की शरण में जाकर अपनी मान-मर्यादा की रक्षा कर सका था। अभी रामानंद चार ही वर्ष के थे, जब चित्तौर की पद्मावती रानी के रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर इस दुराग्रही बादशाह ने चित्तौर पर आक्रमण किया था। सती-साध्वी, पतिपरायणा क्षत्राणी रानी ने अपनी जान पर खेलकर अपने पति को कारागार से मुक्त किया था, पर अंत में पति के युद्ध में मारे जाने पर रानी ने जौहर करके अपने सतीत्व की रक्षा की थी। सारे रनिवास के साथ अपने को अग्निदेव को सौंप रानी पद्मावती भारतीय देवियों की कल-कीर्ति को चिरस्थायिनी कर गईं। छः सौ वर्षों के अनंतर इन घटनाओं का वर्णन पढ़कर अब भी भारतीय हृदय विह्वल हो उठता है और शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क्या बालक रामानंद ने कुछ बड़े होने पर इन घटनाओं का वृत्तांत न जाना होगा और उनके कोमल दयार्द्र हृदय पर इनका चिरस्थायी प्रभाव न पड़ा होगा? पर यहीं इन रोमांचकारी हृदय-विदारक घटनाओं का अंत नहीं होता। संवत् १३६७ में रामेश्वर में पहले पहल मसजिद बनवाई गई। इतिहास-लेखकों का कथन है कि अलाउद्दीन के समय में कोई सरदार बादशाह से बिना पूछे अपने बेटे या बेटी का विवाह नहीं कर सकता था। लोगों की जागीरें छीन ली गई थीं। भूमिकर बढ़कर उपज के आधे तक

पहुँच गया था। प्रजा यहाँ तक दीन हीन हो गई थी कि उसे पेट भर अन्न मिलना कठिन हो गया था। हिंदू इतने धनहीन हो गए थे कि चढ़ने को घोड़ा और पहनने को अच्छा कपड़ा तक किसी के पास नहीं रह गया था। हीरे-मोती और सोने-चाँदी की कौन कहे, साधारण धातु के पात्र तक उनके घर में नहीं रहने पाते थे। कुतुबुद्दीन (वि० सं० १३७३–१३७८) के समय में देवगिरि का राजा हरपालदेव पकड़कर दिल्ली लाया गया था और उसकी खाल खिंचवाकर उसमें भूसा भरा गया था! खुसरो ने, जो वास्तव में हिंदू था, अपने स्वामी को मारकर और राजसिंहासन पर बैठकर इन अत्याचारों का बदला लेना चाहा, पर साधारण प्रजा और उच्चवंशीय लोग मृतप्राय हो रहे थे। उनका साहस, उनका धैर्य, उनकी आशा सब नष्ट हो चुकी थी। किसी ने खुसरो का साथ न दिया। मुहम्मद तुगलक (वि० सं० १३८२–१४०८) के समय में मुसलमानी राजधानी दिल्ली से उठाकर दौलताबाद में स्थापित की गई। प्रजा पर घोर अत्याचार और अन्याय किए किए। एक बार दिल्ली से सारी प्रजा दौलताबाद भेजी गई; पर उसके न बसने पर सबको लौटना पड़ा तथा और और प्रांतों से प्रजा को लाकर पुनः दिल्ली बसाने का उद्योग किया गया। ये सब भयानक और रोमांचकारी घटनाएँ रामानंद के बालकाल और युवावस्था की थीं। वृद्धावस्था में तैमूर का आक्रमण हुआ, दिल्ली जलाई गई, कत्ल आम हुआ, खूब लूट पाट मची, स्त्रियाँ, बच्चे और कारीगर पकड़ पकड़कर समरकंद भेजे गए। लौटते समय मेरठ, हरद्वार आदि स्थानों को नष्ट करता हुआ और प्रजा की हत्या करता हुआ तैमूर भारतवर्ष से चला गया। ये सब घटनाएँ किसका हृदय दुःखित नहीं कर सकतीं? तिस पर एक दयामय परोपकारी महात्मा पर इनका कितना प्रभाव पड़ा होगा, यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है। इन कष्टों का निवारण कैसे हो सकता था, इन आपदाओं से रक्षा कैसे हो सकती थी। प्रजा में उत्साह, शक्ति, सामर्थ्य, धन, सबका ह्रास हो गया था।

उनका कोई सहायक नहीं देख पड़ता था, कोई उनको धैर्य दिलाने-वाला तक न था। ऐसे समय में रामानंद जी ने अपने इष्टदेव राम का आश्रय लिया और भारतवासियों को उस भक्तभयहारी, दुर्जन-संहारी, सुजन प्रतिपालक की शरण जाने का उपदेश दिया। यह समय जाति-पाँति पूछने का नहीं था, यह तो 'हरि को भजै सो हरि का होई' का समय था। रामानंद जी ने जाति-पाँति के बंधन ढीले कर दिए और राम नाम के महामंत्र का उपदेश देकर लोगों को ढारस बँधाया। पर समय अनुकूल नहीं था। अतएव उस समय उनके उपदेश का कुछ विशेष प्रभाव न पड़ा। अभी हिंदुओं को और कष्ट सहना था, अभी उनके पूर्वसंचित कर्मों का प्रायश्चित्त पूर्णतया नहीं हो पाया था। पर बीज बो दिया गया। उसके वृक्षकी शाखाएँ काटकर रामानंद जी के शिष्यों ने नए वृक्षों में पैवंद लगाने का उद्योग किया। कुछ काल तक ये नए वृक्ष हरे भरे रहे, पर लोगों ने इनका आश्रय न लिया। रामानंद जी की मृत्यु के कोई १५० वर्ष पीछे उनके शिष्य संप्रदाय में से गो० तुलसीदास ने इस वृक्ष को अपनी सुधामयी वाणी से पुनः पल्लवित, पुष्पित और फलान्वित किया।

रामानंद जी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। उन्होंने जो कुछ लिखा, संस्कृत ही में लिखा। यही कारण है कि उनको पूरी पूरी सफलता न प्राप्त हो सकी। हिंदी में उनके लिखे दो पद मिलते हैं—एक तो सिक्ख गुरुओं के ग्रंथ साहब में दिया है और दूसरा हमें डाक्टर ग्रियर्सन साहब की कृपा से प्राप्त हुआ है। ग्रंथ साहब में जो पद दिया है, वह यह है—

कत जाइये रे घर लागो रंग। मेरा चित न चलै मन भयो पंग॥
एक दिवस मन भई उमंग। घसि चंदन चोआ बहु सुगंध॥
पूजन चाली ब्रह्म ठाँय। सो ब्रह्म बतायो गुरु मंत्रहि माँहि॥
जहँ जाइये तहँ जल पखान। तूँ पूर रह्यो है सब समान॥
बेद पुरान सब देखे जोय। उहाँ तो जाइये जो इहाँ न होय॥

सतगुरु मैं बलिहारी तोर । जिन सकल बिकल भ्रम काटे मोर ॥
रामानंद स्वामी रमत ब्रह्म । गुरु का सबद काटै कोटि करम ॥

इस पद में ईश्वर की व्यापकता का उल्लेख है। दूसरा पद जो डाक्टर ग्रियर्सन साहब से मुझे मिला है, हनुमान जी की आरती का है। वह इस प्रकार है—

आरति कीजै हनुमान लाल की । दुष्ट दलन रघुनाथ कला की ॥
जाके बल गरजे महि काँपे । रोग सोग जाके सिमाँ न चाँपे ॥
अंजनी सुत महाबल दायक । साधु संत पर सदा सहायक ॥
बाँएँ भुजा सब असुर सँघारी । दहिन भुजा सब संत उबारी ॥
लछिमन धरनि में मूर्छि पर्यो । पैठि पताल जमकातर तोर्यो ॥
आनि सजीवन प्रान उबार्यो । मही सबन कै भुजा उपार्यो ॥
गाढ़ परे कपि सुमिरौं तोहीं । होहु दयाल देहु जस मोहीं ॥
लंका कोट समुंदर खाई । जात पवनसुत बार न लाई ॥
लंक प्रजारि असुर सब मार्यो । राजा रामजि के काज सँवार्यो ॥
घंटा ताल झालरी बाजै । जगमग जोति अवधपुर छाजै ॥
जो हनुमानजि की आरति गावै । बसि बैकुंठ परम पद पावै ॥
लंक बिधंस कियो रघुराई । रामानंद (स्वामी) आरती गाई ॥
सुरनर मुनि सब करहीं आरती । जै जै जै हनुमानलाल की ॥

इन दो पदों से दो भिन्न भिन्न प्रकारों का निष्कर्ष निकाला जा सकता है। पहले पद से यह अनुमान किया जा सकता है कि रामानंद जी मूर्तिपूजा के विरोधी थे, परंतु दूसरे पद में हनुमान की वंदना करके उन्होंने इस भाव को निर्मूल कर दिया है। इन दो पदों से रामानंद के सिद्धांतों को खोज निकालना उपयुक्त न होगा। इसका महत्व इतना ही है कि ये पद हिंदी में हैं और जहाँ तक मैं जानता हूँ, पहले पहल प्रकाशित हो रहे हैं। कविता की दृष्टि से भी इन पर विचार करना व्यर्थ है। रामानंद जी कवि नहीं थे। वे रामोपासक भक्त थे।

रामानंद जी के मुख्य बारह शिष्य हुए—अनंतानंद, सुखानंद, सुरसरानंद, नरहरियानंद, पीपा, कबीर, भावानंद, सेना, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी। इनमें से अंतिम दो तो स्त्रियाँ थीं और शेष दस पुरुष थे। पद्मावती के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। सुरसरी सुरसरानन्द की धर्मपत्नी थी। शेष दस में से कबीरदास सब से प्रसिद्ध हुए।

(क्रमशः)

---

(१५) प्रभास पाटन के यादव भीम के सं० १४४२ वाले शिलालेख की समीक्षा

[लेखक—पं० रामकर्ण, जोधपुर]

यह शिलालेख कलकत्ते के "साहित्य" नामक मासिक पत्र में* छपा है। इस लेख के प्रकाशक श्रीयुक्त गोविन्द-नारायण मिश्र हैं। उक्त महाशय ने इस नवीन शिलालेख को प्रकाशित करके इतिहासवेत्ताओं का बड़ा उपकार किया है। आपकी टिप्पणी में कहीं कहीं विचारणीय स्थल हैं।

(१ ला श्लोक)

अव्यक्तं व्यक्ततां यातमलक्ष्यं लक्षतां गतम्।.
सोमेशलिंगं छलतः स्पष्टब्रह्म पुनातु वः॥

टिप्पणी में तृतीय चरण का अर्थ यह लिखा गया है—"सोमेश लिंग के मिस से।" यदि ऐसा अर्थ अभीष्ट है तो मूल के पाठ को "सोमेशलिंगच्छलतः" ऐसा दिखाना चाहिए था। "सोमशलिंगं छलतः" ऐसा पाठ रखकर जो अर्थ लिखा गया है, वह असंगत है। दूसरे "स्पष्ट" शब्द का अर्थ छोड़ दिया गया है।

(२ रा श्लोक)

या भारती शब्दमयी चतुर्विधा
ततोऽधिका भाति जड़ा जलात्मिका।
क्षेत्रे प्रभासे शिवमाप्य सास्थिता
पञ्चप्रवाहा जगतोऽस्तु शान्तये॥

इस पद्य के पूर्वार्द्ध का यह अर्थ लिखा गया है—"जो भारती शब्दमयी होकर केवल चार प्रकार की है, और जड़ जल रूप हो-

---

* साहित्य, खंड १, भाग १, पृ० १७९—८१ [सं०]

कर उससे भी अधिक रूपों में विराजती है"। इस अर्थ में 'केवल' शब्द अधिक लिखा गया है जिसका मूल के साथ कुछ भी संबंध नहीं है, प्रत्युत् मूल के अर्थ में यह बाधाकर है। और "जल जड़ रूप होकर" इस वाक्य से जड़ जल का विशेषण प्रतीत होता है। मूल में 'जड़' ऐसा पाठ है जो 'भारती' का विशेषण है। मूल का भावार्थ ऐसा जान पड़ता है कि—"जो भारती (सरस्वती) शब्दमयी अर्थात् वेद रूप से चार प्रकार की है, (वेद चार हैं), और उससे अधिक पाँचवाँ स्वरूप उस का जड़ (अचेतन) जो जलमय (अर्थात् सरस्वती नदी रूप) है, वही प्रभास क्षेत्र में शिव को प्राप्त होकर पाँच प्रवाह के रूप में स्थित है।" प्रभास क्षेत्र में जो सरस्वती नदी बहती है, वह जल रूप है ही।

(३ रा श्लोक)

शीर्यं विभृत्य वड़वानलकालगोलं
वाग्देवता कथयतीव हि दिक्षु पूर्वम्।
कस्माद्विवादमयियन्ति च दर्शनानि
सत्यं शिवात्परतरं न हि किंचिदस्ति॥

कहती है कि छहों दर्शन (शास्त्र) क्यों विवाद करते हैं, शिव से पर-तर कोई तत्त्व नहीं।

(४ था श्लोक)

तत्पत्तनं यस्य मुखे सरस्वती
गर्भे धृता येन हरिर्हराद्याः।
सामान्यजन्तोरपि मुक्तिदं यत्
केनोपमेयं नगरेण तस्मात् ॥

द्वितीय चरण में 'हरिर्हराद्याः' की जगह 'हरिहराद्याः' पाठ होना चाहिए; परंतु उसमें छंदोभंग बाधक है।

(५ वाँ श्लोक)

भीतोऽहमेकेन हि वाडवेन
दृष्ट्वा पुरे वाडवमुख्यलक्षम्।
स्तुतिर्व (तिं ध?) दत्यर्णव एव घोषः
करोर्मिभिः सच्चरणौ नमस्यन् ॥

टिप्पणी में 'दृष्ट्वा पुरे वाडवमुख्यलक्षं' का अर्थ ऐसा किया है—"जिसने वड़वानल को अपने मुख्य तीसरे नेत्र में धारण किया है।" इस अर्थ में महादेव विशेष्य जाने जाते हैं; परंतु उक्त चरण का अर्थ उससे अन्य प्रतीत होता है। यथा—"मैं एक ही वाडवानल से डर गया हूँ; तो इस पुर में लाख वाडव (अर्थात् ब्राह्मण) मुख्य हैं। उनको देखकर मेरी क्या दशा होगी।" इस विचार से यह समुद्र अपनी रक्षा के लिये तरंग रूपी हाथों से तेरे चरणों को नमस्कार करता हुआ घोष रूपी स्तुति करता है।

'घोषः' के स्थान में 'घोषं' पाठ हो तो उत्तम है। उसका अर्थ यह होगा—"घोष रूप स्तुति करता है"। यहाँ उद्देश्य विधेयभाव है। "घोषमुद्दिश्य स्तुतित्वं विधीयते इति।" "सच्चरणौ" के स्थान में "त्वच्चरणौ" पाठ हो तो उत्तम है।

(६ठा श्लोक)

अहो प्रसिद्धः किल यादवानां
वंशावतंसो हि वसुंधरायाः।
यत्राभवत् (द्) भीमनृपोरिभीमः
श्रीभीमचित्तो न जनेषु भीमः ॥

इस पद्य का अर्थ यह लिखा गया है—"अहो ! जहाँ यादव वंश का भूषण, वसुंधरा के भयानक शत्रु राजाओं को भी भय देनेवाला श्रीभीम हुआ है, जो प्रजा के लिये भय या त्रास न देकर उनके प्रति दयालु है।" दूसरे चरण में "वंशावतंसो" के स्थान में "वंशोऽवतंसो" ऐसा सुधारना चाहिए, जिसका अर्थ यह होगा कि पृथ्वी का भूषण यादवों का वंश प्रसिद्ध है, जिसमें शत्रुओं के लिये भयंकर भीम राजा हुआ। उसका नाम तो भीम है, परंतु लोगों के लिये उसका चित्त भयानक नहीं है।

(७वाँ श्लोक)

एवं गुणं तं पतिमाप्य रम्यं
माणिक्यदेवी सुतरां चकासे।
तयोश्च योगाद्यमुना प्रवृत्ता
किं स्यादथेयं नवमी च सिद्धिः ॥

इस पद्य के अर्थ में 'रम्यं' पद छोड़ दिया गया है और 'माणिक्यदेवी' शब्द के आगे 'भी' पद लिखा गया है। मूल में 'भी' का वाचक कोई पद नहीं है।

नाम्ना भवेद्या यमुना न निम्नगा
राज्ञी भवेद्यो यमगर्भधारिणी।
निमी (मां ?) ह्य वेद्यां न रुचिः स्वयंवरे
मद्रालसा या न भवेन्मदालसा ॥

तीसरे चरण में 'निमीह' का 'निर्मांह' किया गया है, परंतु 'निमंह' रखना चाहिए। यह 'मस्ज्' धातु का रूप है; इसमें वृद्धि नहीं हो सकती।

शीलेन गङ्गा भवतीति शुद्धा
या नामधेयाद्यमुना प्रसिद्धा।
सरस्वती तद्वदगाध याति
प्रयाग एषोऽभिनवो विभति॥

इस पद्य के आरंभ में टिप्पणी में "यह शील से तो गंगा और नाम से यमुना प्रसिद्ध है" ऐसा लिखा गया है। इस अर्थ में 'शुद्धा' पद छोड़ दिया गया है, और 'शुद्धा' पद से यह विशेष अभिप्राय प्रकट होता है कि जैसे गंगा 'शुद्धा' अर्थात् शुक्ल वर्ण और पवित्र है, वैसे ही उक्त रानी भी शील से शुद्ध है।

(१०वाँ श्लोक)

वंशो (शौ) प्रसिद्धो (द्धौ) हि यथा रवीन्द्रो (:)
राष्ट्रोऽडवंशस्तु तथा तृतीयः।
यत्राभवद्धर्मनृपोऽतिधर्म-
स्तस्माच्छिवं मा (सा ?) यमुना जगाम॥

(११वाँ श्लोक)

दत्तानि दानानि मयाखिलानि
तपांसि तप्तान्यतिनिर्मलानि।
कृतानि पुण्यान्यतिनिश्चलानि
प्राप्तानि सर्वाणि जनैः फलानि॥

चतुर्थ चरण में 'जनैः' छपा है, उसे 'जनेः' करना चाहिए। 'जनेः' अर्थात् जन्म के सब फल पाए।

(१२वाँ श्लोक)

या कारयामास नवापि वापिका
सरस्त्रिदेवायतनप्रपाश्च।
तथा प्रतोलीमुखमण्डनोपमं
निर्मापितं चत्वरमत्र सुन्दरम्॥

'प्रतोलीमुखमण्डनोपमं' का अर्थ यह लिखा गया है—"राज मार्ग के मुख का भूषण स्वरूप", परंतु यहाँ प्रतोली का अर्थ राज-

मार्ग नहीं है, किंतु मेहरावदार बड़ा दरवाजा है। चत्वर (चौक) दरवाजे के मुख पर ही होता है। 'नवापि वापिका' का अर्थ लिखा गया है "नई बावड़ी"। यदि प्रशस्तिकार को नई बावड़ी का अर्थ अभीष्ट होता तो वह 'वापिका' शब्द के साथ द्वितीया विभक्ति लगाता; क्योंकि 'वापिका' पद यहाँ अनुक्त कर्म है, जिससे 'वापिकाः' ऐसा द्वितीया का बहुवचन पाया जाता है; और 'नव' पद का अर्थ संख्यावाचक होने से नौ बावड़ियाँ बनवाई हों, ऐसा जाना जाता है।*

टिप्पणी में 'संवत् १४४५ ज्येष्ठ सुदी १३ के दिन' ऐसा लिखा गया है और मूल में संवत् १४ ज्येष्ठ (ज्येष्ठ) छपा है। कदाचित् मूल में १४ के आगे ४५ हो, छपने में अशुद्धि हुई हो। नहीं तो टिप्पणी में १४ के आगे ४५ कहाँ से आया?

* मूल लेख का आशय एक बावड़ी बनाने का है, नौ का नहीं। (सं०)

फिर इसके आगे टिप्पणी में 'इस तीसरे भीम चित्तवर भीम के वंश में हुई थी' ऐसा लिखा गया है। इस लेख से 'भीमचित्तवर' भीम का विशेषण प्रतीत होता है। यह किस आधार से लिखा गया है? मूल में चित्तवर का बोधक कोई शब्द नहीं मिलता।

टिप्पणी के अंत में लिखा गया है कि "राष्ट्रोड़ वंश कोई तीसरा ही वंश सिद्ध होता है" जो मूल के अनुसार लिखा गया है। परंतु राष्ट्रोड़ वंश को सूर्य चंद्र वंश से भिन्न तीसरा वंश बतलाना प्रशस्तिकार की भूल है। राष्ट्रोड़ वंश सूर्य चंद्र वंश से पृथक् नहीं है। राष्ट्रोड़ वंश सूर्य वंश* के अंतर्गत है।

* राठौड़ों (राष्ट्रकूटों, राष्ट्रोड़ों) की उत्पत्ति के विषय में भिन्न भिन्न कल्पनाएँ मिलती हैं। दक्षिण के कलचुरि (हैहय) वंशी राजा विज्जल के वर्तमान शक संवत् १०८४ (वि० सं० १२१८) के मनगोलि गाँव के शिलालेख में राठौड़ों को दैत्यवंशी लिखा है (एपि० इं० जि० ५, पृ० १०)। राठौड़ों के भाट इनके मूल-पुरुष को रावण (असुर) हिरण्यकश्यपु की संतान कहते हैं (राजस्थान रत्नाकर, तरंग १, पृ० ८८)। कर्नल टॉड ने इन्द्र की रीढ़ (रीढ़ की हड्डी) से इनके मूल पुरुष का उत्पन्न होना लिखा है (टॉड राजस्थान, कलकत्ते का छपा, जि० १० पृ० ४)। अनुमान होता है कि प्रथम पाठक के उक्त लेख के रचयिता ने ऐसे ही

इतिहास

यह शिलालेख यादववंशी भीम का है । इस शिलालेख से

प्रचलित प्रमाणों को आधार रखकर राष्ट्रोड़ (राठौड़) वंश को सूर्य और चंद्रवंशों से भिन्न तीसरा वंश बतलाया हो । परन्तु ऊपर लिखे हुए प्रमाण विश्वास योग्य नहीं हैं; क्योंकि वे राठौड़ों के प्राचीन शिलालेखादि से नहीं लिए गए और उन के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि प्राचीन काल में राठौड़ अपने को सूर्य-चंद्रवंशों से भिन्न वंश के मानते थे । राठौड़ों का मूल राज्य दक्षिण में था जहाँ से गुजरात, काठियावाड़, राजपूताना, मालवा, मध्यप्रदेश, गया (पीठी) आदि में इनके स्वतंत्र या परतंत्र राज्य स्थापित हुए । कन्नौज के सूर्यवंशी गाहड़वालों (गहरवारों) के प्रतापी राज्य समय राष्ट्रकूटों (राठौड़ों) का एक राज्य या ठिकाना बदायूँ में भी था । दक्षिण के राष्ट्रकूट (राठौड़) राजा अमोघवर्ष (प्रथम) के समय के शक सं० ७८२ (वि० सं० ९१७) के कौनूर के शिलालेख में (एपि० इं० जि० ६, पृ० २९), राठौड़ गोविंदराज (सुवर्णवर्ष) के शक संवत ८५२ (वि० सं० ९८७) के खंभात से मिले हुए दानपत्र में (एपि० इं०, जि० ७, पृष्ठ ३७), उसी राजा के शक सं० ८५५ (वि० सं० ९९०) के साँगली से मिले हुए दानपत्र में (इंडि० ऐंटि०, जि० १२, पृ० २४९), कृष्णराज (तीसरे, अकालवर्ष) के शक सं० ८८० ((वि० सं० १०१५) के करहाड़ के दानपत्र में (एपि० इं०, जि० ४, पृ० २८२) और कर्कराज (दूसरे, अमोघवर्ष) के शक सं० ८९४ (वि० सं० १०२९) के कर्डा के दानपत्र में राठौड़ों का यदुवंशी होना लिखा है । राठौड़ राजा इंद्रराज (तीसरे, नित्यवर्ष) के शक सं० ८३६ (वि० सं० ९७१) के बगुमरा से मिले हुए दो दानपत्रों में (बंब० एशि० सोसा० जर्नल, जि० १८, पृ० २५७; २६१) और कृष्णराज (तीसरे, अकालवर्ष) के शक सं० ८६२ (वि० सं० ९९७) के देवली से मिले हुए दानपत्र में (एपि० इंडि०, जि० ५, पृ० १९२-१९३) राठौड़ों का चंद्रवंश की यदुशाखा के सात्यकि के वंश में होना लिखा है । हलायुध पंडित ने अपनी रची हुई 'कविरहस्य' नाम की पुस्तक में उसके नायक राष्ट्रकूट (राठौड़) राजा कृष्णराज को सोमवंश (चन्द्रवंश) का भूषण कहा है (बंबई गेजेटियर, जि० १, भाग २, पृ० २०८-९)। ये सब प्रमाण, जो राठौड़ों के ही शिलालेखों और दान पत्रादि से उद्धृत किए गए हैं, यही बतलाते हैं कि वि० सं० ९१७ से १०२९ तक तो दक्षिण के राठौड़ अपने को चंद्रवंश की यदु (यादव) शाखा में होना मानते थे । इसी को हम भी प्रमाण रूप मान सकते हैं । वि० सं० १५०० के पूर्व के किसी शिलालेख, दानपत्र अथवा पुस्तक में राष्ट्रकूट, राष्ट्रौड़ या राठौड़ वंश का सूर्यवंश के अन्तर्गत होना लिखा नहीं मिलता [सं०] ।

यादव-वंशी भीम बिलकुल नवीन दृष्टिगोचर हुआ है। इस शिला-लेख से इस का समय संवत् १४४२ (ई. स. १३८५) ज्ञात हुआ है। इससे पहले दो भीम हुए थे, जो शिलालिखों से जाने जाते हैं, परंतु वे इससे पूर्व काल में हुए थे। प्रथम भीम विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में, और दूसरा विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हुआ था; और यह वैक्रमी पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ था। पहले दोनों भीम चौलुक्य-वंश के थे और यह यादववंशी था। वे अणहिलवाड़ा के स्वामी थे, और यह कच्छ प्रांत के लाखड़ा विआरा का स्वामी था। इस के कुछ वंशजों के पश्चात् खंगार ने अपनी राजधानी कच्छ देश के भुज नगर में नियत की थी।

मूहलोत नैणसी की ख्याति नामक पुस्तक में भाटी (भट्टि) वंश का इतिहास लिखते हुए प्रसंगवश सरवहिया और जाड़ेचा आदि यादव वंशों का इतिवृत्त लिखा गया है। उस प्रकरण में नैणसी ने पहले जाड़ेचों की वंशावली लिखी है। उससे पूर्व लिखा है कि श्रीकृष्ण-चंद्र के पुत्र स्याम (साम्ब) के वंशज सामा जाड़ेचा कहलाते हैं, और प्रद्युम्न के वंशज भाटी कहलाते हैं। जाड़ेचों की वंशावली निम्न रीति रूप में लिखी है—

१ गाहरियो २ ओटो (ओढो) ३ दाहर ४ अहर (झाहर) ५ फूल ६ लाखो ७ महर ८ मोकलजी ९ खेतसी १० दलो ११ वड़ो हमीर (हमीर के दो* पुत्र हुए) १२ रायधण और १२ हालो, १३ फूल (दूसरा) १४ अलेदियो १५ जनागर १६ लोदी १७ भीम १८ दलो (दूसरा) १९ साहिब २० राहिब २१ वड़ो भीम २२ वड़ो हमीर २३ अमर २४ भोजराज २५ खीसो २६ ओढो २७ हमीर (दूसरा) २८ खंगार† २९ भारो ३० मेघ ३१ रामधण ३२ तमायची।‡

* यहाँ दो पुत्र लिखे गए हैं, परंतु आगे जो वृत्तांत लिखा गया है, उस से तीसरा पुत्र भीम भी जाना जाता है।

† इसके वंशज भुज नगर के राजा हैं।

‡ नैणसी दिल्ली के बादशाह औरंगजेब के समकालीन मारवाड़ के महाराज

जाड़ेचों की हमीर के पुत्र रायधण और हाला से दो शाखा हुईं। रायधण से रायधण और हाला से हाला-शाखा। रायधण शाखा के जाड़ेचा कच्छ के स्वामी, जिन के अंतर्गत रायधण के भाई भीम का वंश भी है, और हाला शाखा के जाड़ेचा जामनगर के स्वामी हैं।

पहले यहाँ प्रकृत रायधण शाखा का इतिवृत्त लिखा जाता है। नैणसी लिखता है कि रायधणों के हस्तगत कच्छ की भूमि इस तरह हुई। जाड़ेचों से पूर्व कच्छ की भूमि पर घोघा जाति का अधिकार था। लाखड़ी नगर में उनकी राजधानी थी। घोघाकरन वहाँ का राजा था। उसके राज्य में भ्रमण करता हुआ गरीबनाथ नामक योगी आया, जो धूंधलीमल योगी का शिष्य था। गरीबनाथ महा-तपस्वी और सिद्धियों का भंडार था। उसने लाखड़ी में आकर अपना आसन जमाया और उसके आस पास आम के पेड़ लगा दिए। समय पाकर पेड़ बड़े हुए, आश्रम की शोभा अनोखी हो गई। समय पर फल लगे। अब तो गरीबनाथ का आश्रम हर एक का आश्रयदाता हो गया। आते जाते पथिक उसमें विश्राम लेते थे। खाने को फल और पीने को जल मिल जाता है।

लाखड़ी के राजा करन के दो स्त्रियाँ थीं। उनमें से एक से राजा अप्रसन्न रहता था, इस कारण वह दुहागिन कही जाती थी। वह गरीबनाथ की चेली थी। गरीबनाथ की उस पर पूर्ण कृपा थी। उस दुहागिन रानी को योगी बहन कहकर पुकारता था। उसका पुत्र ज्येष्ठ मास में योगी गरीबनाथ के आश्रम में आया। उसे देखकर योगी ने अपने शिष्यों से कहा कि शिष्यो! भानजे को आम दो। एक चेले ने आम के पेड़ पर चढ़कर ५०-६० फल लाकर गुरु के चरणों में रक्खे। गरीबनाथ ने वे दुहागिन के पुत्र

जसवंतसिंह जी का प्रधान मंत्री था। उसने इस पुस्तक में संवत् १७२२-२३ तक का वृत्तांत लिखा है, जिससे माना जाता है कि उस समय वे तमाचची भुजनगर का राजा था।

को दे दिए। वह वे फल लेकर घर पर आया। सुहागिन के पुत्रों ने उन फलों को देखकर, जिनकी सुगंधि से वे लालायित हो गए थे, माता के पास आकर कहा कि भाई जो आम लाया है, वह हमें दिलवा दो। तब मानवती रानी ने राजा से कहा कि योगी गरीबनाथ के आश्रम में आम फले हैं, आप राजकुमारों के लिये मँगवा दें। राजा ने आम लाने के लिये अपने मनुष्य भेजे। उन्होंने जाकर योगी से कहा कि "योगिराज! आप के आश्रम में आम फले हैं। राजकुमार ने उन्हें देख लिया है, वे आम के फल चाहते हैं। इसी लिये राजा ने हमें आप के पास भेजा है। कृपाकर कुछ फल राजा के लिये दीजिए"। योगी ने उनके कथन पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, कि वे राजा के भेजे हुए आए हैं। योगी ने प्रत्युत्तर में कहा कि "हम योगी हैं, हमें राजा से क्या मतलब है? राजा हम से क्यों माँगता है? हम आम किस किस को दें, आम हमारे हैं, राजा को आवश्यकता है तो कहीं से मँगा सकता है"। यह सुन राजा के मनुष्यों ने कहा कि "आम के पेड़ आप ने लगाए हैं। आम आपके हैं,

जगह में गाड़कर शाप दिया कि "जैसे हमारा स्थान उठाया गया है, वैसे तुम्हारा राज्य भी उठ जाय"। लाखड़ी से बारह कोस की दूरी पर धीणोद नाम का गाँव है। वहाँ धूँधलीमल का आश्रम है। उस योगी के विषय में ऐसी प्रसिद्धि है कि धीणोद् के पहाड़ में अब तक उसका निवास है। गरीबनाथ राजा को शाप देकर अपने गुरु धूँधलीमल के पास धीणोद चला गया। दस पन्द्रह दिन हुए होंगे, धूँधलीमल और गरीबनाथ पहाड़ से नीचे उतर रहे थे। वर्षा ऋतु थी। आगे जाते हुए उन्होंने देखा कि जाड़ेचा हमीर और उसका पुत्र भीम दोनों खेत में हल चला रहे हैं। भीम खेत में के पौधों को काटकर खेत साफ कर रहा है। भीम की गरीबनाथ पर दृष्टि पड़ी। उसने गरीबनाथ को पहचानकर अपने मन में कहा कि यह तो वही गरीबनाथ मालूम होता है जिसे मैंने लाखड़ी में देखा था। भीम गरीबनाथ को देखते ही तुरंत दौड़कर उसके निकट आकर चरणों में गिर पड़ा और अत्यंत नम्रता और विनय से प्रार्थना करके गुरु-चेलों को अपने डेरे पर ले आया, जो नीम के एक वृक्ष के तले था। इतने में भीम के घर से भात (भोजन) आया। भीम ने उस भात में से तृप्ति योग्य भात योगिराज के पात्र में परोस दिया और स्वयं उसके पास बैठकर मक्खी उड़ाने लगा। योगिराज धूँधलीमल ने भोजन करते करते अपने पात्र में से एक मुट्ठी भात भीम को देकर कहा कि 'तू यह खा ले'। तब भीम ने मुख से तो स्वीकार कर लिया, परंतु जूठा समझकर खाने में विलम्ब किया। योगी ने दो तीन बार कहा, परंतु उसने नहीं खाया। अपनी माता से दूसरा भात लेकर खाया और गुरु का दिया भात पास ही में रख छोड़ा। गुरु ने समझ लिया कि यह हमारा जूठा खाने से परहेज करता है। गुरु ने उसे उठाकर अपने पात्र में ले लिया और जल में घोलकर पी लिया। तदनन्तर भीम से कहा कि 'यदि तू यह भात खाता तो अजरामर हो जाता। अस्तु, जो होना था सो हुआ। अब हमने तुमको

वहाँ का राज्य दिया। तू अपनी राजधानी तो लाछड़ी में स्थापित कर, और हमारा आसन धीणोद में रहेगा। इस शासन के लिये तू इतना प्रबंध कर दे कि 'दस घोड़ों के पीछे एक घोड़ियाँ, दस भैंसों के पीछे एक भैंस, दस साँड़नियों (ऊँटनियों) के पीछे एक साँड़नी, माल में एक दूकान पीछे दो महम्मदी (एक प्रकार का सिक्का), जन्म और विवाह पीछे दो महम्मदी, और प्रत्येक हल के पीछे एक सेर धान्य दिया जाय।' और फिर कहा कि 'तुम योगियों की तन मन धन से सेवा करोगे तो प्रतिदिन तुम्हारा राज्य बढ़ता रहेगा। जब सेवा में कुछ त्रुटि होगी, तब राज्य का नाश हो जायगा।' इस प्रकार योगी ने भीम पर कृपा की। तब भीम ने अंजली बाँधकर प्रार्थना की कि *'घोघा लोग बहुत बलवान् हैं, मैं उनसे राज्य कैसे ले सकूँगा?'* तब योगी ने कहा कि 'इनको हमारा शाप हो चुका है, इन पर अचानक कठाड़ियों की सेना आक्रमण करेगी। तुम इस बात की खबर लेते रहना। जब तुमको यह पक्की खबर लग जाय कि घोघे मारे गए, तब तुम अपने साथ लोगों को लेकर जाना। तुम्हारी पीठ पर हमारे हाथ हैं। तुम किसी प्रकार मत घबराओ, यहाँ का राज्य सुगमता से बिना मार काट के तुम्हारे हस्तगत हो जायगा। तुम्हारे सामने एक भी शत्रु नहीं ठहरेगा।' इतना कहकर दोनों योगी उठे और भीम से फिर कहा कि 'अब हम पर्वत में जाते हैं। तुमसे हमें यह कहना

शाप हो चुका है, अतएव ऐसा ही होगा। हमारा एक कथन और है। वह यह कि जब तुम राज्याधिकारी हो, तब अपनी पदवी राव रखना।' योगी इतना कहकर चल दिए। पंद्रहवें दिन भीम का पिता हमीर स्वर्गगामी हुआ, तब भीम को पूर्ण विश्वास हो गया। अब तो भीम ने अपने पास आदमी रखना आरंभ किया। किसी को कुछ दिया, और किसी को कुछ। अल्प ही समय में उसके पास चार पाँच सौ बंधुवर्ग एकत्र हो गए।

घोघा लोगों ने मोखी के प्रदेश में बिगाड़ किया था, इसलिये माखी और वीरमगाँव के थानेदार अपने मनुष्यों को लेकर अचानक घोघों पर चढ़ आए और उन पर एक साथ टूट पड़े। घोघों के पास तीन हजार मनुष्य थे, जिनमें से सात सौ मारे गए। अन्य जो मँगनी के मनुष्य थे, वे निकल गए। जो कायर या रणभीरु थे, वे युद्ध का आरंभ होते ही चल दिए थे। शत्रुओं के भी बहुत से मनुष्य मारे गए, इसलिये वे भी अपने स्थान को लौट गए। लूट-पाट कुछ न की; बल्कि मोखी की सीमा में जाकर विश्राम लिया।

भीम के मनुष्य पहले से ही इस अन्वेषण में लगे हुए थे। उन्होंने आकर भीम को खबर दी कि 'घोघे मारे गये; और मुसलमान जो चढ़कर आये थे, वे भी लौट गए हैं। ठिकाना खाली पड़ा है।' यह खबर पाते ही भीम तुरंत अपनी सेना लेकर लाखड़ी पर चढ़ गया और बिना खून-खराबी के उस पर अधिकार कर लिया। वहाँ भीम को भूमि तो मिली ही, परंतु उसके साथ द्रव्य और सामान भी बहुत मिला। भीम लाखड़ी का राव हुआ। आसपास के घोघों ने जब सुना कि भीम लाखड़ी का मालिक बन बैठा है, तब वे इकट्ठे होकर भीम पर चढ़ आए। परंतु दैव जिसके अनुकूल होता है, उसका कोई क्या कर सकता है? भीम और घोघों से युद्ध हुआ। घोघे परास्त हुए और भीम की विजय हुई।

एक घोघा सरदार हारकर काठियों में मोखो की तरफ गया। उसके वंशज मोखी दलोद्र के प्रांत में हैं। और कई घोघे भागकर

पारकर और सातलपुर की ओर गए, जहाँ कांथड़नाथ योगी था घोघों ने आकर योगिराज के चरणों में गिरकर प्रणाम किया और अपना वृत्तांत कहा कि "हमको गरीबनाथ योगी ने शाप दिया जिससे हमारा सर्वनाश और राज्य भ्रष्ट हो गया है। अब आपका अनुग्रह हो तो हम यहाँ ठहरें"। तब कांथड़नाथ ने कहा कि "यदि तुमको यहाँ रहना है तो ऊपर तो हमारी पादुका स्थापित करो, और उससे नीचे अपने निवास के लिये कोट बनवाओ।" उन्होंने वैसा ही किया। पादुका ऊपर को स्थापित की गई, और कोट नीचे बनवाया गया। उस कोट का नाम योगी के नाम पर कांथड़-कोट रक्खा गया और घोघे लोग वहाँ रहने लगे। वह कांथड़कोट अब तक विद्यमान है। कांथड़कोट के स्वामी का तीन सौ गाँवों पर अधिकार है। उनकी भूमि में योगी कांथड़नाथ के वंशज योगियों का कर अब तक लगता है।

भीम ने लाखड़ी लेकर कच्छ देश पर अपना अधिकार कर लिया। भीम एक खेत गोड़नेवाला दरिद्र मनुष्य था, परंतु योगिराज गरीबनाथ के अनुग्रह से वह कच्छ देश का स्वामी हुआ। वह राज्य पाकर भी अपने गुरु को नहीं भूला। उसकी समस्त आज्ञाओं का उसने पालन किया। वहाँ जो लाग-भाग और कर नियत हुआ था, वह अब तक अविच्छिन्न दिया जाता है। भीम ने धीणोद में, जहाँ पादुका स्थापित की गई थी, पादुका के ऊपर देवालय बनवाया, और उसीके पार्श्व में गढ़ बनवाया। वहाँ योगियों का मठ भी बनवाया गया।

इस समय भीम के वंशज कच्छ देश के स्वामी हैं। उनकी राजधानी भुज नगर है। हम प्रथम टिप्पणी में लिख आए हैं कि हमीर (संख्या ११) का तीसरा पुत्र भीम था। नैणसी दूसरी बार वंशावली का आरंभ भीम से करता है, और उसमें पूर्व यह लिखता है कि 'भीमा' (भीम) के वंशज इस समय भुज नगर के और सारे कच्छ के स्वामी हैं। वंशावली इस प्रकार लिखी है—

१ भीम २ लाखो ३ हमीर ४ राघो ५ कांहियो ६ अलइयो ७ भोजराज ८ रायधण ६ हमीर १० कमो ११ मूलवो १२ महड़ १३ भीव १४ हमीर १५ खंगार १६ भारो १७ भोजराज १८ खंगार।

यह वंशावली नैणसी ने संवत् १७२० के लगभग जोधपुर के राठौड़ राजा महाराज जसवंतसिंह जी प्रथम के समय में लिखी थी।

इसी प्रकरण में नैणसी लिखता है कि लाखा के पश्चात् कितने ही पुरुषों के अनंतर हालो और रायधण दो भाई हुए। उनके वंशज हाला और रायधण कहलाए। जब वे अत्यंत निर्बल और दीन-हीन दशा में हो गए तब घोघों की भूमि में खेती करते थे और भूमिकर के स्थान में मुकाता देते थे। रायधण की अपेक्षा हाला के पास दस पाँच ग्राम अधिक थे, और उसके पास मनुष्य भी कुछ अधिक थे। जब हमीर का पुत्र भीम लाखड़ी का स्वामी हो गया, तब हाला के भी मन में अभिलाषा हुई कि हम भी किसी भूमि पर अपना अधिकार करें। फिर इधर उधर की समस्त भूमि देखी तो भद्रेस, जो योगी भद्राचल के नाम से बसा था, उस समय अस्वामिक था। वहाँ जाकर हाला ने अपना अधिकार कर लिया। जब हाला का वैभव बढ़ा तब घोघों के सरदार ने आकर हाला से कहा कि "आप हमारी सहायता करें तो हम अपना स्थान भीम से ले लें। आपको हम किनारे के २०० या ३०० ग्राम सहायता करने के प्रत्युपकार में दे देंगे।" हाला ने उनकी सहायता करना स्वीकार कर लिया, और वैसा प्रबंध करने लगा। यह खबर भीम को लगी। तब भीम ने अपना मनुष्य भेजकर हाला को कहलाया कि "हम लोग भाई हैं। आप घोघों की सहायता करने के लिये कैसे उद्यत हो गए हैं? आपको विचार करना चाहिए कि मैं और आप कौन हैं। यदि मेरे पास राज्य रहा तो अपने घर में है। दोनों घर एक ही हैं। मैंने जो भूमि दबाई है वह तो मेरे पास रहे, और आप ने जो दबाई है, वह आप के पास रहे। फिर झगड़ा किस बात का?" भीम के दूत द्वारा यह समाचार सुनकर हाला ने कहा कि "भीम का कहना

तुम को मिल जायगा। यह अवसर किसी प्रकार निकल गया तो फिर पछताओगे। हमने तो अच्छा अवसर देखकर तुम को चिता दिया है; करना तुम्हारा काम है।" रावल तरुण वय में था। उसने विना विचारे हमीर को मारने की ठान ली। हमीर दोपहर के समय घर में सोया था। रावल वहाँ जाकर उसके पैर दवाने लगा। हमीर को निद्रा आ गई। रावल ने देखा कि अब तो हमीर सुख-निद्रा में है। उसी समय उसने तलवार से उसका सिर काट डाला और पिता के भय के मारे वहाँ से भाग गया। इतने में शोर-गुल हुआ कि हमीर मारा गया। लाखा को इस बात की खबर नहीं थी कि हमीर को मारनेवाला मेरा पुत्र ही है। लाखा उसके पीछे चला और उस पर तीर चलाने लगा। रावल अपने प्राण बचाने के लिये भागता हुआ काठियों के वास में एक बाड़े की काँटों की बाढ़ में कूद पड़ा। लाखा ने देखा कि अपराधी जाता है। उसने उस पर तलवार चलाई। परंतु रावल ने पास ही पड़ी गुदड़ी ओढ ली। तलवार उस पर लगी। गुदड़ी दो अंगुल फटी और रावल बच गया। लाखा ने समझा कि अपराधी मारा गया। लाखा पीछे लौटा। रावल काठियों के पास गया। लाखा हमीर के अश्वारोहियों के साथ भुज में गया। वहाँ हमीर के पुत्र खंगार को, यद्यपि वह बालक था, तथापि, भुज की गद्दी पर बैठाकर अपने हाथ से राजतिलक किया और अपनी ओर से पट्टाधिकार के निमित्त टीके (तिलक) के घोड़े दिए, जैसा कि परंपरा से व्यवहार था। लाखा वहाँ बहुत दिनों तक रहा। उसका वहाँ रहने का उद्देश यह था कि मेरे पुत्र ने खंगार के पिता हमीर का वध किया है; यदि खंगार मेरी मृत्यु का कारण हो जाय तो हम दोनों समान हो जायँ, और हमारा कलंक दूर हो जाय। राव खंगार को किसी प्रकार यह ज्ञान हो गया। तब खंगार ने लाखा से कहा कि चचाजी! अब आप अपने घर जायँ। मैंने आपका अभिप्राय जान लिया है। आप जिस अभिप्राय से यहाँ ठहरे हुए हैं, वह

सिद्ध नहीं होगा। आप जानते हैं, मैं ऐसा अधम कार्य कदापि न करूँगा। यह कार्य तो रावल ही के हाथ से हो सका। रावल ने जो कार्य किया है, उसका बदला हम उससे लेंगे। आपसे कुछ भी सरोकार नहीं। जब रावल गद्दी पर बैठेगा तब हम हैं, और रावल है। यह मैं माता आसापुरा को साक्षी रखकर कहता हूँ। आप कृपा करके जाइए। लाखा अपने स्थान पर लौट आया और रावल को कहला दिया कि मुझे मुँह मत दिखाओ। जब तक लाखा जीवित रहा, तब तक उसने रावल को अपने निकट न आने दिया। एक दिन लाखा किसी कार्य वश कहीं जा रहा था। घोघों ने उसके साथ बहुत थोड़े मनुष्य देखकर उस पर आक्रमण किया। लाखा असावधान था, और साथ में मनुष्य भी कम थे, तथापि उसने शत्रुओं को पीठ नहीं दिखाई, लड़कर स्वर्ग को सिधारा।

(शेप आगे)

---

(१६) संसार की भाषाएँ और उनमें हिन्दी का स्थान*

(लेखक—धीरेन्द्र वर्म्मा, एम० ए०, इलाहाबाद ।)

संसार की भाषाओं का वंश-क्रम के अनुसार वर्गीकरण

वंश-क्रम के अनुसार भाषा-तत्त्वविज्ञ संसार की भाषाओं को वर्गों, उपवर्गों, कुलों, उपकुलों, शाखाओं तथा उपशाखाओं में विभक्त करते हैं। हिन्दी भाषा का संसार की भाषाओं में कौन स्थान है, यह समझने के लिये इन विभागों का संक्षिप्त वर्णन देना आवश्यक है। उन सब भाषाओं की गणना एक वर्ग में की जाती है जिनके संबंध में यह प्रमाणित हो चुका हो कि ये सब किसी एक मूल भाषा से उत्पन्न हुई हैं। नए प्रमाण मिलने पर इस वर्गीकरण में परिवर्त्तन भी हो सकता है। अब तक की खोज के आधार पर संसार की भाषाएँ निम्न लिखित मुख्य वर्गों में विभक्त की गई हैं †—

(क) भारत-यूरोपीय वर्ग—हम लोगों की दृष्टि में इस वर्ग का स्थान सब से प्रथम है। कुछ विद्वान् इस वर्ग को आर्य्य, भारत-जर्मनिक तथा जफ़ेटिक‡ नाम से भी पुकारते हैं। इस वर्ग की

---

* ये लेख "हिन्दी भाषा का इतिहास" शीर्षक पुस्तक के प्रारंभिक अध्याय हैं।

† भाषा क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई, आदि में मनुष्य मात्र की क्या कोई एक मूलभाषा भी थी, इत्यादि प्रश्न भाषा-विज्ञान से संबंध रखते हैं। हमारे क्षेत्र से ये पूर्ण रूप से बाहर हैं।

‡ जफ़ेटिक नाम मनुष्य जाति के बाइबिल के अनुसार वर्गीकरण के आधार पर दिया गया था। जफ़ेटिक के अतिरिक्त मनुष्य जाति के दो अन्य विभाग सेमिटिक और हैमेटिक के नाम से भी बाइबिल में किए गए हैं। इनमें से भी प्रत्येक के नाम पर एक एक भाषा वर्ग का नाम पड़ा है। मनुष्य जाति के इस वर्गीकरण के शास्त्रीय होने में संदेह होने पर जफ़ेटिक नाम छोड़ दिया गया, यद्यपि शेष दो नाम अब भी प्रचलित हैं। भारत-जर्मनिक से तात्पर्य्य बन

भाषाएँ उत्तर भारत, अफ़गानिस्तान, फ़ारस तथा प्रायः संपूर्ण यूरोप में बोली जाती हैं। संस्कृत, पाली, ज़ेन्द, फ़ारसी, ग्रीक, लैटिन इत्यादि प्राचीन भाषाएँ इसी वर्ग की थीं। आजकल इस वर्ग में अँग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, नूतन फ़ारसी, पश्तो, हिंदी, मराठी, बँगला तथा गुजराती इत्यादि भाषाएँ हैं।

(ख) सेमिटिक वर्ग—प्राचीन काल की कुछ प्रसिद्ध सभ्यताओं के केन्द्र जैसे फोनेशिया, अरमीया तथा असीरिया के लोगों की भाषाएँ इसी वर्ग की थीं। इन प्राचीन भाषाओं के नमूने अब केवल शिला-लेखों इत्यादि में मिलते हैं। यहूदियों की प्राचीन हिब्रू भाषा जिसमें मूल बाइबिल लिखी गई थी और प्राचीन अरबी भाषा जिसमें क़ुरान है, इसी वर्ग की हैं। आज कल इस वर्ग की उत्तराधिकारिणी वर्त्तमान अरबी तथा हबशी भाषाएँ हैं।

(ग) हैमिटिक वर्ग—इस वर्ग में मिश्र देश की प्राचीन भाषा मुख्य थी। इसके नमूने चित्रलिपि में खुदे हुए मिलते हैं। उत्तर अफ्रीका

भाषाओं से लिया जाता था जो पूरब में भारत से लेकर पश्चिम में जर्मनी तक बोली जाती हैं। बाद को जब यह मालूम हुआ कि जर्मनी के और भी पश्चिम में आयर्लैंड की केल्टिक भाषाएँ भी इसी वर्ग की हैं, तब यह नाम भी अनुपयुक्त समझा गया। आरम्भ में भाषा शास्त्र में जर्मन विद्वानों ने अधिक कार्य किया था और यह नाम इन्हीं का दिया हुआ था। जर्मनी में अब भी इस वर्ग का यही नाम प्रचलित है। आर्य्य वर्ग नाम सरल तथा उपयुक्त था, किन्तु एक तो इससे यह भ्रम होता था कि आर्य्य वर्ग की भाषाएँ बोलनेवाले सब लोग आर्य्य जाति के होंगे, जो सत्य नहीं है। इसके अतिरिक्त ईरानी तथा भारतीय कुलों का संयुक्त नाम आर्य्य-उपवर्ग पड़ चुका था, अतः यह सरल नाम छोड़ देना पड़ा। भारतीय-योरोपीय नाम भी बहुत उपयुक्त नहीं है। इस नाम के अनुसार भारत और युरोप में बोली जानेवाली सभी भाषाओं की गणना इस वर्ग में होनी चाहिए। किन्तु भारत में ही द्रविड़ इत्यादि दूसरे कुलों की भाषाएँ भी बोली जाती हैं। इस नाम में दूसरी त्रुटि यह है कि भारत और युरोप के बाहर बोली जानेवाली ईरानी भाषा के कुल का उल्लेख इसमें नहीं हो पाता। इन त्रुटियों के रहते हुए भी इस वर्ग का यही नाम प्रचलित हो गया है। अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी विद्वान् इस वर्ग को भारत-युरोपीय नाम से ही पुकारते हैं।

के समुद्र तट के कुछ भाग में प्रचलित लीबियन या बर्बर तथा भाग के कुछ अंश में बोली जानेवाली एथिओपियन आदि इसी की भाषाएँ हैं। मिस्र देश की वर्त्तमान भाषा अरब के मुसलमानों प्रभाव के कारण अरबी हो गई है। कुछ समय पूर्व मूल मिस्री भ काप्टिक के नाम से जीवित थी। मिस्र देश के मूल निवासी, काप्टिक नाम से प्रसिद्ध हैं, अपनी भाषा के उद्धार का प्रयत्न रहे हैं।

(घ) तिब्बती-चीनी वर्ग—इस वर्ग को बौद्ध वर्ग नाम देना अ युक्त न होगा; क्योंकि जापान को छोड़कर शेष समस्त बौद्धधम्म वलम्बी देश जैसे चीन, तिब्बत, वर्मा, स्याम तथा हिमालय के आन रिक प्रदेश, इसी वर्ग की भाषाएँ बोलनेवालों से बसे हैं। संपू दक्षिण पूर्व एशिया में इस वर्ग की भाषाएँ प्रचलित हैं। इन सब चीनी भाषा मुख्य है। ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व तक चीनी भा के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

(ङ) यूरल-अलटाइक वर्ग—इसको तूरानी या सीदियन वर्ग भ कहते हैं। इस वर्ग की भाषाएँ चीन के उत्तर में मंगोलिया, मंचूरिय तथा साइबेरिया में बोली जाती हैं। तुर्की या तातारी भाषा इस वर्ग की है। यूरोप में भी इसकी एक शाखा गई है जिसकी भि भिन्न बोलियाँ रूस के कुछ भागों में बोली जाती हैं। कुछ विद्वा जापान तथा कोरिया की भाषाओं की गणना भी इसी वर्ग में करते हैं। दूसरे इन्हें तिब्बती-चीनी वर्ग में रखते हैं।

(च) द्राविड़ वर्ग—इस वर्ग की भाषाएँ दक्षिण भारत में बोली जाती हैं। इसमें मुख्य तामिल, तेलगू, मलयालम तथा कनड़ी हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह उत्तर भारत की आर्य्य भाषाओं से बिलकुल भिन्न हैं।

(छ) मैले-पोलीनेशियन वर्ग—मलाका प्रायद्वीप, प्रशान्त महा-सागर के सुमात्रा, जावा, बोर्नियो इत्यादि द्वीपों तथा अफ्रीका के

निकटवर्त्ती मडागास्कर द्वीप में इस वर्ग की भाषाएँ बोली जाती हैं। न्यूज़ीलैंड की भाषा भी इसी वर्ग की है। भारत में संथालों इत्यादि की कोल-भाषाएँ इसी वर्ग में गिनी जाती हैं। मलय साहित्य तेरहवीं शताब्दी तक का पाया जाता है। जावा में तो ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों तक के लेख इसी वर्ग की भाषाओं में मिले हैं। इन देशों की सभ्यता पर भारत के हिन्दू काल का बहुत प्रभाव पड़ा था।

(ज) बंटू वर्ग— इस वर्ग की भाषाएं दक्षिण अफ्रीका के आदिम निवासी बोलते हैं।

(झ) मध्य अफ्रीका वर्ग—उत्तर के हैमिटिक तथा दक्षिण के बंटू वर्गों के बीच में शेष मध्य अफ्रीका में, एक तीसरे वर्ग की बोलियाँ बोली जाती हैं। इनकी गिनती मध्य-अफ्रीका वर्ग में की गई है। इनमें से ज़ंजीबार की स्वाहिली भाषा तथा अफ्रीका के मरुदेश सूडान की हौसा भाषा मध्य अफ्रिका के व्यापारियों के बहुत काम की है। यही इस वर्ग की प्रसिद्ध भाषाएं हैं।

(ञ) अमेरिका की भाषाओं का वर्ग—उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका के मूल निवासियों की बोलियों को एक पृथक् वर्ग में स्थान दिया गया है। मध्य अफ्रीका की बोलियों की तरह इनकी संख्या भी बहुत है तथा इनमें आपस में भेद भी बहुत है। थोड़ी थोड़ी दूर पर बोली में अन्तर हो जाता है।

. कुछ भाषाओं का वर्गीकरण अभी तक ठीक ठीक नहीं हो सका है। इनमें आस्ट्रेलिया महाद्वीप की बोलियों की गणना सबसे पहले करनी होगी। इन बोलियों का एक पृथक् वर्ग मानना होगा। काकेशिया प्रदेश की भाषाओं को भी किसी अन्य वर्ग में सम्मिलित नहीं किया जा सका है। यूरोप की बास्क तथा यूराल्कन नाम की भाषाएँ भी बिलकुल निराली हैं। संसार के किसी भाषा वर्ग में इनकी गणना नहीं की जा सकी है। यूरोप के भारत-युरोपीय वर्ग की भाषाओं से इनका कुछ भी संबंध नहीं है।

भारत-युरोपीय वर्ग

संसार की भाषाओं के इन दस मुख्य वर्गों में से हमारा भारत-यूरोपीय वर्ग से विशेष संबंध है। जैसा कहा जा चुका है, इस वर्ग की भाषाएँ प्रायः संपूर्ण युरोप, ईरान, अफ़गानिस्तान तथा उत्तर भारत में फैली हुई हैं। इन्हें दो समुदायों में विभक्त किया जाता है जो 'केन्टम' और 'शतम' समुदाय * कहलाते हैं। प्रत्येक समुदाय में चार चार भाषा कुल हैं। इन आठों कुलों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है।

(१) आर्य्य या भारत ईरानी—इस कुल में दो मुख्य उपकुल हैं। प्रथम में भारतीय आर्य्य भाषाएँ हैं तथा दूसरे में ईरानी भाषाएँ। इनका विशेष उल्लेख आगे किया जायगा।

(२) आरमेनियन—आर्य्य कुल के पश्चिम में आरमेनियन है। इसमें ईरानी शब्द अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। आरमेनियन भाषा यूरोप और एशिया की भाषाओं के बीच में है।

(३) बाल्टो-स्लेवॉनिक—इस कुल की भाषाएँ काले समुद्र के उत्तर में प्रायः संपूर्ण रूस में फैली हुई हैं। आर्य्य कुल की तरह इसके भी दो उपकुल हैं। बाल्टिक उपकुल में लिथूनियन लेटिश, और प्राचीन प्रशियन बोलियाँ हैं। स्लेवॉनिक उपकुल में बलगेरिया की

* भारत-युरोपीय वर्ग को दो समुदायों में विभक्त करने का आधार कुछ मूल कंठ्देशीय वर्णों (क, ग, ख, घ) का इन समुदायों की भाषाओं में भिन्न भिन्न रूप ग्रहण करना है। एक समुदाय में यह व्यंजन ही रहते हैं, किन्तु दूसरे में यही ऊष्म (sibilants) हो जाते हैं। यह भेद इन भाषाओं में पाए जानेवाले "सौ" शब्द के दो भिन्न रूपों से भली प्रकार प्रकट होता है। लैटिन में, जो प्रथम समुदाय की भाषाओं में से एक है, 'सौ' के लिये 'केन्टम' शब्द आता है; किन्तु संस्कृत में, जो दूसरे समुदाय की है, 'शतम्' रूप मिलता है। पहला समुदाय बिलकुल युरोपीय है और 'केन्टम समुदाय' के नाम से पुकारा जाता है। दूसरे समुदाय में पूर्व-युरोप, ईरान तथा भारत की आर्य्य भाषाएँ सम्मिलित हैं। यह 'शतम समुदाय' कहलाता है।

ईरानी कुल का कुछ विशेष उल्लेख करना आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है, इसके दो मुख्य उपकुल हैं। एक में ईरान की भाषाएँ हैं और दूसरे में भारत की आर्य्य भाषाएँ सम्मिलित हैं। एक तीसरा उपकुल पिशाच या भारतीय असंस्कृत आर्य्य भाषाओं* का भी माना जाने लगा है।

(१) ईरानी—ऐतिहासिक क्रम के अनुसार ईरान की भाषाओं के चार भेद मिलते हैं—(क) सबसे प्रथम जेंद अर्थात् पारसियों के धर्म ग्रन्थ अवस्ता की भाषा है। अवस्ता के सबसे पुराने भाग ईसा से पूर्व चौदहवीं शताब्दी के माने जाते हैं। जेंद भाषा ऋग्वेद की संस्कृत से बहुत मिलती है। ईरान के प्राचीन लोग अपने को आर्य्य कुल का मानते थे। इस कुल का उल्लेख भी इनके ग्रंथों में बहुत स्थानों पर आया है। (ख) जेंद के बाद पुरानी फ़ारसी भाषा के नमूने मिलते हैं। यह कीलाक्षर लिपि में लिखे हुए शिला खंडों और ईंटों पर पाए गए हैं। हखामनीय वंश के महाराज दारा (५२२–४८६ पू० ई०) के शिलालेख पुरानी फारसी भाषा में हैं। इन लेखों में दारा अपने आर्य्य कुल में होने का

---

* मध्य-एशिया से आर्य्य लोग भारत में दो मार्गों से आए थे। एक तो हिंदुकुश पर्वत के पश्चिम से होकर काबुल के मार्ग से और दूसरे वक्षु (Oxus) नदी के उद्गम स्थान से सीधे दक्षिण की ओर दुर्गम पर्वतों को पार करके। इस दूसरे मार्ग से आनेवाले सब आर्य्य उत्तर भारत के मैदानों में पहुँच गए थे, इसमें संदेह है। कम से कम कुछ आर्य्य हिमालय के पहाड़ी प्रदेश में अवश्य रह गए थे। इन लोगों की भाषा पर संस्कृत का प्रभाव न पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि संस्कृत का विशेष दृढ़ रूप भारत में आने के बाद हुआ था। आजकल इन भाषाओं के बोलनेवाले काश्मीर तथा उसके उत्तर में हिमालय के दुर्गम प्रदेशों में पाए जाते हैं। ये भाषाएँ भारतीय-असंस्कृत आर्य्य भाषाएँ कहलाती हैं। इनका दूसरा नाम पिशाच या दर्द भी है। काश्मीरी भाषा भी इन्हीं में से एक है। कुछ समय से इस पर संस्कृत का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि यह भारत की शेष आर्य्य भाषाओं में गिनी जाने लगी थी। काश्मीरी प्रायः शारदा लिपि में लिखी जाती है। मुसल्मान लोग फ़ारसी लिपि का व्यवहार करते हैं।

उल्लेख गर्व के साथ करता है। (ग) पुरानी फ़ारसी के बाद माध्यमिक फ़ारसी का काल आता है। इसका मुख्य रूप पह्लवी है। ईसवी तीसरी से सातवीं शताब्दी तक ईरान में ससान वंशी राजाओं ने राज्य किया था। उनके संरक्षण में पह्लवी साहित्य ने बहुत उन्नति की थी। (घ) नई-फ़ारसी का सबसे प्राचीन रूप फ़िरदौसी के शाहनामे में मिलता है। फ़िरदौसी ने सेमिटिक वर्ग के शब्दों को अपनी भाषा में नहीं मिलने दिया था; परन्तु आज कल साहित्यिक फ़ारसी में अरबी शब्दों की भरमार हो गई है। अफ़गानिस्तान की पश्तो भाषा तथा बलूचिस्तान की बलूची नई फ़ारसी की ही शाखाएँ हैं।

(२) भारतीय आर्य्य-भाषा—यह तीन कालों में विभक्त की जाती है—प्रथम प्राकृत काल, द्वितीय प्राकृत काल तथा तृतीय प्राकृत काल। (क) प्रथम प्राकृत काल की भाषा का अनुमान ऋग्वेद के प्राचीन अंशों से हो सकता है। इस काल की भाषा का और कोई चिह्न नहीं रहा है। (ख) द्वितीय प्राकृत काल की भाषा के बहुत उदाहरण मिलते हैं। संस्कृत, पाली, अशोक की धर्म लिपियों की भाषा, साहित्यिक प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएँ इसी काल में गिनी जाती हैं। (ग) तृतीय प्राकृत काल में भारत की वर्त्तमान आर्य्य भाषाएँ हैं। इनके भिन्न भिन्न रूप आज कल समस्त उत्तर भारत में बोले जाते हैं। साहित्यिक दृष्टि से इनमें हिन्दी, बँगला, मराठी तथा गुजराती मुख्य हैं।

वर्त्तमान भारतीय आर्य्य भाषाएँ

इन वर्त्तमान भारतीय आर्य्य भाषाओं का कुछ विस्तार से वर्णन करना उचित होगा; क्योंकि हिंदी भाषा इन्हीं में से एक है। इन भाषाओं का एक दूसरे से बहुत निकट का संबंध है और इनका प्रभाव भी एक दूसरे पर अधिक पड़ा है।

भाषा-तत्व के आधार पर इन भाषाओं को तीन समुदायों में

विभक्त किया जाता है—मध्यस्थित या अंदर की, अन्तरस्थित या बीच की, और बहिरस्थित या बाहरी। (क) मध्य के समुदाय में केवल एक ही भाषा हिंदी है। पूर्वी हिंदी से भेद स्पष्ट करने के लिये इसे पश्चिमी हिंदी भी कहते हैं। (ख) बीच के समुदाय में बहुत सी भाषाएँ सम्मिलित हैं। इनमें से पंजाबी, राजस्थनी, गुजराती और पहाड़ी भाषाएँ मध्यस्थित हिंदी भाषा के अधिक निकट हैं। केवल पूर्वी हिंदी का बाहरी भाषाओं से अधिक संबंध है। (ग) बाहरी भाषा समुदाय में पश्चिमोत्तर में लहँदा और सिन्धी, दक्षिण में मराठी तथा पूर्व में बिहारी, उड़िया, बंगाली और आसामी हैं।

(१) हिंदी या पश्चिमी हिंदी—यह मनुस्मृति के 'मध्य देश' की वर्त्तमान भाषा कही जा सकती है। मेरठ तथा बिजनौर के निकट बोली जानेवाली पश्चिमी हिंदी के ही एक रूप खड़ी बोली से वर्त्तमान साहित्यिक हिंदी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई है। इसकी एक दूसरी बोली व्रजभाषा, पूर्वी हिंदी की बोली अवधी के साथ कुछ काल पूर्व साहित्य के क्षेत्र में वर्त्तमान हिंदी भाषा का स्थान लिए हुए थी। इन दो बोलियों के अतिरिक्त पश्चिमी हिंदी में और भी कई बोलियाँ सम्मिलित हैं; किन्तु साहित्य की दृष्टि से ये विशेष ध्यान देने योग्य नहीं हैं। उत्तर-मध्य-भारत का वर्त्तमान साहित्य हिंदी भाषा में ही लिखा जा रहा है। पढ़े लिखे मुसलमानों में उर्दू का प्रचार है।

(२) पंजाबी—पंजाबी भाषा हिंदी के ठीक पश्चिमोत्तर में है। यह मध्य पंजाब में बोली जाती है। पंजाब के पश्चिम भाग में लहँदा और पूर्व भाग में स्वयं हिंदी ही का क्षेत्र है। पंजाबी पर दर्द अथवा पिशाच भाषाओं का भी काफी प्रभाव है। पंजाबी भाषा लहँदा से ऐसी मिली हुई है कि दोनों का अलग करना कठिन है; किंतु पश्चिमी हिंदी से इसका भेद स्पष्ट है। पंजाबी की अपनी लिपि लंडा कहलाती है। यह राजपूताने की महाजनी और काश्मीर

की शारदा लिपि से मिलती जुलती है। यह लिपि बहुत अपूर्ण है और इसके पढ़ने में बहुत कठिनता होती है। सिक्खों के गुरु अंगद (१५३८-५२ ईसवी) ने देव नागरी की सहायता से इस लिपि में सुधार किया था। लंडा का यह नया रूप 'गुरुमुखी' कहलाया। आज कल पंजाबी भाषा की पुस्तकें इसी लिपि में छपती हैं। मुसलमानों के अधिक संख्या में होने के कारण पंजाब में उर्दू भाषा का प्रचार बहुत है। उर्दू फ़ारसी लिपि में लिखी जाती है। प्रत्येक पंजाबी नागरिक हिंदू उर्दू लिखना पढ़ना जानता है। पंजाबी भाषा का शुद्ध रूप अमृतसर के निकट बोला जाता है। पंजाबी में साहित्य अधिक नहीं है। सिक्खों के ग्रंथ साहब की भाषा प्रायः पुरानी हिंदी है, यद्यपि वह गुरुमुखी अक्षरों में लिखा गया है। पंजाबी भाषा में बोलियों का भेद अधिक नहीं है। उल्लेख योग्य केवल एक बोली 'डोग्री' है। यह जम्मू राज्य में बोली जाती है। 'टकरी' या 'टाकरी' नाम की इसकी लिपि भी भिन्न है।

(३) राजस्थानी—पंजाबी के ठीक दक्षिण में राजस्थानी अथवा राजस्थान की भाषा है। एक प्रकार से यह हिंदी का ही दक्षिण-पश्चिमी विकसित रूप है। इस विकास की अन्तिम सीढ़ी गुजराती है। राजस्थानी में मुख्य चार बोलियाँ हैं—(१) मेवाती, (२) मालवी, (३) जयपुरी और (४) मारवाड़ी। इन बोलियों में और भी सूक्ष्म भेद हैं। राजस्थानी भाषा बोलनेवाले भूमिभाग में हिंदी भाषा ही साहित्यिक भाषा है। यह स्थान अभी तक राजस्थान की बोलियों में से किसी को नहीं मिल सका है। राजस्थानी का प्राचीन साहित्य मारवाड़ी में पाया जाता है। पुरानी मारवाड़ी और गुजराती में बहुत कम भेद है। नित्य के व्यवहार में राजस्थानी महाजनी लिपि में लिखी जाती है। मारवाड़ियों के साथ महाजनी लिपि समस्त उत्तर भारत में फैल गई है। छपाई में देवनागरी लिपि का ही व्यवहार होता है।

(४) गुजराती—गुजराती भाषा गुजरात, बड़ौदा और निकटवर्ती

अन्य देशी राज्यों में बोली जाती है। गुजराती में बोलियों का स्पष्ट भेद अधिक नहीं है। पारसियों द्वारा अपनाई जाने के कारण गुजराती पश्चिम भारत में व्यवसाय की भाषा हो गई है। भीली और खानदेशी बोलियों का गुजराती से बहुत संपर्क है। गुजराती का साहित्य बहुत विस्तीर्ण तो नहीं है, किंतु तो भी उत्तम अवस्था में है। गुजराती के आदि कवि नरसिंह मेहता (जन्म सन् १४१३ ईसवी) का गुजरात में अब भी बहुत आदर है। प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण हेमचंद्र भी गुजराती ही थे। यह बारहवीं शताब्दी ईसवी में हुए थे। इन्होंने अपने व्याकरण में गुजरात की नागर अपभ्रंश का वर्णन किया है। वैदिक काल से अब तक की भाषा के क्रमपूर्वक उदाहरण केवल गुजरात में ही मिल सकते हैं; अन्य स्थानों की आर्य्य भाषाओं में यह क्रम किसी न किसी काल में टूट गया है। बीच के समुदाय की भाषाओं में केवल गुजराती ही बाहरी समुदाय की भाषाओं को तोड़कर समुद्र तक पहुँची है। गुजराती पहले देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी, किंतु अब गुजरात में कैथी से मिलते जुलते देवनागरी के बिगड़े हुए रूप का प्रचार हो गया है।

(५) पूर्वी पहाड़ी:—यह हिमालय के दक्षिण पार्श्व में नेपाल में बोली जाती है। इसको नेपाली, पर्बतिया, गोरखाली और खस-कुरा भी कहते हैं। पूर्वी-पहाड़ी भाषा का विशुद्ध रूप काठमंडो की घाटी में बोला जाता है। इसमें कुछ नवीन साहित्य भी है। नेपाल राज्य की अधिकांश प्रजा की भाषाएँ तिब्बती-चीनी वर्ग की हैं। इनमें मुख्य नेवार जाति के लोगों की भाषा 'नेवारी' है। नेपाल के राज-दरबार में हिंदी भाषा का बहुत आदर है। नेपाली का अध्ययन जर्मन और रूसी विद्वानों ने विशेष किया है। नेपाली देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है।

(६) माध्यमिक पहाड़ी—इसके दो मुख्य भेद हैं:—कुमायूनी और गढ़वाली। इनमें साहित्य विशेष नहीं है। यहाँ के लोगों ने

साहित्यिक व्यवहार के लिये हिंदी भाषा को ही अपना लिया है। साधारणतया यह देवनागरी लिपि में लिखी जाती है।

(७) पश्चिमी पहाड़ी—इस भाषा की भिन्न भिन्न बोलियाँ सरहिंद के उत्तर में शिमले के निकटवर्ती प्रदेश में बोली जाती हैं। इन बोलियों का कोई सर्वमान्य मुख्य रूप नहीं है, न इनमें साहित्य ही पाया जाता है। इस प्रदेश में तीस से अधिक बोलियों का पता चला है जिनमें संयुक्त प्रांत के जौनसार-बावर प्रदेश की बोली जौनसारी, शिमला पहाड़ की बोली क्योंथली, कुलू प्रदेश की कुलुई और चम्बा राज्य की चम्याली मुख्य हैं। चम्याली बोली की लिपि भिन्न है। यह टाकरी या टक्करी लिपि में लिखी जाती है।

वर्तमान पहाड़ी भाषाएँ राजस्थानी से बहुत मिलती हैं। विशेषतया माध्यमिक पहाड़ी का संबंध जयपुरी से और पश्चिमी पहाड़ी का संबंध मारवाड़ी से अधिक निकट होता है। पश्चिमी तथा मध्य पहाड़ी प्रदेश का प्राचीन नाम सपादलक्ष था। पूर्व काल में सपादलक्ष में गूजर आकर बस गए थे। बाद को यह लोग पूर्व-राजस्थान में चले गए थे। मुसलमान काल में बहुत से राजपूत फिर सपादलक्ष में आ बसे थे। जिस समय सपादलक्ष की खस जाति ने नेपाल को जीता था, तब इन खस विजेताओं के साथ यहाँ के राजपूत और गूजर भी शामिल थे। इस संपर्क के कारण ही राजस्थानी और पहाड़ी भाषाओं में कुछ समानता पाई जाती है।

में प्रायः अवधी का ही प्रयोग होता रहा है। जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर जी ने अपने धर्म का प्रचार करने में यहाँ की ही प्राचीन बोली अर्ध-मागधी का प्रयोग किया था। बहुत सा जैन साहित्य अर्धमागधी प्राकृत में है। अवधी और बघेली भाषा में साहित्य बहुत है। पूर्वी हिन्दी प्रायः देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और छपाई में तो सदा इसी का प्रयोग होता है। लिखने में कभी कभी कैथी लिपि भी काम में आती है। अपने प्राचीन रूप अर्धमागधी प्राकृत के समान पूर्वी हिन्दी अब भी बीच की भाषा है। इसके पश्चिम में शौरसेनी प्राकृत का नया रूप पश्चिमी हिन्दी है और पूर्व में मागधी प्राकृत की स्थानापन्न बिहारी भाषा है।

यहाँ तक बीच की और भीतरी भाषाओं का वर्णन हुआ। अब बाहरी भाषाओं के संबंध में लिखना है। हिन्दी और बाहरी समुदाय की भाषाओं में विशेष अन्तर यह है कि हिन्दी भाषा वियोगात्मक है, किन्तु बाहरी समुदाय की भाषाएँ इस अवस्था को पार करके अब फिर संस्कृत के समान संयोगात्मक होती जा रही हैं। बाहरी समुदाय में तीन विभाग हैं। इनमें से पश्चिमोत्तर विभाग में लहँदा और हिन्दी भाषाएँ हैं।

(६) लहँदा—यह पश्चिम पंजाब की भाषा है। पंजाबी के वर्णन में बताया जा चुका है कि इसकी और पंजाबी की सीमाएँ ऐसी मिली हुई हैं कि दोनों का भेद करना दुःसाध्य है। लहँदा पर पिशाच भाषाओं का प्रभाव बहुत अधिक है। इसी प्रदेश में प्राचीन केकय देश पड़ता है जहाँ पैशाची प्राकृत तथा ब्राचड़ अपभ्रंश बोली जाती थी। लहँदा के अन्य नाम पश्चिमी पंजाबी, जटकी, उच्ची, तथा हिन्दकी हैं, किन्तु यह सब अनुपयुक्त हैं। पंजाबी में 'लहन्दे दी बोली' का अर्थ 'पश्चिम की बोली' है ('लहँदा' शब्द का अर्थ सूर्यास्त की दिशा अर्थात् पश्चिम है)। लहँदा में न तो विशेष साहित्य है और न यह कोई साहित्यक भाषा ही है। एक प्रकार से यह कई मिलती जुलती बोलियों का समूहमात्र है। लहँदा का व्याकरण और

शब्द समूह दोनों पंजाबी से भिन्न हैं। यद्यपि इसकी अपनी भिन्न लिपि 'लंडा' है, किन्तु आजकल यह प्रायः फ़ारसी लिपि में ही लिखी जाती है।

(१०) सिन्धी—सिंध देश में सिन्धु नदी के दोनों किनारों पर सिंधी भाषा बोली जाती है। इस भाषा के बोलनेवाले प्रायः मुसलमान हैं, इसी लिये इसमें फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बड़ी स्वतंत्रता से होता है। सिंधी फ़ारसी लिपि के एक विकृत रूप में लिखी जाती है, यद्यपि निज के हिसाब किताब में देवनागरी लिपि का एक बिगड़ा हुआ रूप भी व्यवहृत होता है। इसकी अपनी लिपि लंडा है। कभी कभी यह गुरुमुखी में भी लिखि जाती है। सिन्धी भाषा की पाँच मुख्य बोलियाँ हैं जिनमें से मध्य भाग की 'विचोली' बोली साहित्य की भाषा का स्थान लिए हुए है। सिन्ध प्रदेश में ही पूर्व काल में ब्राचड़ देश था, जहाँ की प्राकृत और अपभ्रंश इस देश के नाम से ही प्रसिद्ध है। सिन्ध के दक्षिण में कच्छ द्वीप में कच्छी बोली जाती है। यह सिन्ध और गुजराती का मिश्रण है। सिन्धी भाषा में साहित्य बहुत कम है।

(११) मराठी—दक्षिण में महाराष्ट्री प्राकृत की पुत्री मराठी भाषा है। यह संपूर्ण महाराष्ट्र में बोली जाती है। इसके दक्षिण में द्रविड़ भाषाएँ हैं। इसकी तीन मुख्य बोलियाँ हैं जिनमें से पूने के निकट बोली जानेवाली देशी मराठी साहित्यिक भाषा है। मराठी प्रायः देवनागरी लिपि में लिखी और छापी जाती है। नित्य के व्यवहार में 'मोड़ी' लिपि का व्यवहार होता है। इसका आविष्कार महाराज शिवाजी (१६२७-८० ईसवी) के सुप्रसिद्ध मन्त्री बालाजी अवाजी ने किया था। मराठी का साहित्य बहुत विस्तीर्ण, लोकप्रिय तथा प्राचीन है।

(१२) बिहारी—यद्यपि राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से बिहार का संबंध संयुक्त प्रांत से रहा है, किन्तु यहाँ की

भाषा बँगला की बहन है। बँगला, उड़िया और आसामी के साथ इसकी उत्पत्ति भी मागध अपभ्रंश से हुई है। हिन्दी भाषा बिहारी की चचेरी बहन कही जा सकती है। मागध अपभ्रंश के बोले जाने-वाले भूमिभाग में ही आजकल बिहारी बोली जाती है। बिहारी भाषा में तीन मुख्य बोलियाँ हैं—मैथिली, मगही और भोजपुरी। इनमें मैथिली और मगही एक दूसरे के अधिक निकट हैं; भोजपुरी इन दोनों से भिन्न है। बिहारी तीन लिपियों में लिखी जाती है। छपाई में देवनागरी अक्षर व्यवहार में आते हैं तथा लिखने में साधारणतया कैथी लिपि का प्रयोग होता है। मैथिली ब्राह्मणों की एक अपनी लिपि अलग है जो मैथिली कहलाती है और बँगला अक्षरों से बहुत मिलती है।

(१३) उड़िया—प्राचीन उत्कल देश अथवा वर्त्तमान उड़िया उपप्रान्त में यह बोली जाती है। इसको उत्कली अथवा ओड़ी भी कहते हैं। उड़िया शब्द का शुद्ध रूप ओड़िया है। सबसे प्रथम कुछ उडिया शब्द तेरहवीं शताब्दी के एक शिलालेख में आए हैं। प्रायः एक शताब्दी के बाद का एक अन्य शिलालेख मिलता है जिसमें कुछ वाक्य उडिया भाषा में लिखे पाए गए हैं। इनसे विदित होता है कि उस समय तक उड़िया भाषा को बहुत कुछ विकास प्राप्त हो चुका था। उडिया लिपि बहुत कठिन है। उस का व्याकरण बंगाली से बहुत मिलता जुलता है, इसलिये बंगाली के कुछ पंडित इसे बंगाली भाषा की एक बोली समझते थे, किन्तु यह भ्रम था। बंगाली के साथ ही उड़िया भी मागधी अपभ्रंश से निकली है। बंगाली और उड़िया आपस में बहनें हैं; इनका संबंध माँ बेटी का नहीं है। उडिया लोग बहुत काल तक विजित रहे हैं। आठ शताब्दी तक उड़ीसा में तेलंगों का राज्य रहा। अभी कुछ ही काल पूर्व प्रायः पचास वर्ष तक नागपुर के भोंसले राजाओं ने उड़ीसा पर राज्य किया है। इन कारणों से उड़िया भाषा में तेलगू और मराठी शब्द बहुतायत से पाए जाते हैं। मुसलमानों

और अँग्रेज़ों के कारण फ़ारसी और अँग्रेज़ी शब्द तो हैं ही। उड़िया साहित्य विशेष रूप से श्रीकृष्ण के संबंध में है।

(१४) बंगाली—बंगाली गंगा के मुहाने और उसके उत्तर और पश्चिम के मैदानों में बोली जाती है। गाँव के बँगालियों और नगरवालों की बोली में बहुत अंतर है। साहित्य की भाषा में संस्कृत तत्समों का प्रचार शायद बँगला में सबसे अधिक है। उत्तरी, पूर्वी तथा पश्चिमी बँगला में भेद है। पूर्वी बँगला का केन्द्र ढाका है। हुगली के निकट बोली जानेवाली पश्चिमी बँगला का एक रूप ही वर्त्तमान साहित्यिक भाषा हो गया है। बँगला उच्चारण की विशेषता 'अ' का 'ओ' तथा 'स' का 'श' कर देने के लिये प्रसिद्ध ही है। बंगाली का साहित्य अत्यंत उत्तम अवस्था में है। बँगला लिपि देवनागरी का ही एक रूप है।

(१५) आसामी—आसामी बाह्य विभाग की अंतिम भाषा है। जैसा इसके नाम से प्रकट होता है, यह आसाम प्रदेश में बोली जाती है। वहाँ के लोग इसे असमिया कहते हैं। उड़िया की तरह आसामी भी बँगला की बहन है, बेटी नहीं। यद्यपि आसामी व्याकरण बँगला व्याकरण से बहुत भिन्न नहीं है, किंतु इन दोनों के साहित्य की प्रगति पर ध्यान देने से इनका भेद स्पष्ट हो जाता है। आसामी भाषा के प्राचीन साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें ऐतिहासिक ग्रंथों की कमी नहीं है। अन्य भारतीय आर्य्य भाषाओं में यह अभाव बहुत खटकता है। आसामी प्रायः बँगला लिपि में लिखी जाती है। इसमें कुछ सुधार अवश्य कर लिया गया है।

हिंदी भाषा

इस प्रकार संसार के भाषा वर्गों में भारत-युरोपीय वर्ग के भारत-ईरानी कुल में भारतीय आर्य्य उपकुल के मध्य समुदाय की पश्चिमी हिंदी भाषा की खड़ी बोली के आधार पर आधुनिक हिंदी भाषा की सृष्टि हुई है। वर्त्तमान समय में यह पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी, बिहारी तथा राजस्थानी भाषा क्षेत्रों के हिंदुओं की सर्वमान्य

साहित्यिक भाषा है*। इस भूमिभाग के अतिरिक्त विहारी तथा राजस्थानी के प्रदेशों में भी हिंदी ही आजकल साहित्यिक भाषा का पद पाए हुए है। अतः भारत के निम्न लिखित प्रांतों की भाषा हिंदी कही जा सकती है:—संयुक्त प्रांत, देहली, पंजाब के सरहिंद के जिले, राजस्थान, अजमेर, मध्य भारत, हिंदुस्तानी मध्य प्रांत और उड़ीसा को छोड़कर शेष विहार प्रांत।

---

* इस भूमिभाग में गाँव के मुसल्मान भी प्रायः हिंदुओं की ही बोलियाँ बोलते हैं, यद्यपि उनका आदर्श नगर-निवासी मुसल्मानों की भाषा उर्दू अवश्य है। उर्दू हिंदी की मुसलमान धर्म ग्रहण करनेवाली सगी बहन है। वास्तव में यह दोनों एक हैं। उर्दू का व्याकरण तो प्रायः हिंदी भाषा के समान ही है, केवल शब्द-समूह तथा साहित्यिक आदर्श पर संस्कृत के स्थान पर उर्दू में फ़ारसी का प्रभाव अधिक है। लिपि का भेद विशेष है। हिंदी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, किंतु उर्दू फारसी लिपि में। पंजाब में पढ़े लिखे हिंदू और मुसलमान दोनों उर्दू का ही व्यवहार करते हैं। देहली प्रांत, सरहिंद तथा संयुक्त प्रांत के पश्चिमी भाग के हिंदू घरों में अब भी उर्दू का प्रचार अधिक है, यद्यपि यह लोग धीरे धीरे हिंदी को अपना रहे हैं। पहाड़ी भाषाओं के प्रदेश में हिंदी ने साहित्यिक भाषा का स्थान ले लिया है। व्याकरण की एकता होने पर भी साहित्य की भारी विभिन्नता के कारण उर्दू भाषा की गिनती हिंदी भाषा से पृथक् करनी पड़ती है।

(१७) हिन्दी की पूर्ववर्ती आर्य भाषाएँ

(लेखक—धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, इलाहाबाद)

पिछले लेख में हम दिखला चुके हैं कि भारत की अन्य वर्त्तमान आर्य्य भाषाओं के साथ ही हिन्दी भाषा का जन्म भी प्राचीन आर्यों की भाषा से हुआ है। इन प्राचीन भारतीय आर्य्यों की तत्कालीन भाषा धीरे धीरे हिंदी भाषा के रूप में कैसे परिवर्त्तित हो गई, इस लेख में इसी पर विचार किया जायगा।

आर्यों का आदिम स्थान—सबसे पहले इन भारतीय आर्यों के आदिम स्थान के संबंध में कुछ जान लेना उत्तम होगा *। हमारे

---

* हमारे प्राचीन ग्रंथों में आर्य्यों के भारत आगमन के संबंध में कोई उल्लेख नहीं है। पुराने ढंग के भारतीय विद्वानों का मत था कि आर्य्य लोगों का मूलस्थान तिब्बत में किसी जगह पर था। वहीं मनुष्य सृष्टि हुई थी और उसी स्थान से संसार में लोग फैले। भारत में आर्य्य लोग भी वहीं से आए थे।

ऋग्वेद के कुछ मंत्रों के आधार पर पूज्यवर पंडित बाल गंगाधर तिलक ने उत्तरी ध्रुव के निकटवर्त्ती प्रदेश में आर्य्यों का मूलस्थान होना प्रतिपादित किया था। इस कल्पना का खंडन करते हुए बंगाल के एक नवयुवक विद्वान् ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि आर्य्यों का मूलस्थान भारत में ही सरस्वती नदी के तट पर अथवा उसी के उद्गम के निकट हिमालय के आन्तरिक भाग में कहीं पर था। प्राचीन ग्रंथों में ब्रह्मावर्त्त देश की पवित्रता का कारण यही था। यहीं से आकर आर्य्य लोग ईरान में बसे। भारतीय आर्य्यों के पश्चिम में बसनेवाली कुछ अनार्य्य जातियाँ, जिनकी भाषा पर आर्य्य भाषा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, बाद को भगाई जाने पर यूरोप के मूलवासियों को विजय करके वहाँ जा बसी थीं। यूरोपीय उपकुल की भाषाओं

पूर्वज आर्यों का मूल वासस्थान कहाँ था, इस संबंध में बहुत मतभेद है। भाषा-विज्ञान के आधार पर युरोपीय विद्वानों का अनुमान है कि ये मध्य एशिया अथवा दक्षिण पूर्व युरोप में कहीं रहते थे। यह अनुमान इस प्रकार लगाया गया है कि भारत-यूरोपीय वर्ग के युरोपीय, ईरानी तथा भारतीय उपकुल जहाँ पर मिले हैं, उसी के आस पास कहीं इन भाषाओं के बोलनेवालों का मूल स्थान होगा; क्योंकि उसी जगह से ये लोग तीन भागों में विभक्त हुए होंगे। सबसे पहले युरोपीय शाखा अलग हो गई थी; क्योंकि उसकी भाषाओं और शेष आर्य्यों की भारत-ईरानी भाषाओं में बहुत भेद है। यह शेष आर्य्य कदाचित् बहुत समय तक साथ रहते थे। बाद को एक शाखा ईरान में जा बसी और दूसरी भारत में चली आई। इन दोनों शाखाओं के लोगों के प्राचीनतम ग्रंथ अवस्ता और ऋग्वेद हैं, जिनकी भाषा एक दूसरी से बहुत कुछ मिलती है। उच्चारण के कुछ साधारण नियमों के अनुसार परिवर्त्तन करने पर दोनों भाषाओं का रूप एक हो जाता है।

आर्य्यों का भारत में आगमन—भारत में आनेवाले आर्य्य एक ही समय में नहीं आए थे, किन्तु संभावना ऐसी है कि ये कई बार में आए होंगे। वर्तमान भारतीय आर्य्य-भाषाओं से पता चलता है कि आर्य्य लोग भारत में दो बार में अवश्य आए थे*। ऋग्वेद तथा

में इसी लिये आर्य्य भाषा के चिह्न बहुत कम पाए जाते हैं। वास्तव में वे आर्य्य भाषाएँ हैं ही नहीं।

जो कुछ हो, आर्य्यों के मूलस्थान के विषय में निश्चयपूर्वक अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। संसार के विद्वानों का, जिनमें यूरोप के विद्वानों का आधिक्य है, आजकल यही मत है कि आर्य्यों का आदिम स्थान पूर्व-यूरोप में बाल्टिक समुद्र के निकट कहीं पर था।

* भाषा शास्त्र के नियमों के अनुसार भाषाओं के सूक्ष्म भेदों पर विचार

याद के संस्कृत साहित्य में भी इसके कुछ प्रमाण मिलते हैं *। यदि वे एक दूसरे से बहुत समय के अनंतर आए होंगे, तो इनकी भाषा

करने के अनंतर हार्नले साहब भी इस मत पर पहुँचे थे। उनके मत में प्राचीन उत्तर भारत में दो भाषा-समुदाय थे, एक शौरसेनी भाषा का समुदाय तथा दूसरा मागधी भाषा का समुदाय। मागधी भाषा का प्रभाव भारत के पश्चिमोत्तर कोने तक था। शौरसेनी के दबाव के कारण पश्चिम में इसका प्रभाव धीरे धीरे कम हो गया। ग्रियर्सन महोदय भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। उनका कहना है कि शौरसेनी नवागत आर्य्यों की भाषा थी। पूर्वागत आर्य्यों की मागधी भाषा के बीच में उत्तर की ओर से घुसकर इसने पूर्व मागधी भाषा को दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया था। मागधी का केन्द्र पूर्व की ओर रह गया था, अतः पश्चिम की भाषा में उसकी विशेषताएँ धीरे धीरे क्षीण होती गईं।

* ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं से अरकोसिया का राजा दिवोदास तत्कालीन जान पड़ता है। अन्य ऋचाओं में दिवोदास के पौत्र पंजाब के राजा सुदास का समकालीन की भाँति वर्णन है। राजा सुदास की विजयों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उन्होंने पुरु नाम की एक अन्य आर्य्य जाति को, जो पूर्व में यमुना के किनारे रहती थी, विजय किया था। पुरु लोगों को 'मृध्रवाच' अशुद्ध भाषा बोलनेवाले कहकर संबोधन किया है। उत्तर भारत के आर्य्यों में इस भेद होने के चिह्न बाद को भी बराबर मिलते हैं। ऋग्वेद में ही पश्चिम के ब्राह्मण वशिष्ठ और पूर्व के क्षत्रिय विश्वामित्र की अनबन का बहुत कुछ उल्लेख है। विश्वामित्र ने क्रुद्ध होकर वशिष्ठ को 'यातुधान' अर्थात् राक्षस कहा था। यह वशिष्ठ को बहुत बुरा लगा। महाभारत का कुरु और पाञ्चालों का युद्ध भी इस भेद की ओर संकेत करता है। लैसन साहब के समय से यह मत सर्वमान्य हो गया है कि पांचाल लोग कुरुओं की अपेक्षा पहले से भारत में बसे हुए थे। रामायण से भी इस भेदभाव की कल्पना की पुष्टि होती है। महाराज दशरथ मध्य देश के पूर्व में कोशल जनपद के राजा थे, किन्तु उन्होंने विवाह मध्य देश के पश्चिम के केकय जनपद में किया था। इक्ष्वाकु लोगों का मूलस्थान सतलज के निकट इक्षुमती नदी के तट पर था।

में भी कुछ भेद हो गया होगा। पहली बार में आनेवाले आर्य्य कदाचित् काबुल की घाटी के मार्ग से आए थे; किंतु दूसरी बार में आनेवाले आर्य्य किस मार्ग से आए थे, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। संभावना ऐसी है कि ये लोग काबुल की घाटी के मार्ग से नहीं आए, किन्तु गिलगित्त और चितराल होते हुए सीधे दक्षिण की ओर उतरे थे। इस प्रकार यह दूसरी बार में आनेवाले आर्य्य पैशाची अथवा असंस्कृत आर्य्य-भाषा बोलनेवालों के अधिक निकटस्थ माने जा सकते हैं।

पंजाब में उतरने पर इन नवागत आर्य्यों को अपने पुराने भाइयों से सामना करना पड़ा होगा, जो इतने दिनों तक इनसे अलग रहने के कारण कुछ भिन्न भाषा भाषी हो गए होंगे। ये नवागत आर्य्य कदाचित् पूर्व पंजाब में सरस्वती नदी के निकट बस गए। इनके चारों ओर पूर्वागत आर्य्य बसे थे। धीरे धीरे ये नवागत आर्य्य फैले होंगे। संस्कृत साहित्य में एक 'मध्य देश' पद आता है। इसका व्यवहार आरंभ में केवल कुरु-पांचाल और उसके उत्तर के हिमालय प्रदेश के लिये हुआ है। बाद को इस शब्द से अभिप्रेत भूमिभाग की सीमा में वृद्धि हुई है। संस्कृत ग्रंथों ही के आधार पर हिमालय और विन्ध्य के बीच में तथा सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से प्रयाग तक का भूमिभाग 'मध्य देश' कहलाने लगा था। इस भूमिभाग में बसनेवाले लोग उत्तम माने गए हैं और उनकी भाषा भी प्रामाणिक गिनी गई है। कदाचित् यह नवागत आर्य्यों की ही बस्ती थी, जो अपने को पूर्वागत आर्य्यों से श्रेष्ठ समझती थी। वर्तमान आर्य्य भाषाओं में भी यह भेद स्पष्ट है। प्राचीन मध्य देश की वर्तमान भाषा हिन्दी चारों ओर की शेष आर्य्य भाषाओं से अपनी विशेषताओं के कारण पृथक् है। इसी भूमिभाग की शौरसेनी प्राकृत अन्य प्राकृतों की अपेक्षा संस्कृत के अधिक निकट की है। साहित्यिक संस्कृत की उत्पत्ति ही शौरसेन (मथुरा) प्रदेश में मानी जाती है।

प्रथम प्राकृत-काल—भारतीय आर्यों की तत्कालीन भाषा का थोड़ा बहुत रूप अब केवल ऋग्वेद में देखने को मिलता है। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना भिन्न भिन्न देश-कालों में हुई थी; किंतु उनका संपादन कदाचित् एक ही हाथ से एक ही काल में होने के कारण उसमें भाषा की विचित्रता अब अधिक नहीं पाई जाती। ऋग्वेद का संपादन पश्चिम 'मध्य देश' अर्थात् पूर्वी पंजाब और गंगा के उत्तरी भाग में हुआ था; अतः यह इस भूमिभाग के आर्यों की भाषा का बहुत कुछ पता देता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक है। आर्यों की अपनी बोल चाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में अंतर अवश्य होगा। उस समय के आर्यों की बोली का शुद्ध रूप अब हमें कहीं नहीं मिल सकता। उसकी जो थोड़ी बहुत बानगी साहित्यिक भाषा में आ गई हो, वही खोजी जाती है। ऋग्वेद के अतिरिक्त उस समय की भाषा का अन्य कोई आधार नहीं है। ऋग्वेद का रचना काल ईसा से एक सहस्र वर्ष से भी अधिक पहले का माना जाता है। इन आर्यों की शुद्ध बोली प्रथम प्राकृत कहला सकती है। इस प्रथम प्राकृत काल की बोलचाल की भाषा से मिश्रित साहित्यिक रूप ऋग्वेद में मिलता है।

आर्यों की इस साहित्यिक भाषा में परिवर्तन होता रहा। इसके नमूने ब्राह्मण ग्रंथों और सूत्र ग्रंथों में मिलते हैं। सूत्र-काल के साहित्यिक रूप को वैयाकरणों ने बाँधना आरंभ किया। पाणिनि ने (३०० ई० पू०) उसको ऐसा जकड़ा कि उस में परिवर्तन होना बिलकुल रुक गया। आर्यों की भाषा का साहित्यिक रूप संस्कृत नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसका प्रयोग उस समय से अब तक संपूर्ण भारत में विद्वान् लोग धर्म और साहित्य में करते आए हैं।

साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त आर्यों की बोल चाल की भाषा में भी परिवर्तन होता रहा। ऋग्वेद की ऋचाओं से मिलती जुलती मूल आर्यों की बोली भी धीरे धीरे बदली होगी। जिस समय

'मध्य देश' में संस्कृत साहित्यिक भाषा का स्थान ले रही थी, उस समय की वहाँ के जन समुदाय की बोली * के नमूने अब हमें कहीं प्राप्त नहीं हैं। किंतु पूर्व में मगध की बोली का तत्कालीन परिवर्तित रूप (यह ध्यान रखना चाहिए कि वैदिक काल में मगध की भी बोली भिन्न होगी) उस बोली में बुद्ध भगवान् के धर्म प्रचार करने के कारण सर्वमान्य हो गया। इस द्वितीय प्राकृत काल की मगध की बोली का थोड़ा नमूना पाली में मिलता है। वास्तव में पाली में लोगों की बोली और साहित्यिक रूप का मिश्रण है।

उत्तर भारत के आर्यों की बोली में फिर भी परिवर्तन होता रहा। आजकल के इसके भिन्न भिन्न रूप उत्तर भारत की वर्तमान बोलियों और उनके साहित्यिक रूपों में मिलते हैं। इस अंतिम काल को तृतीय प्राकृत काल नाम देना उचित होगा। हमारी हिन्दी इसी तृतीय काल की 'मध्य देश' की साहित्यिक भाषा है।

इन तीनों प्राकृत कालों के बीच में बिलकुल अलग अलग लकीरें नहीं खींची जा सकतीं। ऋग्वेद में जो एक आध रूप मिलते हैं, उनको यदि छोड़ दिया जाय, तो द्वितीय प्राकृतों के उदाहरण अधिक मात्रा में पहले पहल अशोक की धर्म-लिपियों में (२०० ई० पू०) पाए जाते हैं। यहाँ यह प्राकृत प्रारम्भिक अवस्था में नहीं है, किंतु पूर्ण विकसित रूप में है। द्वितीय प्राकृतों से तृतीय प्राकृतों में परिवर्तन इतने सूक्ष्म रूप से हुआ है कि दोनों के मध्य काल की भाषा को निश्चय रूप से किसी एक में रखना कठिन है। इन कठिन-

---

* साहित्यिक भाषा से भिन्न लोगों की यह बोलियाँ थीं अवश्य, इनके प्रमाण हमें तत्कालीन संस्कृत साहित्य में बहुत मिलते हैं। पतंजलि के समय में व्याकरण शास्त्र जाननेवाले केवल विद्वान् ब्राह्मण शुद्ध संस्कृत बोल सकते थे। अन्य ब्राह्मण अशुद्ध संस्कृत बोलते थे तथा साधारण लोग 'प्राकृत' भाषा (स्वाभाविक बोली) बोलते थे।

ताओं के होते हुए भी इन तीनों प्राकृत कालों में भाषाओं की अपनी अपनी विशेषताएँ स्पष्ट हैं। प्रथम काल में भाषा संयोगात्मक है तथा कर्ण-कटु संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग स्वतंत्रतापूर्वक किया गया है। द्वितीय काल में भी भाषा संयोगात्मक ही रही है। किंतु संयुक्त स्वरों (Dipthongs) और कर्ण कटु संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग बचाया गया है। इस काल के अंतिम साहित्यिक रूप महाराष्ट्री प्राकृतके शब्दोंमें तो प्राय केवल स्वर ही स्वर रह गए हैं, जो एक आध व्यंजन के सहारे जुड़े हुए हैं। यह अवस्था बहुत दिनों तक नहीं रह सकती थी। तृतीय काल में भाषा वियोगात्मक हो गई है और स्वरों के बीच में फिर संयुक्त वर्ण डाले जाने लगे हैं। वर्तमान वाह्य समुदाय की कुछ भाषाएँ तो आजकल फिर सयोगात्मक होने की ओर झुक रही हैं। इस प्रकार वे प्रथम प्राकृत का रूप धारण कर रही हैं। मालूम होता है कि परिवर्तन का यह चक्र पूर्ण हुए बिना न रहेगा।

द्वितीय प्राकृत काल—हमें मालूम है कि प्रथम प्राकृत काल में बोलियों का भेद वर्तमान था। उस समय कम से कम दो भेद अवश्य थे—एक पूर्व प्रदेश में पूर्वागत आर्य्यों की बोली और दूसरे पश्चिम भाग अर्थात् 'मध्य देश' में नवागत आर्य्यों की बोली, जिस का साहित्यिक रूप ऋग्वेद में मिलता है। पश्चिमोत्तर भाग की भी कोई पृथक् बोली थी या नहीं, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

(१) पाली तथा अशोक की धर्म-लिपियाँ—द्वितीय प्राकृत काल में भी बोलियों का यह भेद पाया जाता है। इस सबंध में महाराज अशोक की धर्मलिपियों से पूर्व्व का हमें कोई निश्चियात्मक प्रमाण नहीं मिलता। इन धर्मलिपियों की भाषा देखने से विदित होता है कि उस समय उत्तर भारत की भाषा में कम से कम तीन भिन्न भिन्न रूप—पूर्वी, पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तरी—अवश्य थे। कोई दक्षिणी रूप भी था या नहीं, इस सबंध में निश्चियपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस काल की साहित्यिक भाषा की प्रतिनिधि पाली के रूप में पूर्वी बोली थी।

होती गईं। व्याकरण के नियमों के अनुकूल मँजी और बँधी हुई साहित्यिक प्राकृतों के संमुख वैयाकरणों ने लोगों की इन नवीन बोलियों को 'अपभ्रंश' अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा नाम दिया। भाषा के लिये इस शब्द के प्रयुक्त होने पर भाषा-तत्ववेत्ताओं की दृष्टि में इसका वास्तविक अर्थ 'विकास को प्राप्त' होगा।

जब साहित्यिक प्राकृतें मृत भाषाएँ हो गईं, उस समय इन अपभ्रंशों का भी भाग्य जागा और इनको भी साहित्य के क्षेत्र में स्थान मिलने लगा। फिर क्या था। वैयाकरणों ने इनका भी गला घोंटना आरम्भ किया। साहित्यिक अपभ्रंशों के लेखक अपभ्रंशों का आधार प्राकृतों को मानते थे। उनके मत में यह 'प्राकृतोऽपभ्रंश' थीं। यह लेखक तत्कालीन बोली के आधार पर आवश्यक परिवर्तन करके साहित्यिक प्राकृतों को ही अपभ्रंश बना लेते थे;शुद्ध अपभ्रंश अर्थात् लोगों की असल बोली में नहीं लिखते थे। अतएव साहित्यिक प्राकृतों के समान साहित्यिक अपभ्रंशों से भी लोगों की तत्कालीन असल बोली का ठीक पता नहीं चल सकता। तो भी यदि ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय, तो उस समय की बोली पर बहुत कुछ प्रकाश अवश्य पड़ सकता है।

प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप होगा; जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश; मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रंश; महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश इत्यादि। वैयाकरणों ने अपभ्रंशों को इस प्रकार विभक्त नहीं किया था। वे केवल तीन अपभ्रंशों के साहित्यिक रूप मानते थे। इनके नाम नागर, व्राचड़ और उपनागर थे। इनमें नागर अपभ्रंश मुख्य थी। यह गुजरात के उस भाग में बोली जाती थी, जहाँ आजकल नागर ब्राह्मण बसते हैं। नागर ब्राह्मण विद्यानुराग के लिये प्रसिद्ध रहे हैं। इन्हीं के नाम से कदाचित् नागरी अक्षरों का नाम पड़ा। नागर अपभ्रंश के व्याकरण के लेखक हेमचंद्र (बारहवीं शताब्दी) गुजराती ही थे। हेमचंद्र के मतानुसार नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत था। व्राचड़ अपभ्रंश सिन्ध में बोली

जाती थी। उपनागर अपभ्रंश व्राचड़ तथा नागर के मेल से बनी थी। अतः यह पश्चिमी राजस्थान और दक्षिणी पंजाब की बोली होगी। अपभ्रंशों के संबंध में हमारे ज्ञान के मुख्य आधार हेमचंद्र हैं। इन्होंने केवल शौरसेनी (नागर) अपभ्रंश का ही वर्णन किया है। मार्कंडेय के व्याकरण से भी इन अपभ्रंशों के संबंध में अधिक सहायता नहीं मिलती। इन अपभ्रंश भाषाओं का काल छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी ईसवी तक माना जा सकता है। अपभ्रंश भाषाएँ द्वितीय प्राकृत काल की अन्तिम अवस्था की द्योतक हैं।

तृतीय प्राकृत काल—इस काल में भारत की वर्तमान आर्य्य भाषाएँ हैं। उनकी उत्पत्ति प्राकृत भाषाओं से नहीं हुई थी, किन्तु अपभ्रंशों से हुई थी। शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी, राजस्थानी और गुजराती का संबंध है। इनमें से गुजराती का संपर्क शौरसेनी के नागर अपभ्रंश के रूप से अधिक है। विहारी, बँगला, आसामी और उड़िया का संबंध मागध अपभ्रंश से है। पूर्वी हिन्दी का अर्धमागधी अपभ्रंश से तथा मराठी का महाराष्ट्री अपभ्रंश से संबंध है। वर्तमान पश्चिमोत्तरी भाषाओं का समूह शेष रह गया। भारत के इस विभाग के लिये प्राकृतों का कोई साहित्यिक रूप नहीं मिलता। सिन्धी के लिये वैयाकरणों को व्राचड़ अपभ्रंश का सहारा अवश्य है। लँहदा के लिये एक कैकय अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती है। यह व्राचड़ अपभ्रंश से मिलती जुलती होगी।

इस तृतीय प्राकृत काल की भाषाओं के जन्मकाल का निरूपण किया जा सकता है, किन्तु इसके लिये हमें "भाषा" शब्द के इतिहास पर विशेष ध्यान देना होगा। 'भाषा' शब्द 'भाष्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है 'बात चीत करना'। अतः 'भाषा' का शब्दार्थ 'बात चीत की बोली' होगी। बाण के हर्षचरित (छठी शताब्दी ईसवी) में भाषा शब्द का इस अर्थ में प्रयोग मिलता है। बाण के मित्रों में एक ईशान थे, जिनको 'भाषा कवि' कहा गया है। साथ ही एक दूसरे मित्र वायुविकार 'प्राकृत कवि' बतलाए गए हैं। यहाँ

स्पष्ट ही 'भाषा' का अर्थ छठी शताब्दी की नित्य के व्यवहार की बोली से है और 'प्राकृत' का अर्थ उस बोली के बनावटी साहित्यिक रूप से है। तात्पर्य यह है कि ईशान अपभ्रंश में कविता करते थे और वायुविकार साहित्यिक प्राकृत के कवि थे। राजशेखर (दसवीं शताब्दी ईसवी) ने चार साहित्यिक भाषाएँ मानी हैं—वाल भारत अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूत वचन (या पैशाची प्राकृत)। कल्हण की राजतरंगिणी (बारहवीं शताब्दी ईसवी) में काश्मीर के राजा हर्षदेव को, जो ग्यारहवीं शताब्दी में हुए थे, "अशेष देश भाषाज्ञ" अर्थात् 'अगणित देशों की भाषाओं का ज्ञाता' कहा है और "सर्व भाषासु" अर्थात् सब भाषाओं में कविता करने-वाला बतलाया है। इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि यहाँ देश भाषाओं से तात्पर्य उत्तर-भारत की तत्कालीन सहित्यिक बोलियों से है, जो तृतीय प्राकृत काल में व्यवहार में आने लगी थीं। काश्मीरी बोली भी इन्हीं में से एक होगी। "पिंगलार्थप्रदीप" नाम की पुस्तक (१६०१ ईसवी) में छंदों के उदाहरण स्वरूप जो श्लोक दिए हैं, वे प्राचीन पुस्तकों में से संकलित किए गए हैं। उनमें बहुत से श्लोक तत्कालीन कवियों द्वारा रचे हुए और कुछ राजाओं की प्रशंसा में हैं। इन राजाओं का शासन काल ज्ञात है। ये श्लोक भिन्न भिन्न भाषाओं में हैं। भांडारकर का कहना है कि इन श्लोकों में से कुछ महाराष्ट्री प्राकृत में हैं। कुछ श्लोक अपभ्रंश में भी हैं और इन्हों में से एक चेदिराज कर्ण की प्रशंसा में है। यह राजा कर्ण ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी के प्रथमार्ध में हुए थे। कुछ श्लोक तृतीय प्राकृत काल की भाषाओं में भी हैं। ये हम्मीर देव की प्रशंसा में हैं जिनका शासन काल तेरहवीं शताब्दी में पड़ता है। हिन्दी के आदि ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो के लेखक चंद कवि का देहावसान बार-हवीं शताब्दी ईसवी के अंत में हुआ था। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं का साहित्य में प्रयोग होना कम से कम तेरहवीं शताब्दी ईसवी के आदि से अवश्य

प्रारम्भ हो गया था और अपभ्रंशों का व्यवहार ग्यारहवीं शताब्दी तक साहित्य में होता रहा। किसी भाषा के साहित्य में व्यवहृत होने के योग्य होने में कुछ समय लगता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि द्वितीय प्राकृतों के अंतिम रूप अपभ्रंशों से तृतीय काल की वर्त्तमान भारतीय आर्य्य भाषाओं का आविर्भाव दसवीं शताब्दी ईसवी में हुआ होगा। १००० ईसवी में ही महमूद गज़नवी ने भारत पर प्रथम आक्रमण भी किया था।

इन वर्त्तमान भारतीय आर्य्य भाषाओं में हमारी हिंदी भाषा भी सम्मिलित है; अतः उसका जन्म काल भी दसवीं शताब्दी ईसवी में मानना होगा।

नोट :—इन अध्यायों की सामग्री का मुख्य आधार निम्न लिखित पुस्तकें हैं :—

(१) इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (ग्यारहवाँ संस्करण) विशेष रूप से ये लेख—फिलालोजी; इंडो-यूरोपियन लैंग्वेजेज़; पर्शिया, लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर।

(२) बुलेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरियंटल स्टडीज़, लंडन इंस्टीट्यूट, जिल्द १, भाग ३ (१९२०) तथा जिल्द २, भाग ४ में ग्रियर्सन साहब का "इंडो-एरियन वर्नाक्युलर्स" शीर्षक लेख।

(३) लैंग्वेजेज़ आफ इंडिया, १९०३।

(४) गुणे, इंट्रोडक्शन टू कम्पैरेटिव फिलालोजी।

---

(१८) प्रभास पाटन के यादव भीम के सं० १४४२ वाले शिलालेख की समीक्षा

[ना० प्र० पत्रिका भाग ४, अंक १ पृष्ठ १६० के आगे ।]

लाखा के अनंतर रावल गद्दी पर बैठा। तब खंगार ने कहा—"तुमने हमारे पिता हमीर को छल से मारा था, हम हमीर को माँगते हैं।" उस समय खंगार भी पूर्ण युवा था; बीस बाईस वर्ष की वय थी, राज्य का पूर्ण अधिकार उसके हाथ में था, उसने रावल से बदला लेने के लिये उस (रावल) पर चढ़ाई की। इनके राज्यों के मध्य में सीप नामक एक नदी है। वहाँ खंगार पहुँचा। दूसरी ओर से रावल जाम सात सहस्र सेना लेकर आया। खंगार के पास भी आठ नौ हजार के अनुमान सेना थी। दोनों तरफ मोर्चाबंदी होकर युद्ध का प्रारंभ हुआ। दिन में तो युद्ध होता था, और रात्रि में सब अपने अपने डेरे में जाकर आनंद से शयन करते थे। इधर की सेना के मनुष्य उधर की सेना में जाते आते थे। रात्रि में उनमें बंधुओं का सा व्यवहार रहता था; और दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही फिर युद्ध का आरंभ हो जाता था। नैणसी लिखता है कि इस प्रकार बारह वर्ष युद्ध हुआ। रावल और जाम में परस्पर आशापुरा देवी को मध्य में रखकर शपथ हुई थी। पर रावल जाम ने उसका उल्लंघन किया। जिससे अंत में उसका बल घटने और शत्रु का बल बढ़ने लगा।

रावल जाम ने अपना बल घटता हुआ देखकर अपने प्रधान मंत्री लाडक से कहा—"इस तरह तो हम जीत नहीं सकते, पराजय होने की सूरत है। देखो, अपना बल घटता जाता है और उनका बढ़ता जाता है। इस समय बिना किसी उपाय के काम नहीं चल सकता। तुम करो तो एक उपाय है। वह यह कि तुम वृद्ध हो; तुम अपने प्राणों का लोभ त्यागकर खंगार को छल से मार

उसी घटना की रात्रि को खंगार की सेना में कोई सरदार मर गया। वह जलाया गया, जिसे देखकर रावल ने यह समझा कि खंगार के घाव बहुत गहरा लगा था, वही मरा है। ये लोग उसे गुप्त रखते हैं। यह समझकर रावल अपनी सेना लेकर खंगार की सेना पर टूट पड़ा। उधर से खंगार की सेना आई। परस्पर संग्राम हुआ। यह युद्ध रात में शुरू हुआ था। दूसरे दिन मध्यान्ह तक खूब तलवार चली। रुधिर की गंध के मारे वीरों को अपने पराए का भी भान नहीं रहा। जो सामने आया, उसी से संग्राम हुआ। होते होते पिछला चार घड़ी दिन रह गया। उस समय राव खंगार ने सोचा कि "आज युद्ध बंद क्यों नहीं होता? शायद इस-लिये बंद न होता कि शत्रु को ऐसा भ्रम हो गया है कि रावल के घाव बहुत गहरा लगा है, जिससे वह मर गया है। शायद ऐसा ही हो, तो इसका उपाय यही है कि मैं उच्च स्थान पर खड़ा हो जाऊँ, जिससे सबको विश्वास हो जाय कि खंगार जीवित विद्यमान है।" रणक्षेत्र में उच्च स्थान कहाँ? तब एक खाट पर राव खंगार खड़ा हुआ। रावल जाम के मनुष्य, जो दिन भर अविच्छिन्न युद्ध करने से पूर्ण श्रांत हो गए थे, खंगार को जीवित देखकर हताश हुए। रावल अपनी थकी हुई सेना को पीछे हटाकर रणभूमि से निराश होकर निकल गया। डेरे पर जाकर उसने सबके समक्ष कहा कि "मैंने देवी आशापुरा की शपथ का भंग किया। उसी का यह फल है कि मेरी पराजय हुई। अब इस पृथ्वी को छोड़कर चल देना चाहिए; क्योंकि सफलता तभी प्राप्त होती है, जब दैव अनुकूल होता है। उसे तो मैंने पूर्ण रुष्ट कर दिया है। अब विजय कैसे हो?" इतना कहकर रावल वहाँ से चला गया। ३०-३५ कोस की दूरी पर जेठवा, काठी और वाढ़ेलों (राठौड़ों) के बीच में सोरठ की भूमि ६०-७० कोस तक खाली पड़ी थी। रावल जाम ने वहाँ जाकर 'नयानगर' नामक नगर बसाकर निवास किया। भाद्रेसर पर खंगार ने अपना कब्जा कर लिया। वह अब तक उसी के वंशजों के कब्जे में है।

अब रावल गिरनार के स्वामी निंगरखाँ गोरी से मिला। उसके साथ रावल की मैत्री हो गई। उसने रावल से कहा कि तुम गुजरात के बादशाह से मत मिलना। हमारे साथ मित्रता हो गई है, तो अब उसको निबाहना, और उसी मैत्री के हेतु हम तुमको तुम्हारे राज्य की वृद्धि का एक उपाय बतलाते हैं। वह यह कि तुम्हारे पार्श्ववर्ती जेठवा राजपूत केलवे में रहते हैं। उनको मारकर उनकी भूमि ले लो। काम पड़ेगा तो हम तुम्हारी सहायता करने को तैयार हैं। चिंगरखाँ ने रावल को जबानी हुक्म दे ही दिया था। अब रावल चूकनेवाला कब था? उधर जेठवा और काठियों ने एकत्र होकर परामर्श किया कि यह रावल हमारी पृथ्वी पर बलपूर्वक आ बैठा है। यदि यह यहाँ जम गया तो कभी न कभी हम लोगों को मारेगा। जब मरना ही है तो हम अभी उससे युद्ध करें। ये सब लोग मिलकर दस सहस्र हुए। उनमें से कितनों ही के पास सवारी थी और कितने ही पैदल थे। जब रावल को उनके आने की खबर मिली, तब वह भी छः हजार सेना लेकर सामने चला। परगना बरड़ा में ये दोनों शामिल हो गए। यहाँ इनका युद्ध हुआ। युद्ध के समय रावल का भाई हरधवल अपनी सेना से पृथक् हो एक हजार सवार लेकर एकाएक शत्रु की सेना पर टूट पड़ा। शत्रुओं के सरदार मारे गए, परंतु हरधवल भी जीता नहीं बचा। रावल को विजय हुई। शत्रु सेना में तीन सरदार थे—जेठवों में भीम, काठियों में हाजी और वाढ़ेलों (राठौड़ों) में भाण। ये तीनों मारे गए। शत्रु सेना भागी। रावल जाम ने इन तीनों को हटाकर उनकी भूमि पर अपना अधिकार कर लिया। जेठवा आदि यहाँ से निकलकर समुद्र के किनारे आ बसे। यहाँ उनमें जेठवा योधा महावीर और बलशाली हुआ।

सोरठ में जेठवा, वाढ़ेला और काठियों के अधिकार में ४५०० ग्राम थे—वाढ़ेलों के १,०००, काठियों के २००० और जेठवों के १,५००। इनमें से रावल जाम ने जेठवा, वाढ़ेला और काठियों की भूमि

दबाकर ४००० चार हजार ग्रामों पर अपना अधिकार कर लिया, जिससे उसका राज्य पूर्ण प्रबल हो गया। तब उसने अपने बंधुओं से कहा कि हम लोग योग्य हुए; हमने बहुत बड़ा देश अपने अधीन कर लिया है। मेरे मन में एक मनोरथ है। वह मैं आपसे कहे देता हूँ। वह यह कि पितृ-परंपरागत भूमि में से हम को खंगार ने निकाल दिया है। उस भूमि में से जब तक कुछ भाग न ले लें, तब तक हमारा मन संतुष्ट नहीं होगा। आप की सम्मति हो तो इसके निमित्त यत्न किया जाय। इसका उपाय यही है कि खंगार को किसी प्रकार दबाया जाय। रावल के कथन से सब सहमत हो गए। रावल सेना लेकर खंगार पर चला। उस समय खंगार का पुत्र ब्याहने के लिये बरात लेकर ऊमरकोट गया था; और बहुत से सरदार और राजपूत भी उसके साथ चले गए थे। यहाँ राव खंगार के पास मनुष्य बहुत कम थे। वर्षा ऋतु थी, घास नई उत्पन्न हुई थी, राव खंगार अपने घोड़ों को ताजा करने के निमित्त धीणोद के पास घोड़े चराने जा बैठा था। रावल ने अपने दूत भेजकर खबर मँगाई। दूतों ने आकर रावल से वहाँ का वृत्तांत कहा। वह यह सोचकर कि यह अवसर अति उत्तम है, ५०० सवारों के साथ एकाएक खंगार पर चला गया। राव खंगार धीणोद के पर्वत में ५० मनुष्यों के साथ था। घोड़े चरते थे। गौओं भैंसों का दूध घोड़ों के लिये बर्तनों में भरकर रक्खा गया था। इतने में तीतर बोला। तब सोढा नंदा ने खंगार से कहा कि महाराज! उठिए, शत्रु आए। राव यह सुनकर पर्वत में चला गया। पीछे से रावल आया। उसने वहाँ का दृश्य देखकर समझा कि राव अभी यहाँ से गया है। रावल विचार करने लगा कि राव तो पर्वत में चला गया, अब क्या करें। इस प्रकार रावल मन में संकल्प विकल्प कर रहा था, उसके ध्यान में कुछ नहीं आता था। खंगार के पीछे जाने में वह महा विपत्ति समझता था; और न जाने में प्रयत्न निष्फल होता था। रावल विचार में पड़ा था, उसे कुछ नहीं सूझता था। उसे देखकर

करते हो ?" यह कहकर खंगार पचास सुसज्ज सवारों का गोल बाँधकर रावल पर टूट पड़ा। खंगार ने ऐसी फुर्ती की कि रावल के दोनों तरफ जो सवार खड़े थे, उनमें से कुछ तो खंगार पर भाले चला सके और बाकी बहुतों के भाले हाथों में ही रहे। खंगार एक दम आ पड़ा। तलवार चली। रावल का प्रधान मंत्री खंगार के हाथ से मारा गया और रावल की सेना भागी। उस समय रावल ने बड़ी धीरता का काम किया। तीन बार घोड़े को उठा उठाकर खंगार पर डाला; और खंगार ने साहिब पर तलवार का प्रहार किया। परंतु उसकी आयु अवशिष्ट थी, प्रहार टोप पर लगने से साहिब बच गया। रावल बार बार घोड़े को खंगार पर लाता था। उसे देख खंगार ने उसके प्राणों के रक्षार्थ अपने सैनिकों से कहा—"सावधान, रावल न मारा जाय। इसे मत मारना।" अपने मनुष्यों से यह कहकर उसने रावल के मनुष्यों से कहा—"अपने बाप (रावल) को जल्दी निकालो"। उस समय सोढा नंदा ने रावल को भाले की बूड़ी (भाले के नीचे का भाग) से मारा। तब किसी ने नंदा से कहा—"तूने इस प्रहार में भूल की"। नंदा ने कहा—"मैंने भूल नहीं की है, साँड़ को अंकित किया है। हमारे स्वामी की आज्ञा मारने की नहीं है। यदि वैसी आज्ञा होती तो वैसा ही किया जाता।" रावल इस बात से अत्यंत कुपित हुआ। उसने फूल पर बरछी चलाई, पर वह घोड़े की काठी के अग्र भाग में लगने से टूट गई। तब रावल के राजपूतों ने कहा कि आज दैव अनुकूल नहीं है; चलो, फिर देख लेंगे। यह कहकर वे वहाँ से चले गए। रावल के पचीस मनुष्य मारे गए और खंगार के चार पाँच मनुष्य मरे।

रावल लौट आया। उस समय उसने घोड़ों को दाना देने के बहाने सबके पाहोरे मँगाए, तो एक सौ बीस पाहोरों में से भाले के फल (लोहे का बना अग्रभाग) और बूड़ी मिली। रावल को यही देखना था कि जब हमारे ऊपर शत्रु आया था, तब किस किस ने हमारी

सहायता की थी। जो रावल के हितैषी नहीं थे, उन्होंने फल और धूड़ी तो निकालकर पाहोरे में रख ली थी और खाली डंडे दिखाने के लिये हाथ में रख लिए थे। रावल ने उन स्वामि-द्रोही सैनिकों के लिये यह दंड नियत किया कि इनकी घोड़ियों के जो बछेड़ियाँ हों, वे तो उनके पास रहें, और जो बछेड़े हों, वे राज्य में भेज दिए जायँ। जिनके लिये रावल की उक्त आज्ञा हुई थी, उनके वंशजों से अब तक वैसे ही दंड लिया जाता है। तदनंतर रावल शांत होकर बैठ गया। रावल का वैभव बहुत बढ़ा, खंगार से ड्योढ़ा हो गया।

नैणसी ने अपनी पुस्तक में यदुवंशी आड़ेचों की वंशावली दो जगह लिखी है। एक स्थल में तो 'जड़ेचाँ री पीढ़ी' शीर्षक से, जिसमें संख्या १ गाहरियो नाम से आरंभ करके संख्या ३२ तमाचची नाम पर समाप्त की है। इस वंशावली* में 'भीम' नाम तीन बार आया है—

संख्या १७ भीम लोढ़ी का उत्तराधिकारी।

" २१ बड़ा भीम साहिब का उत्तराधिकारी।

" २३ अमर भीम बड़े हमीर का उत्तराधिकारी।

और दूसरी वंशावली "भीव रै वंस रा हमैं भुजनगर रा राव कच्छ रा धणी हुै पीढ़ी" इस शीर्षक से लिखी है। इसमें संख्या १ भीम से आरंभ करके संख्या १८ खंगार नाम पर समाप्त की गई है। यह संख्या १८ वाला खंगार संवत् १७२० के लगभग विद्यमान होना चाहिए; क्योंकि नैणसी ने संख्या १८ खंगार नाम पर वंशावली को समाप्त किया है, जो नैणसी के समय में विद्यमान था। इस वंशावली† में भीम नाम दो बार देखने में आता है—

१ भीम।

१३ भीम महड़ का पुत्र।

गुजरात राजस्थान नामक पुस्तक में, जो विक्रमी संवत् १६४१

* ना० प्र० पत्रिका भाग ४, अंक १, पृ० १४०

† " " " " " " " १४७

(ई० सन् १८८४) में छपी थी, भुज और जामनगर के राजाओं की वंशावली इस प्रकार लिखी है—

१ जाम लाखोजी

२ जाम रायधणजी

(भुज)	(जामनगर)
३ आठाजी	३ गजणजी
४ गोडजी	४ हालोजी
५ वेहणजी	५ रायधणजी
६ मुलवोजी	६ कुवेरजी
७ कांयोजी	७ हरधोलजी
८ अमरजी	८ हरपालजी
९ भीमजी	९ ऊनड़जी
१० हमीरजी	१० तमाचीजी
११ खंगारजी	११ हरभमजी
(संवत् १६०६ में भुजनगर राजधानी की)	
१२ भारमलजी	१२ हरधोलजी
१३ भोजराजजी	१३ लाखोजी
१४ खंगारजी	१४ रावलजी
	(संवत् १५९६ में जामनगर बसाया; सं० १६१९ में स्वर्गवास।)

इन वंशावलियों के देखने से जाना जाता है कि जामनगर के राजाओं में भीम नाम का कोई राजा नहीं हुआ। कच्छ के राजाओं में भीम हुआ। परंतु उक्त वंशावली में का भीम हमारे शिलालेख का भीम नहीं हो सकता, क्योंकि यह भीम उस खंगार के पिता हमीर का पिता था जिस खंगार ने संवत् १६०६ में भुजनगर को राजधानी नियत किया था। उक्त खंगार का पिता हमीर जामनगर के स्वामी जाम रावल का समकालीन था। बल्कि रावल के हाथ से हमीर मारा गया था। जिस रावल ने संवत् १५९६ (ई० सन् १५३९)

११ मुलुवो	११ कांयोजी
१२ महड़	१२ अमरजी
१३ भींव	१३ भीमजी
१४ हमीर	१४ हमीरजी
१५ खंगार	१५ खंगारजी
१६ भारो	१६ भारमलजी
१७ भोजराज	१७ भोजराजजी
१८ खंगार	१८ खंगारजी

दोनों वंशावलियों में संख्या १३ के भीम से नीचे के नाम तो बराबर मिलते हैं, परन्तु ऊपर के नामों में बहुत अंतर है। कई नाम आगे पीछे हैं, कई नाम अन्य ही हैं। नामों में न्यूनाधिकता भी है। इन दोनों वंशावलियों में से शुद्ध वंशावली कौन सी है, इसका निर्णय तो तभी हो सकता है जब कि वहाँ के शिलालेखों और ताम्रपत्रों आदि की जाँच की जाय। यह कर्त्तव्य वहाँ के नरेश्वर और पुरातत्व-शोधकों का है।

जामनगर के निर्माणकर्ता रावल जाम का समय पूर्णतया निश्चित है; और कच्छ का राजा हमीर और उसका पुत्र खंगार दोनों उसके समकालीन थे। जब कि रावल का समय संवत् १५८६ से १६१६ तक निश्चित है, तब हमीर का पिता भीम हमारे शिलालेख का नायक नहीं हो सकता, जिसका समय संवत् १४४२ है। तब उससे पूर्व जो भीम हुआ हो, वह होना चाहिए। अन्य वंशावलियों में तो उक्त भीम से इतर भीम दिखाई नहीं देता, नैणसी की वंशावली में दृष्टिगोचर होता है। वही संख्या १ वाला भीम हमारे शिलालेख का नायक होना चाहिए जो कच्छ के राजाओं का मूल पुरुष था। नैणसी के संख्या १ वाले भीम का समय इस शिलालेख के अनुकूल होने से नैणसी की वंशावली शुद्ध प्रतीत होती है। और यादव भीम के साथ शिलालेख में धर्म नामक राठोड़ का भी नाम

है, जिसे भीम यादव की कन्या यमुना ब्याही थी। यह वाढेला राठौड़ होना चाहिए।

वाढेला राठौड़ों के ठिकाने सोरठ में हैं। तवारीख फरिश्ता में वाढ़ेलों के तीन ठिकाने लिखे हैं—

१—जगत् (जिसे द्वारका कहते हैं)।

२—अरामड़ा—मारवाड़ की ख्यातियों में इसका नाम रामड़ा लिखा मिलता है।

३—धारही—फरिश्ता लिखता है कि यह शंखोद्धार होना चाहिए।

जब जोधपुर के महाराज अजीतसिंह जी गुजरात के सूबेदार थे, तब अहमदाबाद से द्वारका यात्रा को गए थे। उनके मार्ग में रामड़ानगर आया था। महाराज का रामड़ा में मुकाम हुआ था। वहाँ रामड़ा का वाढेला राठौर भोजराज महाराज के पास हाजिर हुआ था। उसने महाराज की आज्ञा से शंखोद्धार जाने के लिये नावों का प्रबंध किया था।

वाढेला राठौड़ों की वंशावली अब तक नहीं मिली है, इसलिये उक्त धर्म राठौड़ का पता नहीं चल सकता। वाढेलों का इतिहास हस्तगत होने पर वह भी प्रकाशित कर दिया जायगा।

---

(१९) हिन्दी श्रीहर्ष

[लेखक—बाबू जगन्मोहन वर्मा, काशी]

नैषध चरित का नाम अपरिचित नहीं है। यह संस्कृत में एक प्रधान काव्य है और संस्कृत के साहित्य-भांडार का एक अमूल्य रत्न है। इसके रचयिता हैं महाकवि श्रीहर्ष। श्रीहर्ष जी संस्कृत के प्रकांड पंडित और कवि ही नहीं थे, अपितु अपने समय के बहुत बड़े दार्शनिक भी थे। इनका बनाया खंडनखंडखाद्य नामक ग्रंथ अब तक विद्यमान है और नैषध चरित में पद पद पर दार्शनिक विचार कूट कूटकर भरे हैं। श्रीहर्ष काशी के राजा कान्यकुब्जेश्वर गोविंदचंद्र के आश्रित थे और काशी ही में रहकर उन्होंने इस ग्रंथकी रचना की थी। संस्कृत भाषा में इस अपूर्व ग्रंथ पर तेइस टीकाएँ हैं। इसी से इस ग्रंथ की गंभीरता और दुर्बोध्य का प्रमाण मिलता है। ऐसा अपूर्व और कठिन पुस्तक का अनुवाद हिंदी भाषा में, सो भी पद्य में, गुमानोपनामक सर्वसुख मिश्र ने संवत् १८२५ में किया था जिसका नाम काव्यकलानिधि है। ये सर्वसुख मिश्र महम्मदी जिला खेरी के राजा अकबर अली खाँ* के आश्रित थे और उन्हीं

---

* राजा अकबरअली खाँ के पिता का नाम अब्दुल्लाहखाँ था। यह सोमवंशी क्षत्रिय थे जिनको औरंगाबाद के सैयद खुर्रम ने मुसलमान करके अपनी लड़की ब्याह दी थी। इनका असल नाम बदरसिंह था। वह अपने भाई बहादुरसिंह के साथ अपने नाना दानशाह अहिवशी के यहाँ बदिय गाँव परगना गोपामऊ जि० हरदोई में रहते थे। सैय्यद खुर्रम ने सन् १७०० में दानशाह पर आक्रमण किया और सारे गाँववालों को मारकर बदरसिंह और बहादुरसिंह दो नाबालिग लड़कों को पकड़ लिया। बहादुरसिंह को उसने छोड़ दिया, पर बड़े भाई बहादुरसिंह को मुसलमान बना लिया। यह बदर उस की सेना का नायक और उसके राज्य का प्रबंधकर्ता हुआ। सन् १७०९ में खुर्रम मर गया और उसके स्थान पर मुहम्मदअली अधिपति हुआ। खुर्रम के एक और लड़का एक हिंदू स्त्री से इमामुद्दीनखाँ नामक था। इसने आधिपत्य के लिये विवाद आरंभ किया। अब्दुल्लाह ने उसकी सहायता की। पर मुहम्मदअलीने

की आज्ञा से उन्होंने इस ग्रंथकी रचना की थी। वे स्वयं लिखते हैं—

मिश्र सर्वसुख सुकविवर, श्रीगुरु चरण मनाइ।
बरनि कथा हौं कहतु हौं ह्वैहै धर्म सहाइ॥
संयुत प्रकृति पुराण सों संवत्सर निरदंभ।
सुरगुरु सद सित सत्तमी कियो ग्रंथ प्रारंभ॥(आरंभ)
कविकुल मुकुटनि माहँ हीर सम कीरति राजै।
पिता हीर परसिद्ध जासुमति सुरगुरु लाजै॥
मामल देवी माय पुण्य पतिव्रत गिरिजा सी।
सकल मुक्ति की दानि साधु सेवत जो धासी॥
तेहि तनय भयो श्रीहर्ष कवि हरख भारती तत्र को।
भव भाजन परम प्रसादमय जो चिन्तामणि मंत्र को॥

सारी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया और इमामुद्दीन की माता को बंदी कर लिया। अब्दुल्लाह बड़ी चालाकी से उसे बंदी से छुड़ा, इमामुद्दीन को साथ ले १७२६ में भाग कर दिल्ली गया। वहाँ दिल्ली के सम्राट् मुहम्मदशाह से प्रार्थना की और दो वर्ष तक वहीं प्रयत्न करता रहा। मुहम्मदशाह से परवानगी लेकर सन् १७१८ में वह दिल्ली से लौटा और नवाब वज़ीर सआदतअली खाँ की सहायता से सारी सम्पत्ति पर इमामुद्दीन की माता का अधिकार करा दिया। १७१६ में दूसरे वर्ष इमामुद्दीन की माता मर गई। अबदुल्लाह ने राजा नवलराय के साथ मिलकर सारी सम्पत्ति पर अपना अधिकार कर लिया और मुहम्मदी में नहदनवाकर राजा की उपाधि ग्रहण की। अबदुल्लाह खाँ का देहांत १७१७ में हुआ। उसके तीन पुत्र थे। उसके मरने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र महबूबअली खाँ महम्मदी का राजा हुआ, पर वह पाँच बरस बाद १७४२ में मर गया। महबूब अली के बाद उसका मँझला भाई दस वर्ष तक राजगद्दी पर रहा। उसका देहांत होने पर राज्य के लिये सबसे छोटे भाई अलीअकबर खाँ और महबूबअली के पुत्र गुलाम मुहम्मद में विवाद उत्पन्न हुआ। अली अकबर १७५७ में अपने भतीजे गुलाम मुहम्मद का घात कर स्वयं महम्मदी का राजा हुआ, पर महबूबअली खाँ की रानी ने सेना लेकर अलीअकबर का सामना किया और अलीअकबर रणभूमि से हार खाकर भागा। फिर अन्त को दोनों में संधि हो गई। अली अकबर सन् १७७५ तक महम्मदी का राजा रहा और उसके अनंतर उसका भतीजा गुलाम मुहम्मद का भाई गुलाम नबी महम्मदी की गद्दी पर बैठा। अलीअकबर पंडित और हिन्दी कवियों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में गुमान के अतिरिक्त मेघनाथ और निधान आदि कवि भी थे।

* * * *

कनउज पति नरनाह जाहि उठि आसन साजै।
सभा माँहि सनमानि पान दै सुजस-समाजै॥
चरचा मम्मट भट्ट संग पट मास सुहाई।
जिन धरिकै बहु भाँति वागदेवी लड़वाई॥
सुचि पुन्य पियूख विचित्र रस ब्यास देव बरनी भली।
नलराज कथा नैषध वही तिहूँ लोक कीरति चली॥
रचे सरग बाईस जाहि कवि ईस सराहैं।
अति पद व्यंजक मंजु रीति गुण गण उतसाहैं॥
पूरब अरध अनूप गनत दुइ सहस सलोने।
इसलोक सैंतीस अधिक पावैं जन टोने॥
द्वै सहस चारि इसलोक सों उत्तर अरध सँवारिकै।
सब सहस चारि इसलोक औ इकतालीस बिचारिकै।
जाँ साहिब के सुजस वर श्रीगुरु चरन सहाइ।
सो विचार अनुसार मत भाषा रच्यों वनाइ॥

गुमान का यह ग्रंथ केवल अनुवाद ही नहीं है; इसमें कितने ही स्थलों में कवि ने अपनी प्रतिभा और कवित्व शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। पहले तो नैषधचरित जैसे क्लिष्ट ग्रंथ के अर्थ का समझना ही कठिन है; फिर उसे पद्य में अनुवाद करना और भी दुःसाध्य है। पर परम विद्वान सर्वसुख मिश्र ने इस दुरूह ग्रंथ का अनुवाद बड़ी योग्यता और पांडित्य से किया है। इतने बड़े कठिन महाकाव्य को, जिसे पढ़ाने में बड़े बड़े पंडितों की बुद्धि चकराती है, अपने सरल भाषानुवादसे पानी कर दिया है। इससे अनुमान होता है कि वह संस्कृत के कैसे धुरंधर विद्वान् और भाषा के अपूर्व कवि थे।

हिन्दी भाषा में रामचंद्रिका के बाद यही दूसरा महाकाव्य है। संस्कृत के नैषधचरित में बाईस सर्ग हैं; पर गुमान ने काव्यकलानिधि में उपोद्घात के अतिरिक्त आदि में एक और सर्ग जोड़कर जिसमें निषध देश का वर्णन है, तेइस सर्ग कर दिए हैं। अनुवाद

कहीं कहीं अक्षरशः, कहीं भावतः और कहीं संक्षेपतः किया है और कितने ही स्थलों पर अपनी प्रतिभा की भी झलक दिखाई है। अतः यह ग्रंथ मौलिक और अनुवाद दोनों कहे जाने योग्य है। हिन्दी भाषा के लिये यह दुःख की बात है कि जिस नैषधचरित की संस्कृत में बीसों टीकाएँ हैं और अनेक संस्करण अच्छे से अच्छे निकल चुके हैं और निकलते जा रहे हैं, उसके अनुवाद या छायारूप 'काव्यकलाधर' की टीका की तो कौन कहे, आज तक कोई अच्छा संस्करण भी नहीं मिलता। श्रीवेंकटेश्वर का छपा केवल एक संस्करण मिलता है जिसे सेठ खेमराज श्रीकृष्णदास ने सम्वत् १९५२ में प्रकाशित किया था। पर यह इतना अशुद्ध है कि उसे प्रकाशित करने से तो न प्रकाशित रहना ही भला था। उससे तो हिंदी साहित्य का उपकार की जगह अपकार ही हुआ है। अस्तु।

गुमान की कविता भूषण के टक्कर की ओजस्विनी है *। हम यहाँ उसके कुछ पद उदाहरण स्वरूप देते हैं:—

---

* भूषण की कविता से मिलाइये:—

बाजि मतवारे जहाँ दुरद निहारियत
तुरगन ही में चंचलाई परतीति है।
भूषन भनत जहाँ पर लगैं बानन में
कोक पच्छिनहि माहि बिछुरन रीति है॥
गुनिगन चोर जहाँ एक चित ही के
लोक बँधे जहाँ एक सरजा की गुनप्रीति है।
कंप कदली में बारि बुंद बदली में
सिवराज अदली के राज में यों राजनीति है॥ १॥

रैया राव चंपत को चढ़ो छत्रसाल सिंह
भूषन भनत समसेर जोम जमकै।
भादों की घटा सी उठी गरदैं गगन घेरैं
सेलैं समसेरैं फिरैं दामिनी सी दमकैं॥
खान उमरावन के, आन राजा रावन के
सुनि सुनि उर लागैं घन कैसी धमकैं।
बैहर बगारन की अरि के अगारन की
लाँघती पगारन नगारन की धमकैं॥ २॥

दुजनि की हानि जहाँ बिरधापनोई करै
गुन लोप होत इक मोतिन के हार ही।
टूटे मनिमालै निर्गुन, हरताल लगै
पोथिन ही, रंक मन कलह बिचारही।
संकरबरन पसु पच्छिन महँ पाइयत
अलकही पारैं अरु भंग निरधारही।
जुग जुग राजै राज अली अकबर
सुरराज के समाज जाके राज पर वारही ॥१॥
थर थर हालैं धर धर धुंधकारनि सों
धीर नर तजै जे धरैया बलबाह के।
फूटत पताल ताल सागर सुपात सात
जात हय उड़ात ब्योम बिहग बलाहके।
झालरि झुकत झलकत झबा पीलन पै
अली अकबर खाँ के सुभट सराह के।
अरि उर रोट सोर परत सँसार घोर
बाजत नागर नरबर नरनाह के ॥२॥
दिग्गज दबत दबकत दिगपाल भूरि
धूरि की धुँधेरी सों अँधेरी आभा भान की।
धाम औ धरा को माल बाल अबला को
अरि तजत परान राह चाहत परान की।
सैयद समरथ भूप अली अकबर को
दल चलत बजाइ मारु दुंदुभी धुकान की।
फेरि फेरि फणनि फणीस उलटतु ऐसे
ढोली खोलि उलटै ज्यों तमोली पाके पान की ॥३॥

गुमान का नैषध नगर का वर्णन भी किसी कवि से घटकर नहीं है और बड़ा ही पांडित्यपूर्ण है। यथाः—

ताने बिशद बितान लाल झालरि झुकि झूमैं।
मौंन सुधाधरबिंब प्रात रबि की छबि चूमैं॥

बँगला बने अनेक लाल सित स्याम सुहावन।
गृह द्युति सागर माँह मनों फूले सरोजवन॥
कहुँ लरत गजराज बाघ हरिना कहुँ जूझत।
मल्लयुद्ध कहुँ होत मेष वृष महिष अरूझत॥
कहुँ नटत नट कोटि भाँट बतलावत गुनगनि।
कहुँ यज्ञ के ठाठ वेद गावत सुख मुनिगनि॥
कहुँ गनक गनत जोगी जपत तंत्र मंत्र मत विरत नित।
कहुँ करत चारु चरचा भली कवित चित्र की चतुरचित॥

कहीं कहीं तो गुमान की सूझ और उक्ति ऐसी है कि कलम चूमने को जी चाहता है, जैसेः—

जहँ दुर्वासा तप कियो कंटक लागो पाँइ।
शाप दियो ता देस ते डारो दर्भ नसाइ॥
सुख सों विहरत वनन में विद्याधर सुरसिद्ध।
तब ते त्रिभुवन में भयो देस विदर्भ प्रसिद्ध॥

क्या अच्छी कल्पना है! विदर्भ की ऐसी अच्छी निरुक्ति की है जो व्यासदेव को भी न सूझी थी।

पुनः—

ईश विलोचन पावक सों लपटो अँग अंग अनंग पराग्यो।
नाभि सुधारस की सरसी लखि झाँपि रह्यो यहि माहँ बुझाग्यो॥
ताते कढ़ी यह धूम लता अति सूक्ष्म सुंदर रूप बखान्यो।
सोइ परंगिनि की बरनो नवरोमवली मन है ठहरान्यो॥

क्या अनूठी उक्ति है, कैसी अद्भुत कल्पना है! बलिहारी इस सूझ की। गुमान की यह सूझ और कल्पना केवल अपनी ही स्वतंत्र रचना में नहीं है, कहीं कहीं अनुवाद में भी आपने ऐसी अलौकिक कल्पना और प्रतिभा दिखलाई है जिसने महाकवि श्रीहर्ष की उक्ति पर सोने में सुगंधि उत्पन्न कर दी है।

करि अंश दिगीसन के इक ठौर।
पिरच्यो नलमूरति रूप न और॥

तिसरी दश अधिक बेदमयी है।
सब लोग देखावन काज भई है ॥ सर्ग २।

यह श्रीहर्ष के इस श्लोक का अनुवाद है:—

दिगीशवृंदांशविभूतिरीशिता
दिशां स कामप्रसरावरोधिनीम्।
बभार शास्त्राणि दृशं द्वयाधिकां
निजत्रिनेत्रावतरत्वबोधिकाम्। सर्ग० १ श्लो० ६।

कैसा दरिया को कूज़े में भर दिया है। यह श्लोक साधारण नहीं है। इस पर संस्कृत के टीकाकारों ने सफहे के सफहे स्याह कर डाले हैं और तब इसके आशय को समझा सके हैं।

बिधि भाल दरिद्र लिखो जेहि के,
नहि कीजत अंक वृथा तेहि के।
नल एतिक ताहि तुरंत दिये,
दारिद्र को दारिद दूर किये ॥ सर्ग २।

नैषधचरित में इसका मूल श्लोक यह है:—

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं
लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः
प्रणीय दारिद्र्य दरिद्रतां नलः। सर्ग १ श्लो० १५।

कैसी सरल भाषा में गंभीर आशय प्रकट किया है। और लीजिए:—

बिंदुमती की चातुरी तैं जु करी निरधार।
योंही तैं संसार यह निहचै भयो ससार ॥ सर्ग १०

इसका मूल इस प्रकार है:—

चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी
घनाश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवात्तव।
ममारनारादि ससारमात्मना
तनोषि संसारमसंशयं यतः॥ सर्ग ६ श्लो० १०५

कितने थोड़े शब्दों में श्लोकगत गूढ़ाशय को व्यक्त किया है! अब आपके संक्षिप्त छायानुवाद का उदाहरण लीजिए—

देखु कले! कछु नैन चले,
मुख नैन इन्हें सो चले! पहिचाने।
काँपत ओठ तके तुम मेनके!
बोलति कल्पलते! सुन कानै॥
चारुमती तनु आँचर झाँपहि,
केशिनि केशन को गहि आनै।
पोंछु तरंगिनि! नैनन सों,
जलधार बहै सरिता सर तानै॥ सर्ग ५।

संस्कृत श्लोकों के भावों से मिलाइए और देखिए, कैसा आशयानुवाद थोड़े शब्दों में किया है। चने की दाल पर चित्रकारी की है:—

अथ कले कलयश्वसितस्फुटं चलति पक्ष्मचले परिभावय।
अधरकम्पनमुच्चय मेनके किमपि जल्पति कल्पलते शृणु॥
रचय चारुमते स्तनयोर्वृतिं कलय केशिनि केशयमसंयतम्।
अवगृहाण तरंगिणि नेत्रयोर्जलझराविति शुश्रुविरे गिरः॥

स० ४, श्लोक ११२-११४

अब विशदानुवाद का उदाहरण लीजिए:—

अनल मैं न करी अभिलाष मैं। सजहि वेग हमें किन राख मैं॥
निषध देश चलौ उड़ि वायु सौं। समय पाइ मिलौं नल पायँ सौं॥
अहह विरंचि बड़े तुम धीर हो। पर मनोरथ भंजन-वीर हो॥
जियहु कोटि वरीसन आइ कै। पियहु मो तन प्राण अघाइ कै॥

सर्ग १०

त्वरस्व पञ्चेषु हुताशनात्मनः स्तनुष्व मद्भस्ममयं यशःश्रयम्।
विधेः परेहाफल भक्षणव्रती पताच तृप्यत्वसुभिर्यमाफलैः॥

सर्ग ६, श्लोक ८८

क्या अच्छी सूझ है! पंचेषु से अग्नि प्रदीप्त कराके उससे यशःशैत्य चुनवाने की कल्पना श्रीहर्ष ने की जिससे कोई निजी लाभ न

था। पर गुमानने कामाग्नि से यह कामना कराई कि तू अपनी ज्वाला में जलाकर राख कर दे जिसमें मैं राख होकर वायु से उड़कर निषध देश में पहुँचूँ और अपने प्रियतम नल के पद को स्पर्श करूँ। कितनी बढ़िया कल्पना है! कमाल कर दिखाया है। एक पथ दो काज। शरीर का वियोग से जलना और प्रियतम से मिलना।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक अनोखी कल्पनाएँ हैं जो कवि की कविता में पद पद पर मिलती हैं। क्या ही अच्छा होता यदि कोई सहृदय प्रकाशक इस अनोखे ग्रंथ का एक अच्छा संस्करण निकाल कर इसका उद्धार करते। मेरा ध्यान इस ग्रंथ की ओर इसी वर्ष गया। कारण यह था कि इस पुस्तक को हिंदू यूनिवर्सिटी की एम० ए० परीक्षा की पाठ्य पुस्तकों में रखा गया और मुझे अपने ज्येष्ठ पुत्र चिरंजीव सत्यजीवन वर्मा को पढ़ाने के लिये इसे ध्यानपूर्वक देखने का अवसर प्राप्त हुआ। मुझे तो यह ग्रंथ काव्य और भाषा की दृष्टि से हिंदी साहित्य का एक अमूल्य रत्न प्रतीत होता है। पर जहाँ रामचंद्रिका तक का कोई शुद्ध संस्करण हिंदी भाषा में अब तक नहीं निकल पाया है, वहाँ इस अमूल्य ग्रंथ का उद्धार होने की कम आशा है।

कविवर गदाधर जी

[लेखक—प० रामनारायण मिश्र बी० एस सी०]

अवध के रायबरेली जिले में हसनपुर नामक एक ग्राम है। कविवर गदाधर जी वहीं रहा करते थे। इनका जन्म बगसर में हुआ था। जन्मतिथि का ठीक पता नहीं लगता। कुछ लोग इनका जन्म काल १८०८ विक्रमी बतलाते हैं। काव्य इन्होंने बगसर में ही पढ़ा था। वहाँ के तत्कालीन राजा अमानसिंह जी इन पर बड़ी कृपा रखते थे। राज भण्डार से इन्हें भोजन की सामग्री मिल जाया करती थी फिर भी गरीबी के कारण कुटुम्ब की रक्षा के लिये प्रायः भिक्षाटन करना पड़ता था। बाल्यकाल में इन्होंने सारस्वतचन्द्रिका, अमरकोष और रघुवंश आदि काव्य ग्रंथ पढ़े थे। बगसर से थोड़ी दूर पर इन्होंने अपने रहने का मकान अलग बनवाया था। वहाँ धीरे धीरे और लोग आकर रहने लगे और एक छोटा सा गाँव बस गया जिसका नाम गदाधर जी ने काशीखेड़ा रक्खा। यह गाँव अब भी मौजूद है।

गदाधर जी कान्यकुब्ज ब्राह्मण, पाठक के शुक्ल थे। इनकी ननसाल रायबरेली जिले के पारा नामक गाँव में थी। बड़े होने पर यह वहाँ जाकर रहने लगे। वहाँ यह अपने मामा बेनीराम के पास पाँच वर्ष रहे। परंतु वहाँ के रघुवंशी ठाकुरों से लड़ाई हो जाने की वजह से यह वहाँ से हटकर पूर्व और कोटवा नामक ग्राम में रहने लगे। वहाँ के मुसलमान ज़मींदार ने इनका बड़ा मान किया और हसनपुर में गुरुऊ चौधरी के यहाँ इन्हें बसाया। यहाँ इनकी पाण्डित्य-प्रतिभा का उदय हुआ। श्रीमद्भागवत की कथा कहकर इन्होंने स्थानीय ज़मींदारों से अपने लिये ज़मीन और बाग़ इत्यादि प्राप्त किए।

हसनपुर से छः कोस पर चन्दापुर नामक एक राज्य है। यहाँ के तत्कालीन राजा दिग्विजयसिंह ने इनकी प्रशंसा सुनकर इन्हें

दिग्विजयसिंह से मिले। महाराज ने इनसे प्रश्न किया कि जगन्नाथ जी हाथ पैर-विहीन क्यों हैं। इसका जवाब इन्होंने जिस कवित्त में दिया, वह तो नहीं मिलता। पर उसका आशय यह था :—

"मैंने जगन्नाथ जी से स्वप्न में उनके हाथ पैर विहीन होने का कारण पूछा। इस पर उन्होंने स्वयं कहा—मेरे हाथ राजा दिग्विजयसिंह की पीठ पर और चरण उनके हृदय में हैं, इससे नहीं दिखाई देते।"

क्या खूब! कमाल है। कैसी लाजवाब कल्पना है!

आगे चलकर, देखिए, गदाधर जी के काव्य रस की धारा कितनी मधुर है, वर्णन शैली कितनी मनोहर है।

शृंगारचंद्रिका में मध्याधीरा नायिका का वर्णन करते हुए कैसा अच्छा चित्र खींचते हैं :—

तुम्ह ऐसे साधुन को लागै अपराध कैसे जदपि कपिल कहीं झूठी फुरी खलकैं। राति जितै जात तितै चोर से कहाये तुम आये इतै भोर ताते साह जाने मलकैं। भाल है न जावक गदाधर न नैन लाल, ओठ में अंजन, न पीक लागी पलकैं। दरपन से अमल निहारे कान्ह आनन में मेरी बेंदी मनिन के प्रतिबिंब झलकैं।

क्या ही कटाक्षपूर्ण व्यंग्य है, पर कैसी सरस और शीलभरी शब्दावली है!

गदाधर जी का "भ्रमरगीत" भी बड़ा ही मनोहर ग्रंथ है। परंतु खेद है, इसका प्रकाशन अभी तक नहीं हो पाया। इसमें किस श्रेणी की कविता है, इसका अनुमान सहृदय पाठक निम्नलिखित पद्यों से स्वयं कर सकते हैं—

धरि केशव शिशु नन्द-घरनि पै मचले माँगत माखन।
बेली थमन मथनिया गहि नहि कहि ठुनकन कल भाखन॥
आरि पसारि उलटि कर मींजत दृग गंजन पल पाखन।
कंज पाखुरी सरिस अँगुरियन धरो बतावत ताखन॥

हमहीं तनय तिहारे जननी चहत कौन हित रावन।
मैया मोहिं सौंह बाबा की भूख लगी दे माखन॥
नमक दहेंड़ी फोरि पईहौं तैं तकिहै निज आँगन।
तेरे डरन द्वार भगि ऐहौं राखि सखा जन साखन॥
बाल विनोद मोद लखि जसुदा पूजत मन अभिलाखन।
लखि सिद्धांत शारदा गदाधर सुकृत सराहत लाखन॥

कृष्णजी की बाललीला का वर्णन कितनी मधुर और सरस भाषा में किया गया है! बाल चापल्य की कैसी मोहनी प्रतिमूर्ति है। 'माखन' के लिये इस प्रकार मचलने का ढंग कैसा स्वाभाविक और सुन्दर है। प्राकृतिक व्यंजना और कोमलकांत पदावली पर ध्यान देने से कविता का महत्त्व प्रकट होता है।

'सुदामाचरित्र' में आपने सुदामा जी के भोजन आदि का सत्कार श्रीकृष्ण के द्वारा किस भाँति कराया है, इसकी झलक नीचे लिखे पद्यों से प्रकट होती है—

प्राचीन सभ्यता तथा भारतीय आतिथ्य का कैसा सुंदर दिग्दर्शन है!

भोजन की सामग्री तैयार करने का गदाधर जी को कदाचित् विशेष ज्ञान था। इस विषय पर 'भोजनमाला' नामक संस्कृत ग्रंथ ही आपने लिख डाला है। इस ग्रंथ में विविध भोज्य पदार्थों का वर्णन है। वहीं के बड़े का कैसा कवित्वमय वर्णन है, देखिए—

हिंग्वेला नवनीत तीक्ष्ण लवणास्वन्माष पिष्ठोद्भवा।
स्नेहे निर्जल शोधले कटुनरे पक्वा सभा सारुणा॥
तक्रे रामठ जीरकैः कलुषते मग्नोस्थितः चन्द्रमन्।
दुग्धाब्धौ वटकास्तयेव भगवान् जाभुक्तवान् भूधरान्॥

गदाधरजी ने अनेक स्फुट रचनाएँ भी की हैं जो प्रायः उनके प्रान्त के लोगों को कंठाग्र याद मिलती हैं। उदाहरणार्थ एक सवैया नीचे दिया जाता है—

बश है मुरली सुरलीन किधौं किधौं कूल कलिंदी के टोहन गो।
किधौं पीत पटा अरु या लकुटी किधौं मोर-पखा छवि जोहन गो।
किधौं लाल के माल के मध्य फँस्यो किधौं काम कमान सी भौंहन गो।
हम कासों गदाधर योग करैं मन तो मनमोहन गोहन गो॥

विरहाकुल ब्रजांगनाओं का ऊधो जी से कैसा युक्तिपूर्ण प्रस्ताव है! हम भी इसका अनुमोदन करेंगे। निःसंदेह जब मन ही पास नहीं, तब बेचारी गोपिकाएँ योगाभ्यास कैसे करें?

एक जगह पर गदाधर जी ने एक कवित्त में गोपिकाओं द्वारा ऊधो के प्रस्ताव को निरर्थक और अनावश्यक साबित कर दिया है।

पुहुप प्रवालन की गूदरी गले में मेलि
चेली श्याम सेली सबै अंग पर काज के।
किंशुक धुनी के पास मौन है अकास आस
खड़े एक पाय के अपाय लोक लाज के।
सहैं सीत घाम नित नहैं न विभूति चित्त
योजी हैं गदाधर जू गोरख समाज के।

था शिवदत्त जी। शिवदत्त जी ने केवल साधारण पूजा-पाठ सीखा था। वे घर की महाजनी का कार बार करते थे।

इनके प्रपौत्र पं० शिवमंगल जी अभी हसनपूर में रहते हैं। इनके पास गदाधर जी के काव्य ग्रन्थ और सनदें अभी तक मौजूद हैं।

गदाधर जी लगभग ८० वर्ष की आयु व्यतीत कर अंत में डलमऊ नामक स्थान में गंगा के किनारे परलोकवासी हुए। किम्वदन्ती है कि इन्होंने गंगा की धारा में खड़े होकर प्राण विसर्जित किए थे। अपने अंतिम समय में गंगा जी की स्तुति में इन्होंने निम्न लिखित कवित्त कहे थेः—

देनी अपवर्ग की निसेनी स्वर्ग हू की आनि
गंगा जू ! न ताते आन देव अनुरागऊँ।
तेरो बल पाय छाँड़े सकल उपाय जेते
दूरिकै गदाधर विराग जय जागऊँ।
कर्म काल त्रिगुन विनास की न आस मेरे
आनि पाप आपने अनेक एक माँगऊँ।
बसत तिहारे तीर, देखत तरंग भीर
पीवत अमल नीर हौं शरीर त्यागऊँ॥ १॥

करम कुअंक काटि रंक ते धनेश करै
पापिन की भेंट मेटे कालिन्दी के भैया तैं।
अरथ, धरम, काम, मोख-दुध देनहारी
विबुध गदाधर को कामधेनु गैया तैं।
विरची विरंचि चक्रपानि चरनोदक तैं
भारी भवसागर के तारिबै को नैया तैं।
निज मैया मरे जाहि अंक तैं बसावै ताहि
अंक लै बसावै सुर संग गंग मैया तैं॥ २॥

भूषण और मतिराम

(लेखक— पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित)

गत वर्ष जिस समय मैं फतहपुर जिले में भ्रमण कर रहा था, उस समय असनी निवासी पं० कन्हैयालाल भट्ट महापात्र के यहाँ जो कि महाकवि नरहरि महापात्र के वंशज हैं, "वृत्तकौमुदी" नामक एक ग्रंथ खोज में मिला था।

यह ग्रंथ महाकवि मतिराम का रचा हुआ है। इसका निर्माण काल सं० १७५८ वि० है, जैसा कि इस दोहे से विदित होता है—

सवत सत्रह सै बरस, अट्ठावन सुभ साल।
कार्तिक शुक्ल त्रयोदसी, करि विचार तेहि काल।

यह वृत्तकौमुदी ग्रंथ राजवंशावतंस श्री स्वरूपसिंह देव के हितार्थ रचा गया है, जैसा कि ग्रंथ में वर्णन किया गया है—

वृत्तकौमुदी ग्रंथ की, सरसी सिंह सरूप।
रची सुकवि मतिराम सों, पढ़ौ सुनौ कवि रूप॥

कवि ने अपने वंशादि का परिचय भी निम्नलिखित पद्यों में दिया है—

तिरपाठी वनपुर बसै, वत्स गोत्र सुनि गेह।
विबुध चक्रमनि पुत्र तहँ, गिरधर गिरधर देह॥२१॥
भूमिदेव बलभद्र हुव, तिनहिं तनुज मुनि मान।
मंडित पंडित मंडली, मंडन मही महान॥२२॥
तिनके तनय उदारमति, विश्वनाथ हुव नाम।
दुतिधर श्रुतिधर को अनुज, सकल गुनन को धाम॥२३॥
तासु पुत्र मतिराम कवि, निज मति के अनुसार।
सिंह सरूप सुजान को, बरन्यो सुजस अपार॥२४॥

इससे प्रतीत होता है कि मतिराम कवि वनपुर निवासी वत्स गोत्रीय पं० चक्रमणि त्रिपाठी के पुत्र रत्न पं० गिरिधर के प्रपौत्र,

मेरे विचार से "वनपुर" तिकवाँपुर से भिन्न अंतर्वेद का दूसरा ग्राम है। विनोद के पृ० ५६४ में इसका वर्णन किया गया है। इंद्रजी त्रिपाठी यहीं हुए जो सं० १७४२ में वर्तमान थे। जब यह निश्चित हो गया कि भूषण और मतिराम सहोदर भाई नहीं थे, तब कुछ सज्जनों ने यह शंका उत्पन्न कर दी कि इस वृत्तकौमुदी ग्रंथ के रचयिता मतिराम और भूषण के भाई मतिराम भिन्न भिन्न व्यक्ति थे।

इस शंका का समाधन हुए बिना उपर्युक्त सिद्धांत ही अपूर्ण रह जाता है। इस बात की जाँच करना भी उचित प्रतीत होता है। ललितललाम और रसराज के रचयिता मतिराम और वृत्त कौमुदी के रचयिता मतिराम दोनों का समय एक ही है *। ललितललाम सं० १७४५ वि० के पूर्व बनाया गया था; क्योंकि यह ग्रंथ बूँदी नरेश राव राजा भाऊसिंह † की प्रशंसा में बनाया था और उन्हीं को समर्पित किया गया था। राव राजा भाऊसिंह सं० १७१६ में गद्दी पर बैठे और सं० १७४५ में उनका देहांत हुआ। अतः इसी बीच में किसी समय ललितललाम ग्रंथ रचा गया था। रसराज सं० १७६७ वि० में रचा हुआ बतलाया जाता है ‡; और वृत्तकौमुदी का निर्माण काल सं० १७५८ वि० है जो कि ललितललाम के पीछे और रसराज के पूर्व रचा गया है।

इससे यह निश्चित है कि वृत्तकौमुदी का रचना काल मतिराम के कार्य-काल के अंतर्गत ही है।

ललितललाम और वृत्तकौमुदी की भाषा बिलकुल मिलती है। दोनों ग्रंथों में वीर रस के जो छंद हैं, वे एक ही सी ओजस्विनी भाषा में लिखे गए हैं और भूषण की कविता से बहुत मिलते हैं।

---

* कविता कौमुदी पृष्ठ २३१। मिश्रबंधु विनोद पृष्ठ ४११। हिंदी नवरत्न पृष्ठ ३४८।

† मिश्रबंधु विनोद पृष्ठ ४८६। टाड राजस्थान, वेंकटेश्वर प्रेस, पृष्ठ ८१८। हिंदी नवरत्न पृष्ठ ३००।

‡ हिंदी नवरत्न पृष्ठ ३१७।

शृंगार रस की शैली तथा माधुर्य्य आदि गुण भी दोनों में एक से ही हैं। इससे प्रतीत होता है कि दोनों ग्रंथ एक ही कवि के रचे हुए हैं।

दोनों के कुछ कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं जिनसे भाषा, भाव और शैली की समानता का बहुत कुछ पता लग सकता है।

वृत्तकौमुदी के प्रथम प्रकरण से राजवंश वर्णन—

अति अथाह गुन सिंधु सूर काशी नरेश हुव।
आतपत्र धरि धीर धरनि मंडन प्रसिद्ध भुव॥
विक्रम जिमि पृथराज समर पारथ पृथु पेखिय।
छात्र धर्म प्रतिपालि दान रूप कर्ण सुलेखिय॥
मधु साहि सुअन बुंदेल घर वीरसिंह औतार लिय।
जय जूथ प्रबल मंडिय जगत,
सुजपति विदिसि दिसि हद्द किय॥१॥

छत्रियपति छितिपाल उदित उद्दाम ओज अति।
प्रगट पुहुमि पुरहूत भयो विक्रम अपार गति॥
समर रुद्र भय भंजि धीर विजय व्रत लीन्हेंउ।
राज राज सम वित्त वितरि जस करणहिं दीन्हेंउ॥
हुव चक्र मान बुन्देल सोइ वीरसिंह पंचम सुअन।
घर खग्ग दसहुं दिसि दधिय लिय,
सुगज्जि दुसह दब्बिय दुवन॥२॥

बहु कीरति कमनीय करिय दिन दान अमित करि।
इद दिग्गज हिंदुवान मेंडि रक्खिय सुभुजन धरि॥
असि कसि खंड अराति अखिल सज्जन सुख संचिय।
देवराज सम साज मौज फौजनि भर रंचिय॥
बुन्देल वीर कुंजरपती चन्द्रमान महिपाल सुव।
धनि धीर धरनि मंडन प्रबल
सुमित्र साहि नरनाह हुव॥३॥

अति अमेट अरवीन करत, गरवीन गरद हठि।
जुटत जुद्ध लखि क्रुद्ध जात अँसुआन सत्रु नठि॥
दिय नृसिंह जय पातु जाहि संचित सु सिद्धिचय।
आँधु अवनि अवलंब भयउ सुभ कर्म धर्ममय॥
नृप मित्र साहि नंदन प्रबल गहिरवार गंभीर भुव।
कुलदीप वीर बुन्देल घर सु अब सरूप अवतार हुव॥४॥

गजित गैयर मत्त सुरथ सज्जित जिमि पारथ।
बज्जत दुंदुभि घोर भूत तज्जत पुरुषारथ॥
गब्बर गैयर हरत हारि नहिं रत्थ रस्सकिय।
जब्बर वीर बुँदेल हाँक सुनि सरस रत्थकिय॥
हुव सिंह सरूप सरोज जहँ तहँ दत्थिय उट्ठिय गरद।
हट्ठिय अरि लुट्टिय नगर जुट्टिय चोर फुट्टिय मरद॥५॥

निज कुल भानु समान लखि नृपति सरूप सुजान।
बहु बिधि जाको देखिये बढ़त दान दिन मान॥६॥

भिक्षुक आये भौन के, सबन लहे मन काम।
त्यौंही नृप को सुजस सुनि आयो कवि मतिराम॥७॥

ताहि बचन मन मानिके, कीन्हो हुकुम सुजान।
ग्रन्थ संस्कृत रीति सों, भाषा करौं प्रमान॥८॥

छंदसार संग्रह रच्यो, सकल ग्रन्थ मति देखि।
बालक कविता सिद्धि कों, भाषा सरल विशेषि॥९॥

श्री महाराजधिराज वीर विरसिंह देव हुव।
चन्द्र भान धरनीश वीर ताको प्रसिद्ध भुव॥
मित्र साहि तिनको सुपुत्र विख्यात जगत सब।
तासु पुत्र अवतंस अवनि पंचम सरूप अब॥
जगत जासु अवलंब लहि मतिराम सुकवि हितचित धरिय।
रचि छंदसार संग्रह सरस सु इमि दंडक पद्धति करिय॥१०॥

ललितललाम से उद्धृत छंद—

तिमिर तुलित तुरकान प्रबल दिशि विदिश प्रगट्टन।
चलन पंथ पंथीन धरम श्रुति करमनि घट्टत॥
लखत न लोचन लोक अवनिपति मोह नींद रस।
धरनि वलग सब करत जानि कलि-काल आप वस॥
मतिराम तेज शनि जगमगत भावसिंह भूपाल महँ।
दिनकर दिवान दिन दिन उदित करत सुदिन
सब जगत कहँ॥७॥

एक धर्म गृह खम्भ जम्भ रिपु रूप अवनि पर।
एक बुद्धि गम्भीर धीर बीराधि वीरवर॥
एक ओज अवतार सकल सरनागत रक्षक।
एक जासु करवाल निखिल खल कुल कहँ तक्षक॥
मतिराम एक दातानि मनि जग जस्र अमल
प्रगट्टियउ।
चहुवान वंश अवतंश इमि एक राव सुरजन भयउ॥६२॥

जेते पैंडदार दरबार सिरदार सब,
ऊपर प्रताप दिल्लीपति को अभंग भो।
मतिराम कहै करवार के कसैया केते,
गाडर से मूड़े जग हाँसी को प्रसंग भो॥
सुरजन सुत राज लाज रजवारो एक,
भोज ही ते साहि के हुकुम पगपङ्ग भो।
मूँछनि सों रानमुख लाल रंग देखि मुख,
औरन को मूछनि बिना ही स्याम रग भो॥६३॥

परम प्रवीन धीर धरम धुरीन दीन,
बंधु सदा जाकी परमेसुर में मति है।
दुर्जन बिहाल करि जाचक निहाल करि,
जगत में कीरति जगाई जोति अति है॥

राव शत्रुसाल को सपूत पूत भावसिंह,
मतिराम कहै जाहि साहियो फबति है।
जानपति दानपति हाड़ा हिन्दुवान पति,
दिल्लीपति दलपति बला बंधपति है ॥७४॥
शत्रुशाल सुत सत्य मैं भावसिंह भूपाल।
एक जगत मैं जगत है सब हिंदुन की ढाल ॥७५॥
वंश वारि निधि रतन औ रतन भोज को नन्द।
साहनि सौं रन रंग मैं जीत्यो बखत बिलन्द ॥७६॥

इन दोनों पद्यों से भली भाँति विदित होता है कि ये दोनों ग्रंथ मतिराम के रचे हुए हैं। वृत्तकौमुदी की रचना ललितललाम से पीछे की होने के कारण और भी ओजस्विनी प्रतीत होती है।

अब एक ऐतिहासिक प्रमाण भी दिया जाता है जिससे भली भाँति विदित हो जायगा कि ललितललाम, रसराज, छंदसार पिंगल और वृत्तकौमुदी के रचयिता महाकवि मतिराम एक ही हैं, भिन्न भिन्न नहीं हैं।

ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ शिवसिंह सरोज (पृ० २५६) में एक छंद "छंदसार पिंगल" से उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है—

दाता एक जैसो शिवराज भयो जैसो
अब फतेसाहि सो नगर साहिबी समाज है।
जैसो चित्तौर धनी राजा नर-नाह भयो
जैसो ई कुमाऊँपति पूरो रज लाज है।
जैसे जयसिंह यशवंत महाराज भए
जिनको मही में अजौं यश को दल साज है।
मित्र साहि नंद सो बुँदेल कुल चन्द अब
-ऐसो अब उदित स्वरूप महराज है॥

इस छंद में महाकवि मतिराम ने अपने तीन आश्रयदाता राजाओं कुमाऊँपति ज्योतसिंह, श्रीनगर (बुंदेलखंड) के राजा फतेह

साहि और श्री मित्र साहि बुँदेले के पुत्र राजवंशावतंस स्वरूपसिंह की समानता महाराज शिवाजी, महाराणा उदयपुर, जयपुर नरेश महाराज जयसिंह और जोधपुर नरेश महाराज जसवंतसिंह से की है।

इस छन्द से यह भली भाँति विदित होता है कि मतिराम ने इसे महाराज शिवाजी, जयसिंह और जसवंतसिंह तथा राणा प्रताप के मरने के अनंतर रचा है। बूँदी नरेश से ये कुछ असंतुष्ट से प्रतीत होते हैं; क्योंकि इस छंद में उनकी चर्चा नहीं की गई है। स्यात् राव राजा भाऊसिंह के मरने के कारण उनका वर्णन न किया हो, क्योंकि इस छंद में मतिराम ने अपने जीवित आश्रयदाताओं का ही वर्णन किया है; विशेष कर श्रीनगर (बुंदेलखंड) नरेश फतेह साहि और स्वरूपसिंह बुँदेले की ही विशेष प्रशंसा की है। संभव है, राव राजा भाऊसिंह के स्थानापन्न अनिरुद्धसिंह का वर्ताव उनके साथ अच्छा न रहा हो जिसके कुछ स्थानिक राजकीय कारण भी हो सकते हैं; और इसी लिये भाऊसिंह के मरने पर वे वहाँ से चले आए हों। बूँदी जाने पर राव राजा बुद्धसिंह का वर्ताव संतोषजनक न होने के कारण भूषण कुछ दिन ठहरकर ही चले आए थे। इसी छंद में श्रीनगर नरेश फतेह साहि और मित्र साहि बुँदेले के पुत्र स्वरूपसिंह की प्रशंसा वर्तमान काल में की गई है। इससे प्रतीत होता है कि छंदसार पिंगल बनाते समय इनका आवागमन फतह साहि और स्वरूपसिंह दोनों के यहाँ था। हिंदी नवरत्न में जो यह लिखा है कि छंदसार पिंगल शंभूनाथ सोलंकी के आश्रय में लिखा और उन्हीं के नाम समर्पित किया है, वह अशुद्ध प्रतीत होता है। और यह वृत्त कौमुदी (देखो उद्धृत छंद) ग्रंथ भी कुरीच (कौंच) और कौंहार के जागीरदार बुँदेला के पुत्र स्वरूपसिंह *को समर्पित किया है।

---

* बुंदेलखंड की उर्दू तवारीख, पृ० २।

मतिराम ने अपने वंश का परिचय कुछ विस्तार से दिया है। यहाँ तक कि अपने पितृव्य (चचा) पं० श्रुतिधर तक का उल्लेख किया है। फिर अपने सहोदर बंधु भूषण जैसे सुप्रसिद्ध कवि का ज़िक्र तक न करते, यह कभी संभव न था। इससे भी यही प्रतीत होता है कि भूषण और मतिराम सहोदर बंधु न थे। दोनों संबंधी या घनिष्ट मित्र अथवा गुरुभाई हों, तो हो सकता है; क्योंकि दोनों की कविता बहुत कुछ मिलती जुलती है, जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है।

इस प्रमाण से यह निश्चित हो जाता है कि ललितललाम, रस-राज, छंदसार पिंगल तथा वृत्तकौमुदी के रचयिता महाकवि मति-राम ही हैं। अन्य कोई मतिराम वृत्तकौमुदी के रचयिता नहीं हो सकते।

जब यह प्रमाणित हो गया कि वृत्तकौमुदी के रचयिता प्रसिद्ध महाकवि मतिराम ही हैं, तो मतिराम और भूषण के अपने वंश-परिचय से यह अवश्य मानना पड़ेगा कि मतिराम और भूषण कदापि सहोदर बंधु न थे, वलिक एक वंश के भी न थे।

भूषण और मतिराम दोनों की वीर रस की कविता प्रभावशा-लिनी और ओजस्विनी होती है। फिर भी यही प्रतीत होता है कि भूषण की कविता की छाप मतिराम की कविता पर पड़ी है। जिन्होंने शिवराज भूषण और ललितललाम दोनों को ध्यानपूर्वक पढ़ा है, वे यह बात अवश्य मानेंगे। कम से कम इस लेख में वृत्तकौमुदी से उद्धृत छंदों से तो इसी अनुमान की पुष्टि होती है।

जब यह निश्चित हो गया कि भूषण और मतिराम सहोदर बंधु नहीं थे, तब स्वभावतः यह प्रश्न होता है कि फिर यह प्रवाद सर्व साधारण में कैसे फैला है। इसका अन्वेषण करने से यही प्रतीत होता है कि ठाकुर शिवसिंह सेंगर कृत शिवसिंह सरोज की एक कथा से ही यह भ्रम फैला है। उसमें (पृष्ठ४१२) चिन्तामणि कवि के वर्णन में लिखा है—"इनके पिता दुर्गा पाठ करने नित्य देवी जी के

स्थान पर जाया करते थे। वे देवी जी वन की भुइयाँ कहलाती हैं। टिकमापुर से एक मील के अंतर पर हैं। एक दिन महारानी राजेश्वरी भगवती प्रसन्न ह्वै चारि मुँह दिखाय बोलीं, यही चारो तेरे पुत्र होंगे। निदान ऐसा ही हुआ कि (१) चिन्तामणि, (२) भूषण, (३) मतिराम और (४) जटाशंकर या नीलकंठ चार पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें केवल नीलकंठ महाराज तो एक सिद्ध के आशीर्वाद से कवि हुए; शेष तीनों भाई संस्कृत काव्य को पढ़ि ऐसे पंडित हुए कि उनका नाम प्रलय तक बाकी रहेगा।"

यह ग्रंथ १८८३ ई० (संवत् १९४०) में नवलकिशोर प्रेस में छपा है। इस ग्रंथ के बनाने में भी ठाकुर साहब को लगभग २० वर्ष से कम कदापि न लगे होंगे। इससे प्राचीन कोई ग्रंथ देखने में नहीं आया जिसमें भूषण और मतिराम को भाई माना गया हो। इसी आख्यायिका के आधार पर सर्वत्र यह भ्रांति फैल गई कि भूषण और मतिराम भाई भाई हैं। बंगवासी प्रेस से प्रकाशित शिवा बावनी नामक पुस्तक की भूमिका में भी यही आख्यायिका कुछ परिवर्तन के साथ दी हुई है। समालोचक और देवनागर पत्रों में भी मिश्र बंधु महोदय ने भूषण को मतिराम का भाई लिखा है। फिर धर्मामृत तथा सरस्वती आदि पत्रिकाओं में भी भूषण और मतिराम को भाई मानकर ही लेख लिखे गए। नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित "शिवराज भूषण" की भूमिका में भी भूषण और मतिराम को भाई ही लिखा गया है। डाक्टर ग्रियर्सन ने इंडियन वर्नाक्युलर्स लिटरेचर में भी यही वर्णन किया है।

मिश्र बंधु महोदय ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ मिश्रबंधु विनोद (पृ० ५१३) और हिंदी नवरत्न (पृ० ३०७) में भी तथा पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने कविता कौमुदी प्रथम भाग (पृ० २२१) में भी इसी प्रकार उल्लेख किया है।

अस्तु, अब तो किसी को भी यह संदेह न रह गया होगा कि भूषण और मतिराम भाई न थे।

इस विषय में मैंने स्वयं भी चिंतामणि, भूषण और मतिराम कृत बहुत से ग्रंथों को इसी विचार से देखा कि कहीं भूषण को मतिराम का भाई बतलाया गया हो, परंतु मेरी यह आशा सफल न हुई। तब श्रीयुत पंडित शुकदेवविहारी मिश्र और पंडित कृष्णविहारी मिश्र को इस संबंध में पत्र लिखे। प्रथम महानुभाव ने तो पत्रोत्तर में केवल यही लिखा कि हमने किंवदंती के आधार पर लिखा है। द्वितीय महोदय ने उत्तर दिया कि यह विषय आश्चर्यजनक है। मैंने बहुत सी पुस्तकों को देखा, परंतु मुझे कहीं भूषण को मतिराम का भाई लिखा नहीं मिला। उन्होंने कुछ अन्य ग्रंथों को देखने की राय भी दी जो कि उनके पास नहीं थे और खोज में प्राप्त हो चुके थे; परंतु कई कारणों से मैं उनके देखने में असमर्थ रहा। खोज की रिपोर्टों में आज तक मिले हुए भूषण, मतिराम, चिंतामणि और नीलकंठ के किसी ग्रंथ के उद्धृत भाग में यह वर्णन नहीं मिला। अतः यही मानना पड़ता है कि शिवसिंह सरोज की आख्यायिका से ही यह भ्रांति सर्व साधारण में फैली है।

अब तक तो मुझे भूषण और मतिराम के भाई होने ही में संदेह था, परंतु अब नीलकंठ या जटाशंकर भी भूषण के भाई प्रतीत नहीं होते। "वीर केशरी शिवा जी" नामक ग्रंथ (पृ० ६६२) में पंडित नंद-कुमार देव शर्मा ने चिंतामणि, भूषण और मतिराम तीन ही भाइयों का जिक्र किया है। नीलकंठ को भाई नहीं माना। ज्ञात नहीं, उनका इस विषय में क्या आधार है; परंतु मुझे तो मिश्रबंधु विनोद के ही आधार पर भूषण के नीलकंठ के भाई होने में संदेह है। मिश्र बंधु विनोद (पृ० ४६५) में वर्णित है कि नीलकंठ ने संवत् १६९८ में अमरेश विलास नामक ग्रंथ रचा था। उनकी अवस्था उस समय २५–३० वर्ष से न्यून न होगी; इस कारण उनका जन्म संवत् १६७० वि० के लगभग पड़ता है। और विनोद में भूषण का जन्म संवत् १६९२ वि० माना है। जब भूषण के छोटे भाई नीलकंठ का जन्म सं० १६७० के लगभग है, तो भूषण का जन्म उससे भी पूर्व होना चाहिए था।

परंतु विनोद इसके २० वर्ष पीछे मानता है जो कि अशुद्ध है। भूषण के संवत् १७६७ वि० तक अवस्थित रहने का एक दृढ़ प्रमाण भी मिला है जो कि आगे दिया जायगा। अतः यह कभी सम्भव नहीं कि भूषण १३० वर्ष से भी अधिक काल तक जीवित रहे हों और वैसी ही ओजस्विनी भाषा में कविता करते रहे हों जैसी कि शिवराज भूषण की है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि नीलकंठ भूषण के भाई न थे।

इस प्रकार केवल चिंतामणि और भूषण ही किंवदंती के आधार पर भाई रह जाते हैं। इस किंवदंती में भी कहाँ तक सचाई है, यह अभी नहीं कहा जा सकता। आगे इस पर भी विचार किया जायगा।

इस लेख का मुख्य उद्देश तो यही था कि भूषण और मतिराम के भाई होने के संबंध में पड़ताल की जाय, परंतु भूषण तथा मतिराम के संबंध में कुछ और भी भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। अतः उनको भी दूर करना उचित प्रतीत होता है।

मिश्रबंधु विनोद (पृ० ४६१) तथा हिंदी नवरत्न (पृ० ३१०) में छंदसार पिंगल महाराज शम्भूनाथ सोलंकी के नाम पर लिखा बतलाया गया है; परंतु शिवसिंह सरोज (पृ० २५६) में छंदसार पिंगल से एक छंद उद्धृत किया गया है जो कि इस लेख में उद्धृत हो चुका है। उसमें श्रीनगर (बुंदेलखंड) नरेश महाराज फ़तह साहि और मित्र साहि बुंदेले के पुत्र स्वरूपसिंह की बहुत प्रशंसा की गई है। अतः प्रतीत होता है कि इन्हीं दोनों के आश्रय में यह ग्रंथ रचा गया है, महाराज शम्भूनाथ सोलंकी के आश्रय में नहीं लिखा गया।

मिश्रबंधु विनोद (पृ० ५४६) में वृंद कवि को भूषण का वंशज माना है जो कि नितांत अशुद्ध है। उसमें वृंद के वंशादि का परिचय नहीं दिया गया है। परंतु यह निश्चित है कि वे जोधपुर राज्य के रहनेवाले सेवक जाति के गौड़ ब्राह्मण थे और सं० १७४३ में वर्तमान थे *।

---

* देखो शारदा मासिक पत्रिका, अंक ४०, पृ० ४४४, आषाढ़ सं० १९८० में लेखक का लेख।

यदि ये प्रसिद्ध वृंद कवि से भिन्न कोई हों तो संभव है। यदि मिश्रबंधुओं ने इन्हीं को प्रसिद्ध कवि वृंद माना हो, जो कि वृंद-सतसई, शृंगार शिक्षा, भाव पंचाशिका आदि ग्रंथों के रचयिता थे, तो उनका कथन अशुद्ध है। विनोद और नवरत्न में भूषण का मृत्यु काल संवत् १७७२ माना गया है। भूषण ने एक कवित्त असोथर नरेश महाराज भगवंत राय खीची के परलोक गमन के पश्चात् उनकी प्रशंसा में लिखा था। यह कवित्त इस प्रकार है—

उठि गये आलम से रुज़ुक सिपाहिन कौ
उठि गये बँधैया सबै बीरता के बाने को।
भूषण भनत धर्म धरा ते उठि गये
उठि गये सिंगार सबै राजा राव राने को।
उठिगे सुकवि सुशील उठिगे यशीले डील
फैले मध्य देश में समूह तुरकाने को।
फूटे भाल भिक्षुक के जूके यशवंत राय
अरराय टूटे कुलखंभ हिंदुवाने को॥ *

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवंतराय खीची के मारे जाने के पश्चात् उनकी प्रशंसा में भूषण ने यह छंद रचा है।

सदानंद कृत भगवंतराय रासा में उनका मृत्यु काल संवत् १७९७ वि० लिखा है†। ये सदानंद महाराज भगवंतराय के राजकवि थे और उनके मरने पर यह रासा रचा गया है जो कि अभी हाल में ही खोज में मिला है। डिस्ट्रिक्ट गज़ेटियर यू. पी. ज़िला फतेहपुर (पृ० १५७) में लिखा है कि नवाब सआ़दत खाँ द्वारा भगवतराय खीची सन्

* यह छंद महाराज राजेंद्रबहादुरसिंह (मुन्ना साहब) भिनगा के पुस्तकालय में मिला था।

† खीची के अंतिम युद्ध की तिथि—
संवत् सत्रह सतानवे कातिक मंगलवार।
तिथ नौमी संग्राम भो विदित सकल संसार॥
भगवंतरायरासा पृ० १।

कविता किसी ने पीछे से मिला दी है। मेरा अनुमान है कि महाराज बनारस के किसी कवि की ही यह करतूत है।

बनारस राज्य के पुस्तकालय के अतिरिक्त अन्य जितनी प्रतियाँ शिवराज भूषण की प्राप्त हुई हैं, उनमें से किसी में भी उपर्युक्त छंद नहीं है और न छपी हुई प्रतियों में ही उक्त वर्णन पाया जाता है। अतः सिद्ध है कि ये दोनों छंद प्रक्षिप्त हैं।

ज्योतिष की गणना के अनुसार आषाढ़ कृष्ण १३ को बुधवार पड़ता है। परंतु उक्त दोहे में रविवार मिलता है। अतः यह निर्माण काल नितांत अशुद्ध है। यह कल्पित निर्माण काल पीछे से किसी व्यक्ति ने रचकर मिला दिया है और उसका समय शिवाजी के देहांत के समय का रख दिया है।

मेरे विचार से शिवराज भूषण महाराज शाहू के समय में बना है जो शिवाजी के पौत्र थे।

उनके विषय की मिथ्या किंवदंतियाँ उनके जीवन को अंधकार में डाले हुए हैं जो कि ठीक ठीक निर्णय नहीं होने देतीं। एक ही बात भिन्न भिन्न रीति से कही जाती है। शिवराज भूषण की भूमिका (पृ० ८) में बंगवासी में छपी शिवाबावनी के आधार पर लिखा है कि चिंतामणि का जन्म संवत् १६५८ और भूषण का संवत् १६७१ प्रतीत होता है; परन्तु ये दोनों संवत् भी अशुद्ध ही प्रतीत होते हैं।

उसी भूमिका (पृ० १०) में यह भी कथन किया गया है कि शिवाजी दिल्ली गए थे और वहाँ औरंगजेब ने उन्हें कैद कर लिया था। यथार्थ में शिवाजी दिल्ली नहीं आगरे में उपस्थित हुए थे और वहीं से मथुरा होकर चुपके निकल भागे थे।

आगे चलकर उसी भूमिका में लिखा है कि संवत् १६६७ में मतिराम अपने भाई भूषण को ढूँढ़ने गए थे। परन्तु मेरे विचार से मतिराम राव राजा भाऊसिंह के मरने पर ही १७४५ में वहाँ से चले आए थे। संवत् १७५८ में तो बुंदेलखंड में स्वरूपसिंह बुंदेले के यहाँ रहते थे। तभी वृत्त कौमुदी ग्रंथ रचा था। और इससे पूर्व स्वरूप-

सिंह तथा फतह शाह के आश्रित रहकर छंदसार पिंगल ग्रंथ रचा था। मतिराम का कोई छंद राव राजा अनिरुद्धसिंह और बुद्धसिंह की प्रशंसा में नहीं मिला। इससे भी यही प्रतीत होता है कि भूषण मतिराम के साथ बूँदी नहीं गए, बल्कि उन्होंने अपनी इच्छा से यात्रा की थी।

मिश्रबन्धु विनोद (पृष्ठ ४८२) में वर्णित है कि राजा शंभूनाथ सोलंकी सितारे के राजा थे जिनके आश्रित होकर मतिराम ने छंदसार पिंगल रचा। यह राजा हिंदी के बहुत से कवियों के आश्रयदाता तथा स्वयं भी कवि थे। इनकी भाषा से प्रतीत होता है कि ये हिंदी भाषी प्रांत के राजा थे। सितारा मरहठी प्रांत है; वहाँ हिंदी का इतना सम्मान होना कठिन है। मेरे विचार से यह सोलंकी राजा रीवाँ-राज के वंशजों या चित्रकूटाधिपतियों में होंगे। इन्हें सितारा के राजा बताना भ्रांतिमूलक है।

अब वृत्त कौमुदी में वर्णित बुंदेल वंश और इतिहास से भी मिलान कीजिए। इस ग्रन्थ में मधुकर साहि के पुत्र वीरसिंह देव से वंश वर्णन किया गया है। ये वही वीरसिंह देव हैं जिन्होंने जहाँगीर के कहने से अब्दुल फजल का वध किया था। इनका शरीरांत सं० १६७८ में हुआ था। इनके बारह पुत्र थे जिनमें ज्येष्ठ पुत्र पहाड़सिंह मुख्य गद्दी के अधिकारी हुए; और तीसरे पुत्र चंद्रभान थे जिनको कुरीच, कौंच और कौंडार जागीर में मिला था। इन्हीं चंद्रभान के पुत्र मित्र साहि बुँदेला मतिराम के आश्रयदाता स्वरूपसिंह के पिता थे जिनके नाम से कवि ने वृत्त कौमुदी ग्रन्थ रचा। यह ग्रंथ संवत् १७५८ वि० में रचा गया था। तब तक वीरसिंह देव को मरे ८० वर्ष हुए थे। इस बीच में तीसरी पीढ़ी का होना स्वाभाविक है; अतः इसमें कुछ भी संदेह नहीं रहता कि ग्रंथ में वर्णित वीरसिंह देव और चंद्रभान बुँदेला तथा इतिहासवाले ओड़छा नरेश वीरसिंह देव तथा चंद्रभान बुँदेला एक ही हैं।

बुंदेलखंड के हिंदी इतिहास में दिए हुए वंशवृक्ष से भी यही

निश्चित होता है कि मधुकर शाह के पुत्र वीरसिंह देव और उनके पुत्र चंद्रभान हुए। ग्रन्थ में भी उपर्युक्त तीनों महाशयों का वर्णन पाया जाता है।

इतिहास से यह निश्चित होता है कि स्वरूपसिंह भी कुरीच, कौंच और कौंडार में से किसी एक अथवा उसके किसी भाग पर अधिकृत होंगे और वहीं पर मतिराम भी उनके आश्रय में रहते थे।

अभी भूषण और मतिराम के विषय में बहुत सी भ्रांतियाँ फैली हैं जिनका दूर करना हिंदी-प्रेमियों का कर्त्तव्य है।

खोज में भी अभी वे सब पुस्तकें प्राप्त नहीं हुई हैं जो मिश्रबन्धु विनोद में वर्णित हैं।। सन् १९०९-११ की त्रैवार्षिक रिपोर्ट (पृ० ८८) में चिन्तामणि के एक पिंगल ग्रन्थ का वर्णन है। ग्रन्थ में संवत् आदि का कोई पता नहीं है। निरीक्षक महोदय ने उसमें ग्रन्थकार का जन्म सं० १६६६ वि० लिखा है। कविकुल कल्पतरु का रचनाकाल सं० १७०७ वि० दिया है (पृ० २८५)।

सन् १९०४की रिपोर्ट (नं० ११८) में मतिराम सतसई का भी वर्णन है; परन्तु उसमें निर्माण काल नहीं है और न वंश परिचय है। निरीक्षक महोदय ने मतिराम के जन्म और मृत्यु के आनुमानिक संवत् दिए हैं।

खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्टों में मतिराम के तीन ग्रंथों का वर्णन है—रसराज, साहित्य सार और लक्षण शृङ्गार *। इन तीनों में से किसी में भी निर्माण काल अथवा कवि के वंश का परिचय आदि नहीं दिया है। इनका ललितललाम और रसराज तो छप भी चुका है; और छन्दसार पिंगल का उल्लेख शिवसिंह सरोज में किया गया है। और नीलकंठ ने अमरेश विलास सं० १६९८ वि० में रचा था †। चिन्तामणि त्रिपाठी कृत कविकुल कल्प-

---

* त्रैवार्षिक रिपोर्ट सन् १९०६-०८ पृष्ठ ७८; सन् १९०१ की रिपोर्ट पृष्ठ ५८; १९०३ की रिपोर्ट, पृष्ठ ५८ और १९०० की रिपोर्ट पृष्ठ १८।

† सन् १९०१ की रिपोर्ट, पृष्ठ १।

तब भी छप चुका है*। उसमें भी निर्माण काल आदि का कोई वर्णन नहीं है। केवल सन् १६०२ की रिपोर्ट के परिशिष्ट में उसका निर्माण काल सन् १६५०–१७०७ वि० दिया है। चिन्तामणि कृत पिंगल में भी कोई सम्वत् नहीं दिया है†। मेरा तो अनुमान यह है कि चिन्तामणि भी भूषण के भाई नहीं थे; क्योंकि भूषण का जन्म सं० १७३८ वि० सिद्ध है जैसा कि शिवसिंह सरोज (पृ० ४६७) में भी दिया है। लेख से भी यही सिद्ध होता है। विनोद के अनुसार चिन्तामणि के जन्म तथा भूषण के ठीक जन्म काल में ७२ वर्ष का अन्तर पड़ता है जो कि सहोदर भाइयों में कभी संभव नहीं। अतः चिन्तामणि भी भूषण के भाई नहीं माने जा सकते।

खोज की रिपोर्टों के आधार पर चिन्तामणि, भूषण, मतिराम और नीलकंठ के रचित ग्रंथों में से शिवराज भूषण को छोड़कर किसी ग्रंथ से कवि के समय और वंशादि का परिचय नहीं मिलता। शिवराज भूषण (पृ० २६-२८) में कवि ने केवल पिता का नाम, वंश, निवास स्थान और आश्रयदाता का नाम दिया है। एक वृत्त कौमुदी ही ऐसा ग्रंथ है जिस में मतिराम का विस्तार के साथ वंश-परिचय, समय और आश्रयदाता का वर्णन है। अतः यह ग्रन्थ साहित्य का इतिहास जाननेवाले सज्जनों के लिये बहुत उपयोगी है। इससे बहुत सी उलझी हुई बातें सुलझने की संभावना है। यह खोज का कार्य कितना उपयोगी और आवश्यक है, यह इसी से प्रगट होता है। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, पुस्तकें नष्ट होती जाती हैं। अशिक्षित लोग हलवाई, पसारी आदि के यहाँ रद्दी में पुस्तकें बेच देते हैं अथवा गंगा जी के हवाले कर देते हैं अथवा वे स्वयं सड़ गलकर नष्ट हो रही हैं। उनका जितना शीघ्र प्रबंध हो सके, किया जाना चाहिए। उपर्युक्त

* सन् १६०४ की रिपोर्ट का परिशिष्ट नं० ११६ और १६०१ की रिपोर्ट, नं० ११७।

† सन् १६०१ की रिपोर्ट, पृष्ठ २६ और १६०२ की रिपोर्ट, नं० ११६।

हस्य कई स्थानों पर मैंने स्वयं देखे हैं और पुस्तकों को रक्षित रखने का प्रबंध किया है।

भूषण को महाराज शिवाजी के दरबार का राजकवि मानने से उनका कविता काल ६० वर्ष से भी अधिक ठहरता है; परन्तु इतने समय तक कविता करना असंभव ही प्रतीत होता है। महाराज शिवाजी का देहान्त सन् १६८० ई० सं० १७३७ वि० में हुआ था। यदि भूषण शिवाजी के साथ रहे हों तो उससे पूर्व चित्रकूटाधिपति रुद्रराय सोलंकी और रींवा नरेश अवधूतसिंह (सन् १७००-१७५५)* के यहाँ भी रह चुके थे।

उनकी भावज के नमक के लिये ताना देने की कहावत से भी यही प्रतीत होता है कि कम से कम २० वर्ष की अवस्था में उन्होंने पढ़ना प्रारंभ किया था। इन सब बातों पर विचार करके यही मानना पड़ता है कि उनकी अवस्था शिवाजी के देहान्त के समय ४०-५० वर्ष की अवश्य होगी और उनका भगवन्तराय खीची के मृत्यु काल के समय सं० १७८७ वि० तक जीवित रहना निश्चित सा है †। अतः उस समय उनकी अवस्था ११० वर्ष की होनी चाहिए। खीची की मृत्यु के समय उन्होंने जिस प्रकार की भावपूर्ण कविता रची है, उससे प्रतीत होता है कि उनकी रचना उस समय भी विकास पा रही थी। वृद्धावस्था के कारण उनमें कोई क्षीणता नहीं आई थी। परन्तु उस अवस्था में इतनी उच्च कोटि की कविता कर सकना कठिन है। मेरा तो विश्वास यह है कि महाकवि भूषण शिवाजी के दरबार में ही नहीं थे, वरन् वे उनके पौत्र साहू महाराज के दरबार में थे। और शिवाजी और भूषण के सम्मिलन की जो कथा प्रसिद्ध है, वह वास्तव में साहू और भूषण के विषय में घटित प्रतीत होती है। महाराज साहू के शिकार खेलने का वर्णन

---

* इम्पीरियल गजेटियर जिल्द २१, पृ० १८१।
† भगवन्तराय रासा हस्त-लिखित पृष्ठ १।

भी उसी घटना से संबद्ध प्रतीत होता है। भूषण ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ शिवराजभूषण शिवाजी को नायक मानकर लिखा था। जब बना चुके होंगे, तब महाराज साहू की सेवा में उपस्थित हुए होंगे, जिसपर उनको बहुत सा धन और ग्रामादि मिले और वहाँ बहुत सम्मान हुआ। यह भी प्रतीत होता है कि उनका गमनागमन बहुत दिनों तक जारी था। उत्तरी भारत के बहुत से मनुष्य शिवाजी को डाकू और लुटेरा कहा करते थे। परंतु भूषण ने उनको बहुत से सद्गुणों से भूषित हिंदू धर्म-रक्षक और जातीय नेता माना है (जैसे कि वे यथार्थ में थे)। यही नहीं, उनको ईश्वर का अवतार तक बतलाया है। इसी कारण भूषण को महाराष्ट्रों की ओर से अधिक सम्मान प्राप्त हुआ था।

जब वे साहू महाराज के पास से लौटे तो महाराज छत्रसाल के यहाँ गए थे। उन्होंने देखा कि भूषण को धन तो बहुत मिल चुका है; मैं उससे अधिक दे भी क्या सकता हूँ; तब उन्होंने उनकी पालकी में कंधा लगा दिया था जिसको देखकर भूषण पालकी से कूद पड़े और उनको रोककर उसी समय कई कवित्त उनकी प्रशंसा में रचे जिनमें से एक का पद यह भी था—"साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को"। इससे भी यही प्रतीत होता है कि भूषण साहू के ही दरबार में थे, महाराज शिवाजी के दरबार में नहीं थे।

उपर्युक्त पद से यह भी प्रतीत होता है कि भूषण के हृदय में साहू के प्रति अत्यधिक सम्मान था। शिवाजी के जीवनकाल में भूषण जैसे राष्ट्रीय कवि का उनको ईश्वर मानना उपयुक्त नहीं माना जा सकता।

जिस समय महाकवि भूषण ने 'शिवराज भूषण' नामक ग्रंथ बनाने का विचार किया था, उस समय केवल आदर्श चरित महाराज शिवाजी को देखकर ही उक्त ग्रंथ रचा था, जैसा कि उन्होंने स्वयं उसी में वर्णन किया है—

> शिवा चरित लखि यों भयो कवि भूषण के चित्त।
> भाँति भाँति भूषणनि सों भूषित करौं कवित्त ॥ २९ ॥

वर्तमान साहित्यिक इतिहास का इस लेख से पूर्ण विरोध और खंडन होता है। इसी से उक्त बातों के प्रकट करने का मुझे स्वयं ही साहस नहीं हो रहा था; क्योंकि बड़े बड़े विद्वानों की राय को काटना धृष्टता है। परंतु अपनी राय और विचारों को सब पर प्रकट करने तथा ऐतिहासिक तथ्य को न छिपाने के उद्देश से ही मैं ऐसा करने को बाध्य हुआ हूँ। आशा है, इतिहास-प्रेमी साहित्यसेवी विद्वान् शांतिपूर्वक इस विषय पर विचार करेंगे और उनका जो निर्णय होगा, वह मुझे भी सहर्ष मान्य होगा।

इस लेख में जिन विषयों पर विचार हुआ है, उन सब की सामग्री मुझे खोज और उसकी रिपोर्टों में मिली है।

---

(२२) श्यैनिक शास्त्र

(लेखक—पं० शिवदत्त शर्मा, अजमेर)

श्रीमान् महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसादजी शास्त्री ने संस्कृत के कई एक महत्वपूर्ण ग्रंथों का अन्वेषण तथा संपादन कर सरस्वती के सेवकों को जो असीम लाभ पहुँचाया है, वह लोक-विदित है। उन्होंने श्येन (बाज) पक्षी के विषय में लिखे हुए संस्कृत के एक ग्रन्थ का, जिसका नाम "श्यैनिक शास्त्र" है, संपादन किया है, जो बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी द्वारा सन् १६१०ई० में कलकत्ते में प्रकाशित हुआ है। संस्कृत में इस समय यह ग्रन्थ मृगया के संबंध में अबतक एक ही प्राप्त हुआ है। इस विषय के और भी ग्रंथ अवश्य रहे होंगे, परंतु अब वे उपलब्ध नहीं हैं। आज हम नागरीप्रचारिणी पत्रिका के पाठकों की सेवा में इस असामान्य ग्रंथ का सारांश सादर समर्पित करने की चेष्टा करते हैं।

ग्रन्थकार का परिचय

श्यैनिक शास्त्र के प्रथम परिच्छेद के अंत में "इति श्रीकूर्माचलाधिपतिरुद्रदेवविरचिते श्यैनिके शास्त्रे कर्मानुपञ्जनः प्रथमः परिच्छेदः।" लिखा हुआ है। शेष परिच्छेदों के अंत में केवल "श्रीरुद्रदेव विरचिते..."ही लिखा हुआ है। अतः इस ग्रंथ से इसके रचयिता के विषय में विद्या-संबंधी बातों को छोड़कर जो कुछ ज्ञात हो सकता है, वह इतना ही है, कि उसका नाम रुद्रदेव था और वह कूर्माचल का (जिसे आजकल कुमाऊँ कहते हैं) राजा था।

वालटन साहब के अलमोड़े के गज़टियर से ज्ञात होता है। कि रुद्रचंद्र (रुद्रदेव) अलमोड़े के राजा बालो कल्याणचंद्र का पुत्र था। श्यैनिक शास्त्र की जो तीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, उनमें से एक प्रति में रचयिता का नाम चंद्रदेव तथा रुद्रचंद्रदेव लिखा

हुआ है। वास्तव में "रुद्रदेव", "चंद्रदेव" तथा "रुद्रचंद्रदेव" एक ही व्यक्ति-विशेष के नाम हैं, क्योंकि राजा के नाम के अन्त में "देव" सामान्यतया लगा दिया करते हैं। "चंद्र" शब्द वंश-वाचक है और "रुद्र" मूल नाम है।

रुद्रचंद्र का जन्म ईस्वी सन् १५५६ ई० में हुआ था और जब उसकी आयु केवल नौ वर्ष की थी, तभी अपने पिता के सन् १५६५ में देवलोकवासी हो जाने के कारण, उसपर राज्य का सारा भार आ पड़ा था। सिंहासनासीन होकर प्रारंभ में उसने जो कई काम किए, उनमें से एक उसका बालेश्वर के महादेव की पूजा का पुनरपि प्रारंभ कराना है। यह एक बहुत प्राचीन देवालय है और उसके पूर्वज उदयनचंद्र ने सन् १४२० में इसकी मरम्मत कराई थी और एक गुजराती ब्राह्मण को बुलवाकर प्रतिष्ठा कराई थी। इधर रुद्रदेव को गद्दी पर बैठे बहुत दिन नहीं हुए थे कि उधर उस समय हुसैनखाँ टकरिया ने तराई और भाबर पर अपना सिक्का जमाया। वह १५६८ ई० में लखनऊ का हाकिम (Governor) था, परंतु वहाँ से निकाल दिया गया था। उसने एक धार्मिक युद्ध करने की घोषणा की, परंतु उसका आंतरिक विचार यही था कि मुझको कुमाऊँ के राजाओं का कोष, जो बहुत बड़ा प्रसिद्ध था, मिल जाय। उसने पहाड़ों के नीचे नीचे के कुछ स्थानों पर आक्रमण किया; परंतु वर्षा अधिक हो जाने से उसके साथियों ने उसका साथ नहीं दिया और उसे विवश लौटना पड़ा। हुसैनखाँ ने फिर १५७५ में आक्रमण प्रारंभ किया; परंतु उसे सफलता प्राप्त न हुई। रुद्रचंद्र ने हुसैनखाँ के मरते ही मुसलमान हाकिमों को तराई से भगा दिया। इस दुर्घटना के कारण अकबर बादशाह ने देहली से फौजें भेजीं जिनकी सहायता से कटोहार के नवाब ने रुद्रचंद्र पर भीषण आक्रमण किया। रुद्रचंद्र बहुत वीरता के साथ लड़ा और उसने मुसलमानों का दल छिन्न भिन्न कर दिया। रुद्रचंद्र की वीरता से अकबर बहुत प्रसन्न हुआ, या यों कहिए कि अकबर ने अपने बल के पराजित हो जाने की अपकीर्ति को शत्रु की वीरता की

प्रशंसा करके मार्जित किया और उसे लाहौर आने का निमंत्रण भेजा। रुद्रचंद्र ने उसे स्वीकार किया। जब वह लाहौर में अकबर से मिला, उस समय अकबर की सेना नागौर पर घेरा डाले हुए पड़ी थी, परंतु उसको विजय करने में असमर्थ थी। इस अवस्था में अकबर ने रुद्रदेव से सहायता की याचना की और उस वीर ने उसको हताश नहीं किया। पहाड़ी लोगों ने शीघ्र ही अकबर के पक्ष में विजय प्राप्त की और इसके प्रत्युपकार में अकबर ने वह भूमि, जो चौरासी माल या नौलख्य कहलाती है, रुद्रदेव की भेंट की। यह भूमि चौरासी कोस लम्बी थी और नौ लाख रुपए की आय देती थी, इसलिये चौरासी माल तथा नौलख्य नामों से प्रसिद्ध थी। रुद्रचंद्र ने सुप्रसिद्ध बीरबल को अपना पुरोहित बनाया; और जब तक चंद्रवंश का यहाँ राज्य रहा, तब तक बीरबल के वंशज बराबर अपनी पुरोहिताई की भेंट लेने यहाँ जाते थे। रुद्रचंद्र पहला राजा था, जिसने भावर और तराई अपने अधिकार में कर उन्हें अच्छी तरह बसाया। ग्यारहवीं शताब्दी में यह भूमि घनघोर जंगल से ढकी हुई थी और कहीं कहीं ही बोने लायक टुकड़े थे। झोपड़ियाँ बड़ी ही दुर्दशा में थीं और यहाँ पर कुछ ऐसे क़िले बने हुए थे, जो विपत्ति के समय में रक्षा का काम दे सकते थे। रुद्रचंद्र ने यहाँ नगर बसा दिए और खेती बारी तथा शासन का अच्छा प्रबंध कर दिया।

रुद्रदेव के पिता कल्याणचंद्र ने अलमोड़े को अपनी राजधानी बनाया। यह नगर ख़ग़मारा पहाड़ पर बसाया गया था। इस पर्वत का वर्णन स्कन्द पुराण के मानसखंड में मिलता है (कौशिकीशाल्मली-मध्ये पुण्यः कापाय पर्वतः)। कौशिकी और शाल्मली नदियों के नाम अब कोसी और सुआल हो गए हैं और ये दोनों नदियाँ अल-मोड़े के पहाड़ की परिक्रमा किए हुए हैं। इस पर्वत पर अल्म अधिक उत्पन्न होता है, इसी लिये इसका नाम, कुछ हेर फेर खाकर, "अलमोड़ा" बना है। कल्याणचंद्र की गंगोली और काली नदी के बीच की भूमि पर अधिकार प्राप्त करने की उत्कट इच्छा थी। उसने

अपनी स्त्री के द्वारा, उसके भाई से जो डोती का राजा था, सीर का परगना दहेज में दे देने को कहलवाया; परंतु इस विषय में यथेष्ट सिद्धि प्राप्त न हो सकी। कल्याणचंद्र के देवलोकवासी होने पर उसकी रानी इसी कारण सती नहीं हुई और वह यह आशा बाँधे रही कि कब मेरा पुत्र रुद्रचंद्र सीरगढ़ को विजय करे। रुद्रचंद्र ने सीरगढ़ पर आक्रमण किया, परंतु बुरी तरह से पराजित हुआ। उसने परखू (परधु) नाम के एक धनाढ्य तथा प्रभावशाली ब्राह्मण को भेद लेने के लिये भेजा कि शत्रु के पास कितनी सेना है और उसने सीरगढ़ को किस प्रकार सुरक्षित कर रक्खा है। रुद्रचंद्र ने सीरगढ़ पर तीन बार आक्रमण किया, परंतु तीनों बार उसके वार निष्फल गए। बेचारे परखू को भी भागकर एक वृक्ष के नीचे शरण लेनी पड़ी। *समय पाकर उसके साथियों ने दूध में चावल डाल कर खीर बनाई जो* केले के पत्ते में परोसी गई। परखू उसे अच्छी तरह नहीं खा सका और वह बहुत कुछ बिखर गई। एक बुढ़िया ने, जो वहाँ बैठी हुई थी, खीर का बिखरना देखकर यह न जानते हुए कि इसको खानेवाला परखू है, कहा "तू परखू जैसा मूर्ख है। वह सीर नहीं ले सकता और तू खीर नहीं खा सकता। किनारे से प्रारंभ कर और बीच तक लेकर खा। फिर देखें, कैसे चावल बिखरते हैं। परखू ने भी यदि बाहर से अपना काम प्रारंभ किया होता और जौहर की रसद बंद कर देता, तो दुर्ग की सेना उसके वशीभूत हो जाती।" परखू ने तुरंत इस आकाशवाणी के समान अयाचित उपदेश के अनुसार काम किया और परिणाम यह हुआ कि हरिमल्ल दुर्ग छोड़कर डोती को भाग गया। तब से सीर कुमाऊँ के अधीन हुआ। रुद्रदेव ने कई ग्राम उपहार में देकर परखू के प्रति कृतज्ञता प्रकट की, जिसका सन् १५८१ का एक पट्टा अभी तक विद्यमान है। तदनंतर रुद्रचंद्र ने अस्कोट, दरम और जौहर विजय किए।

रुद्रचंद्र ने सन् १५८१ में एक पूर्व प्रतिज्ञानुसार परखू से पिंडारघाटी में बधानगढ़ी पर, जो गढ़वाल के राजा के राज्य में थी, आक्रमण करने

को कहा। यहाँ का मार्ग सोमेश्वर और कत्यूरघाटी में होकर था, जो उस समय प्राचीन कत्यूरवंशी राजा सुखपाल के अधीन थे। गढ़-वाल के राजा दुलाराम शाह ने सुखपाल को सहायता देना स्वीकार किया और अपनी सेना भेज दी, जिसके कारण परखू की दाल न गल सकी और उसको युद्ध में अपनी जान खोनी पड़ी। रुद्रचंद्र इस दुर्घटना से बहुत कुपित हुआ और उसने गढ़वाल पर आक्रमण करने से पहले सुखपाल को सीधा करने का विचार किया। उसने उसपर भीषण आक्रमण किया और उसे संकुटुंब क़ैद कर लिया। उस अवसर पर रातु नामक एक ग्रामाधीश ने रुद्रचंद्र के कोप को जैसे तैसे शान्त किया। वह स्वयं भविष्यत् में सुखपाल के अनुकूल आचरणों का प्रतिभू बना और उसे छः महीने पीछे उपस्थित कर देने का वचन दिया। रुद्रचंद्र ने रातु की प्रार्थना स्वीकृत की, परंतु समय बीतने पर उसने सुखपाल को उपस्थित करने से इन्कार किया। इस कपट व्यवहार से रुद्रदेव बहुत अप्रसन्न हुआ और उसने तुरंत आक्रमण कर रातु और सुखपाल दोनों को यमराज के यहाँ भेज दिया। सन् १५९७ में रुद्रचंद्र का भी देहांत हो गया और गढ़वाल पर आक्रमण करने का विचार उसके मन में ही रह गया।

रुद्रचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र का नाम शक्तिगोसेन था। वह एक प्रवीण तथा कार्यकुशल शासक था। उसने ज़मीन के लगान संबंधी कार्यों के व्यवस्थित करने में अपने पिता को बहुत सहायता दी थी। यों योग्य होने पर भी प्रज्ञाचक्षु होने के कारण वह राजा नहीं बन सका। अतः उसका भाई लक्ष्मीचंद्र सिंहासनासीन हुआ। यहाँ तक रुद्रचंद्र की जीवनी की मुख्य मुख्य घटनाओं का संक्षिप्त वृत्तांत लिखा गया है। अब रुद्रचंद्र की विद्या संबंधी बातों का कुछ वर्णन करते हैं। महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसादजी शास्त्री ने श्यैनिक शास्त्र की भूमिका में लिखा है कि रुद्रदेव ने एक स्मार्त ग्रंथ की भी रचना की थी जिसका नाम "त्रैवर्णिक धर्मनिर्णय" है। उसमें उसने कुल्लूक भट्ट का, जो पंद्रहवीं शताब्दी में हुआ था, हवाला

दिया है। यह ग्रंथ अभी तक हमारे देखने में नहीं आया, अतः हम इसके विषय में कुछ अधिक नहीं लिख सकते; पर जिस सुंदर शैली और सुव्यवस्था से इस नरेन्द्र कवि ने श्यैनिक शास्त्र की रचना की है, वही उसके महान् पांडित्य को स्थापित करने के लिये पर्याप्त है। इस ग्रंथ में उसने यजुर्वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण, विष्णु पुराण मार्कण्डेय पुराण, श्रीमद्भागवत्, भगवद्गीता, मनुस्मृति, गुणाढ्य (बृहत्कथा), याज्ञवल्क्य, भरत (नाट्यशास्त्र), कामशास्त्र आदि के प्रमाण दिए हैं। उसने प्रकरणों का यथाक्रम उपक्रम किया है और वर्णन को नितांत व्यवहारात्मक रक्खा है। उसने उन बातों के प्रयोगों का, जो व्यसन के नाम से बदनाम हैं, कैसा अच्छा निरूपण किया है, यह पाठकों को आगे चलकर भली भाँति विदित हो जायगा। उसने श्येनों के संबंध में सब कुछ लिखा है, परंतु उनके शकुनों के विषय में उसने एक अक्षर भी नहीं लिखा। यह न लिखना उसकी भूल नहीं है। यह बात नहीं कि वह ऐसे श्लोकों को, जैसे कि हम नीचे लिखते हैं, नहीं जानता था। हम यह अनुमान करते हैं कि वह उत्साह-संपन्न, वीरोचित विहार-वत्सल, सुविज्ञ नरेन्द्र कवि ऐसी बातों को मिथ्या समझता हो, इसी लिये उसने इन्हें अपने ग्रंथ में सन्निविष्ट नहीं किया—

प्रदक्षिणी कृत्य नरं व्रजन्तो यात्रासु वामेन गताः प्रवेश।
श्येनाः प्रशस्ताः प्रकृतस्वरास्ते शान्ताः प्रदीप्ता विततस्वरास्ते ॥
श्येनो नृणां दक्षिणवामपृष्ठभागेषु मार्ग्यैः क्षितिमादधाति।
तिष्ठन् पुरस्तान्मृतये करोति युद्धे जयं छत्ररथध्वजस्थः ॥

इति वसंतराजः।

प्राचीन काल में आर्य्य जाति शस्त्रभृत् एवं वीरोचित विहार-वत्सल थी, इसलिये संस्कृत भाषा के ग्रंथों में मृगया की कथाएँ बहुशः मिलती हैं। स्त्रियों का भी शस्त्रधारण करना उस समय असामान्य बात नहीं थी। दुर्गा, कैकेयी आदि की कथाएँ इस विषय में प्रमाण हैं। प्रति दिन जब राजा शयन से उठता था, तब सबसे पहले

धनुर्धारिणी स्त्रियाँ उसका सत्कार किया करती थीं। एक प्रकार से वे उसकी शरीर-संरक्षिणी हुआ करती थीं। (देखो कौटिल्य का अर्थ-शास्त्र, १,२०,१८,—शयनादुत्थितस्स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृह्येत) प्राचीनकाल में मृगया की कला उच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी, यहाँ तक कि मनुष्य शिकार को बिना देखे हुए शब्द मात्र के सुनने से या छाया मात्र के देखने से मार दिया करते थे। यह उनके शराभ्यास, आयुधधारित्सत्व एवं युयुत्सुकता का परिणाम था।

सुप्रसिद्ध कौटिल्य ने अपने अर्थ शास्त्र में "पुरुषव्यसनवर्ग" शीर्षक एक प्रकरण दिया है। उसमें मृगया, द्यूत, स्त्री और पान को कामज बताकर इस बात की पर्यालोचना की है कि इनमें कौन अधिक बलवान् है। इस विषय में पहले उसने अपने से प्राचीन "पिशुन" आचार्य की निम्नलिखित व्यवस्था उद्धृत की है—

" तस्य मृगयाद्यूतयोः मृगया गरीयसी" इति पिशुनः। "स्तेनामित्रव्यालदावप्रस्खलन भयदिङ्मोहाः क्षुत्पिपासे च प्राणाबाधस्तस्याम्। द्यूते तु जितमेवाक्षविदुषा यथा जयत्सेन दुर्योधनाभ्याम्" इति।

आशय—पिशुन का कथन है कि मृगया और द्यूत में मृगया अधिक बुरा व्यसन है; क्योंकि उसमें डाकुओं और शत्रुओं के हाथों में पड़ जाने का, हाथियों से मारे जाने का, जंगल की आग में गिर जाने का, चूक जाने का, त्रास का, दिशाओं का ज्ञान न रहने का, क्षुधा, पिपासा तथा प्राणबाधा तक का भय है; और द्यूत में तो जयत्सेन और दुर्योधन की तरह चतुर पुरुष जीत सकता है।

तदनन्तर कौटिल्य ने अपना मत प्रकट किया है—"नेति कौटिल्यः। तयोरप्यन्यतर पराजयोऽस्तीति नलयुधिष्ठिराभ्यां व्याख्यातम्। तदेवविजितद्रव्यमामिषं वैरानुबन्धश्च। सतोऽर्थस्य विप्रतिपत्तिरसतश्चार्जनमप्रतिभुक्तनाशो मूत्रपुरीषधारणबुभुक्षादिभिश्च व्याधिलाभ इति द्यूत दोषः। मृगयायां तु व्यायामः श्लेष्मपित्तमेदस्स्वेदनाशश्चले स्थिरे च काये लक्ष परिचयः। कोपस्थाने त्रि-तेषु च मृगाणां चित्तज्ञानमनित्ययानं चेति।"

आशय—देखो, द्यूत में दो में से एक की अवश्य हार होती है। इसमें नल और युधिष्ठिर के उदाहरण विद्यमान हैं। यही धन, जो मांस के टुकड़े के समान जीता जाता है, वैर उत्पन्न करता है। उपार्जित किए हुए धन की बेपरवाही, असत् अर्थ का उपार्जन, बिना भोगे हुए धन का नाश, मलमूत्र की हाजत को रोके रहना, समय पर भोजन न करने से बीमारी होना, ये द्यूत के दोष हैं। परंतु मृगया में तो व्यायाम होता है, कफ, पित्त, मेद (चर्बी) और स्वेद (पसीने) का नाश होता है, चल और अचल लक्ष्य में अचूक निशाना लगाया जाता है, मृगों के कुपित हो जाने पर उनकी प्रकृति की पहचान होती है और उसके बहाने समय समय पर सवारी भी हो जाती है।

इन्हीं विचारों को कविकुलगुरु कालिदास ने शकुन्तला के निम्नलिखित श्लोक में सन्निविष्ट किया है—

> मेदश्छेदकृशोदरं लघुभवत्युत्थानयोग्यं वपुः
> सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः।
> उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
> मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥
>
> अङ्क २, श्लोक ५।

रुद्रचंद्र ने इन्हीं विचारों को अध्वीना मृगया के प्रसंग में तृतीय परिच्छेद में अधिक विशद करके निम्नलिखित श्लोकों में इनका वर्णन किया है—

> तस्याः सुसेवनान्मेदश्छेदो वपुषि लाघवम्।
> बलाशोपचयो दार्ढ्यमन्तराग्नेश्च पाटवम् ॥ १६ ॥
> क्षुत्तृट्शीतातपालस्य जागरादेः सहिष्णुता।
> चललक्ष्यादिनैपुण्यमुत्साहपरिवर्धनम् ॥ २० ॥
> चलत्सोन्नायनं ज्ञानं सत्वानां चित्तचेष्टिते।
> इत्यादिकगुणोत्कर्षो जायते चात्मसम्पदे ॥ २१ ॥

श्यैनिक शास्त्र

प्रथम परिच्छेद—श्लोक ३०

त्रैलोक्यश्रेयसे विष्णोर्यन्मित्रं साम्परायिकम्।
सापत्नमिन्द्रस्य च तद् वन्दे गारुत्मतं महः॥

आशय—त्रिलोकी के कल्याण के लिये युद्ध में जो विष्णु भगवान् के मित्र हैं और इन्द्र के प्रतिस्पर्धी हैं, ऐसे श्रीगरुड़ जी महाराज की शक्ति को नमस्कार है।

यों तो जो कामशास्त्र नहीं जानते, क्या उन्हें काम गोचर नहीं है? तो भी मुनियों ने उसके यथार्थ तत्व को प्रकाशित करने के लिये शास्त्र निर्माण किया। इसी प्रकार यद्यपि मृगया का रस मूर्ख पुरुषों तक को भले प्रकार विदित है, तथापि वह श्यैनिक शास्त्र के जाननेवाले के हृदय में विशेष प्रमोद उत्पन्न करता है। इसलिये उस सद्रस की निष्पत्ति के लिये श्यैनिक शास्त्र सप्रयोजन है; अतः उसका संक्षेप तथा विशद रीति से विवेचन किया जाता है।

मनुष्यों के पूर्व-जन्मसिद्ध भोगों की प्राप्ति के लिये तथा मन के प्रमोद के लिये विधाता ने जो नाना विनोद सिरजे हैं, उन सब को कौन गिन सकता है? उनमें से जो अट्ठारह गिनाए जाते हैं, उन्हें लोग "व्यसन" कहा करते हैं। परंतु सच पूछो तो वेही रसभूमियाँ हैं और उनके बिना इंद्रियाँ भी निष्फल ही हैं। उन्हें यदि काल और नियम के अनुसार सेवन किया जाय, तो यों तो प्राणिमात्र के लिये, परंतु राजा लोगों को विशेष रूप से सुख देनेवाले हैं। अब रही यह बात कि ये तो "व्यसन" हैं, शास्त्रकारों ने इनकी निरंतर निंदा की है, यहीं तक नहीं, इनमें जो अनुरक्त हुए, उनका अधःपतन हुआ, ऐसा इतिहास से सिद्ध है। इस विषय में यह सोचना चाहिए कि मान लो कि स्त्री का सर्वथा सेवन न करें, तो बताओ "पुत्" नाम के नरक से उद्धार करनेवाले पुत्र का जन्म क्योंकर होगा? और शिकार को यदि निषिद्ध बताते हो तो मांस, मृगचर्म, शृंग आदि

जो यज्ञ आदि कर्मों के विधि-विहित साधन हैं, उन्हें कैसे प्राप्त करोगे ? इसी प्रकार "दिवास्वप्न" (दिन में सोना) से, जिसकी व्यसनों में गणना की जाती है, इस शरीर की, जो इस लोक में धर्म, अर्थ और काम का एक मात्र साधन कहा जाता है, अजीर्ण आदि रोगों से रक्षा होती है।

निश्चय यही है कि इनकी आसक्ति त्याज्य है। भागवत का भी यही कहना है कि आसक्ति से बन्धन होता है। अब रही कर्म मात्र के परित्याग की बात, सो वह तो केवल मोक्ष के लिये है। जो जाति कर्माचरण बतलाया गया है, वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) को सिद्ध करता है। हाँ जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है, वह त्याग अवश्य मन, वचन और कर्म से करना ही चाहिए। रही संन्यास की बात, सो यदि सुकृतपुंज से मोक्ष के लिये कर्मों के संग के त्यागने की उत्कट इच्छा हो जाय, तो संन्यास ग्रहण करले। एक और बात है, और वह यह कि शास्त्रों ने भोग को भी कर्मों के क्षय का हेतु कहा है और इस विषय में ज्ञानी "सौभरि" का, जिसने बंधन से मुक्ति के लिये विषयों का सेवन किया था, उदाहरण विद्यमान है। और "रुचि" के प्रति, जिसे वैराग्य उत्पन्न हो गया था, पितरों से उसके कल्याण के लिये कही हुई निम्न लिखित मनोहर पंक्तियाँ सुनी जाती हैं—

> पूर्वकर्मकृतं भोगैः क्षीयतेऽहर्निशं तथा।
> सुखदुःखैः स्वकैर्वत्स पुण्यापुण्यात्मकं नृणाम्॥
> क्षीणाधिकारो धर्मज्ञस्ततः शममवाप्स्यसि।

आशय—हे वत्स ! मनुष्यों के पूर्वजन्म कृत कर्म पुण्यात्मक हों चाहे अपुण्यात्मक, रात दिन सुख-दुःखों के भोग के द्वारा वे क्षीण हो जाते हैं। अतः हे धर्मज्ञ ! जब तुम्हारे कर्म निःशेष हो जाएँगे, तब तुमको स्वतः मुक्ति मिल जायगी।

अर्जुन के प्रति भगवान् श्रीकृष्ण के भी ऐसे ही वाक्य हैं—

कुरु कर्म्मैव तस्मात्त्वं कर्म्मज्यायो ह्यकर्म्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्म्मणः ॥

आशय—हे अर्जुन! तुम कर्म करो, कर्म अकर्म से बढ़कर है। यदि कर्म नहीं करोगे तो यह शरीर-यात्रा भी नहीं सिद्ध हो सकेगी।

दूसरे शास्त्रों में भी तत्त्ववादियों के अनेक ऐसे वाक्य सुने जाते हैं, जिनमें उन्होंने गृहस्थाश्रम के पालन करनेवालों को कर्म करते रहने के लिये ही प्रेरणा की है।

न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ॥

आशय—जो न्यायपूर्वक धन उपार्जन करता है, तत्त्व-ज्ञान में निष्ठ है, अतिथियों से प्रसन्न होता है, श्राद्ध करनेवाला है, सत्य-वादी है, वह गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।

इन और अन्य वेद-वचनों से कर्मों से प्राप्त हुए भोगफलों का आस्वादन करना हेय सिद्ध नहीं होता। हाँ भोग इस प्रकार अवश्य होना चाहिए कि मनुष्य उसके बंधन में न पड़ जाय। देखिए, राजा जनक, जो प्रजा के पालन में तत्पर थे, भोगों को भोगते हुए मुक्ति के पात्र बने। यह अनासक्ति ही से हुआ था। दूसरे यह भी तो मोक्ष के लिये परम सुन्दर मार्ग है कि अपनी जाति के लिये, जो विहित आचार बताए हैं, उन्हें मनुष्य करता जाय तो मनुष्यों को स्वर्ग सुलभ हो जाता है। अतएव स्वर्ग, यश और आयुष्य के देनेवाले कर्म करने में मनुष्य तत्पर रहे। "कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि" इत्यादि वेद का भी तो निश्चय है।

सुकर्मों से जो सम्पत् प्राप्त होती है, वह भोग के लिये वांछित है, और वह भोग किसी न किसी तरह अठारह प्रकार के व्यसनों से संश्लिष्ट है। छोटी छोटी बातें ले लो; जैसे—अच्छा भोजन, चंदन, माला आदि। इन्हें भी तो व्यसनों में समन्वित किया जाता है। इसी तरह वसंत ऋतु, वर्षा ऋतु, चंदनादि सुगंधियों का सेवन, चंद्रोदय

आदि, जो कान्ता सहित हैं उनके लिये रम्य हैं; किंतु वियोगियों के लिये व्यथा स्वरूप हैं।

धर्मद्रुमस्य फलमर्थमुदीरयन्ति
शास्त्रेषु निश्चितधियो हि यथागमेन।
तं दानभोगविषये सुजनो नियुङ्क्ते
सम्यक् तयोः परिणतिः सुषमामुपैति ॥

आशय—जो शास्त्र-पारंगत हैं, वे वेदानुसार यह कहते हैं कि धर्मद्रुम का फल अर्थ है। सुजन उस अर्थ को दान और भोग में *नियुक्त करता है और उन दोनों का सम्यक् संवर्धन सुखस्वरूप है।*

यहाँ "कर्मानुपञ्जन" नाम का प्रथम परिच्छेद समाप्त होता है।

द्वितीय परिच्छेद—श्लोक २२

वाक्पारुष्य आदि जो १८ व्यसन कहलाते हैं, अब उनके पृथक् पृथक् नाम तथा उनकी हेयता और उपादेयता का वर्णन करते हैं—

वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये ईर्ष्यासूया च साहसम्।
अर्थदूषणपैशुन्ये क्रोधजे क्रोध एव च ॥
स्त्रियोऽक्षा मदिरागीतनृत्यवाद्यवृथाटनम्।
परोक्षनिंदाहःस्वप्नो मृगया चेति कामजाः ॥

आशय—१ वाक्पारुष्य, २ दण्डपारुष्य, ३ ईर्षा, ४ असूया, ५ साहस, ६ अर्थ-दूषण, ७ पैशुन्य, ८ क्रोध, ९ स्त्री, १० अक्ष, ११ मदिरा, १२ गीत, १३ नृत्य, १४ वाद्य, १५ वृथा अटन, १६ परोक्ष निंदा, १७ अहः स्वप्न और १८ मृगया ये "काम" से उत्पन्न हुए व्यसन हैं।

१—अश्लील और कठोर वचन का कहना "वाक्पारुष्य" कहलाता है। माना कि यह बुरा है, परंतु दण्ड देने और विवाद (व्यवहार) निर्णय में बुरा नहीं।

२—जिसको दण्ड न देना चाहिए, उसको दण्ड देना और जितना दण्ड देना चाहिए, उससे अधिक देना "दण्ड-पारुष्य" कह-

जाता है। ऐसा करना बुरा है; परन्तु संकट में (प्रतापशमनाथ) गौरव जमाने के लिये ऐसा किया जाना बुरा नहीं कहा जाता।

३—दूसरे की वृद्धि को न सह सकना "ईर्ष्या" कहलाता है। उसका "सपत्न" अर्थात् एक ही अर्थ में साथ साथ यत्न करनेवाले एवं शत्रुओं के प्रति होना अच्छा है; क्योंकि उससे उत्तेजित होकर मनुष्य उनका नाश करने का यत्न करेगा।

४—गुण में दोष का आरोपण करना "असूया" कहलाता है, परन्तु आख्यायिकाओं और रंगभूमि में विदूषक आदि का ऐसा करना बुरा नहीं कहा जाता।

५—जिसके करने में प्राणों के बचने का भी संदेह हो, वह कार्य "साहस" कहलाता है। साधारण अवसरों पर ऐसा करना अपनी हँसी कराना है। परंतु विपत्ति में ऐसा करना प्रशंसनीय होता है।

६—उपहार के लेने अथवा देने में गुण दोष का न देखना, यथाधर्म प्राप्त हुए धन का अंगीकार न करना, कुपात्र को धन देना, विघातक दान देना अथवा दान देकर वापस लेना "अर्थ दूषण" कहलाता है। ये बातें चतुर दूत द्वारा शत्रु के राज्य में करवाई जानी चाहिएँ।

७—दूसरे के दोषों का उघाड़ना "पैशुन्य" कहलाता है। परंतु दूत के मुख से दूसरे के दोष जानने चाहिएँ और निर्णय करके उनका प्रतिकार करना चाहिए।

८—दण्ड आदि देने में क्रूरता करना "क्रोध" कहलाता है। यह औरों में नहीं, परंतु निरंतर अपकार करनेवालों से करे।

९—स्त्री के विषय में कहा है—

सुलक्षणा कलाभिज्ञा दक्षा सौभाग्यसंयुता।
वयोविनयसंपन्ना सा स्त्री स्त्रीत्युच्यते बुधैः॥

आशय—विद्वान् लोग सुलक्षण, कलाविद्, दक्ष, सौभाग्य-शील और यौवन-विनय-संपन्न स्त्री को "स्त्री" कहते हैं। वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) और गृहस्थाश्रम के कर्मों को ए

चित् न प्राप्त करे, तो इतना तो अवश्य ही है, कि यह मरकर शंकर का किंकर होकर शंकर के साथ ही आनंद प्राप्त करता है।

१३—नृत्य दो प्रकार का होता है-एक तो उद्धत, जिसे "तांडव" कहते हैं, और दूसरा "लास्य" जो अभिनयात्मक है। वह चारी और लय से युक्त होता है।

१४—वाद्य चार प्रकार का बताया जाता है। तत् आदि उसके भेद हैं। नृत्य और वाद्य का प्रयोजन गीत के प्रयोजन (अर्थात् चतुर्वर्ग साधन) के समान ही है।

१५—कार्य के बिना जो उद्यान और नगर में घूमना है, वह "वृथाटन" कहलाता है। वह भी शरीर के आलस्य की शांति के लिये उपयोगी है।

१६—परोक्षनिंदा का अर्थ तो स्पष्ट ही है। उसकी भी कभी प्रतारणा करने में आवश्यकता होती ही है।

१७—सब ऋतुओं में दिन में सोना दिवा स्वप्न कहलाता है। यह बालकों, अतिसारवाले रोगियों अथवा अन्य किसी क्षीण करने-वाली व्याधि से पीड़ितों और अजीर्ण से ग्रस्तों के लिये अच्छा है।

१८—ये १७ व्यसन तो गिना चुके। अब अठारहवाँ "मृगया" है। इनके हेय और उपादेय होने के संबंध में भीष्म पितामह ने धर्मराज युधिष्ठिर से निम्न लिखित पंक्तियाँ कही थीं—

"व्यसनानि च सर्व्वाणि त्यजेथा भूरिदक्षिण।
न चैव न प्रयुञ्जीत संगन्तु परिवर्जयेत्॥"

आशय—हे महादानी! तुम सब व्यसनों का त्याग करो, परंतु इससे यह मत समझो कि उन्हें सर्वथा प्रयोग में ही न लाओ। इनका संग अर्थात् उनमें आसक्त हो जाना हेय है।

इत्यमत्र परिचिंत्य लाघवं
गौरवञ्च गुणयोगतः पृथक्।
संगमात्रमपहाय योजयेद्
रञ्जनाय जगतो यथायथम्॥

आशय—इसलिये इनके गौरव और लघुता का विचार करके प्रत्येक का उसके गुणवत्तानुसार संसार के अनुरंजन के लिये संग मात्र (आसक्ति) को त्यागकर प्रयोग करना चाहिए।

यहाँ "व्यसनहेयाहेयतानिरुपण" नाम का दूसरा परिच्छेद समाप्त होता है।

तृतीय परिच्छेद—श्लोक ७१

अब मृगया का संक्षिप्त और विशद रूप से वर्णन करते हैं। यद्यपि यह है तो एक ही व्यवसाय, परंतु इसके अनेक विभाग हैं। हम उनमें से आठ का निरूपण करेंगे। यों तो किसी तरह मांस आदि अर्थ-सिद्धि के लिये अथवा अपना मन बहलाने के लिये जो किसी जीवधारी को मारता है, वह मारना "मृगया" कहलाता है। जहाँ प्राणधारियों की हिंसा होती है, वहाँ नाना दोष उत्पन्न होते हैं। यज्ञीय पशु १४ प्रकार के हैं। उनमें से कुछ ग्राम्य हैं और कुछ जंगली। इनकी यदि बिना प्रोक्षण किए हुए हिंसा की जाय तो दोष गिना जायगा। इस जीव-हिंसा के प्रसंग पर पाण्डु-किंदम संवाद में महर्षि द्वैपायन (व्यास) ने निम्न लिखित श्लोक कहा है—

"शत्रूणां या वधे वृत्तिः सा मृगाणां वधे स्मृता।
राज्ञां मृग ! न मां मोहात् त्वं गर्हयितुमर्हसि ॥"

आशय—शत्रुओं के वध के लिये जो विधान बताए हैं, वे ही मृगों के वध के लिये भी हैं। हे मृग ! तू अज्ञान से व्यर्थ मेरी निंदा मत कर।

मृगों (जीवों) का वध निष्कपट अथवा कपट द्वारा किया जा सकता है। सत्र में विराजमान महर्षि अगस्त्य ने महावन में जंगली पशुओं पर जल प्रोक्षण कर देवताओं के समर्पण कर मृगया की थी। अगस्त्य ने प्रोक्षण कर दिया था, अतएव उस मृगया में हिंसा नहीं गिनी गई। यागादि में यथाविधि ग्राम्य पशुओं का जल प्रोक्षण कर चढ़ाया जाना अनिंद्य माना ही जाता है। अगस्त्य जी के उपर्युक्त

मोक्षण से जंगली पशुओं का वध भी अनिंद्य है; और अनेक राजाओं ने मृगया का सेवन किया, इस बात के अनेक ऐतिहासिक प्रमाण हैं।

यदि यह कहें कि मृगया में तो व्यायाम और उपघात से बहुत थकावट और श्रम होता है, सुख का नाम तो व्यर्थ ही ले रक्खा है, तो इसका यह उत्तर है—

यथा प्रसह्य मानिन्याश्चुम्बनालिंगनादिकम् ।
आयाससाध्यमप्यन्तर्न नाम मुदमञ्चति ॥
प्रहारो नखदंतादेर्यथैव स्मरसङ्गरे ।
उपघातस्तथैवात्र रसावेशान् न वा रुजे ॥

आशय—जैसे रति विलास भी श्रम-साध्य है, परंतु रोचक है, वैसे ही मृगया को भी समझना चाहिए।

इसलिये मृगया की जो परिभाषा पहले कर आए हैं, वह सिद्ध है। अब जो मृगया के आठ भेद हैं, उनका विवेचन करते हैं। जैसे एक ही कामिनी हर-मूर्ति के समान अवस्था भेद से आठों प्रकार का रस उत्पन्न करनेवाली होती है, वैसे ही यह मृगया भी है।

आश्वीनान्या सजालान्या काल्यान्या यावशी परा ।
सापेक्षान्या पदप्रेक्षा तथा श्वगणिका परा॥
श्येनपाताष्टमी चैताः क्रमेण परिकीर्त्तिताः ॥

आशय—मृगया के आठ भेद ये हैं— १—घोड़े पर चढ़कर; २—जाल डालकर; ३—धोखा देकर; ४—घास के हिलने से संकेत समझकर; ५—ओट में बैठकर; ६—खोज ढूँढकर; ७—कुत्तोंद्वारा; और ८—श्येन (बाज़) द्वारा करना।

अब इनके लक्षण और व्यवहारों का वर्णन करते हैं। घोड़ों की सहायता से बाण आदि से दौड़ते हुए जानवरों को मारना "आश्वीना" मृगया कहलाता है। यह रस का ख़ज़ाना है। उसके लिये वृक्षों, कीचड़, कंकड़, पत्थर और गड्ढों से रहित भूमि होनी चाहिए। इसके लिये आधे शिशिर से आधे जेठ तक का समय अच्छा है। इसके सेवन से मेद (चर्बी) कम होती है, शरीर में लघुता आती

है। हाँ, मृगया के संबंध में परिज्ञान के लिये संक्षेप में कुछ वर्णन करना आवश्यक है।

श्येनों द्वारा दूर ही से पक्षियों का पकड़ा जाना तथा धनुर्धारियों से चल अथवा निश्चल लक्ष्य का बलपूर्वक अचूक बींधा जाना ऐसा प्रेम उत्पन्न करता है कि आँखों में आँसू आ जाते हैं, शरीर पर रोमांच हो जाता है और कंठ गद्गद् हो जाता है। यदि लक्ष्य के वेधने में विफलता हो जाय, तो वियोग भी दुस्सह होता है। अनेक प्रकार के वितर्कों का स्मरण होता है, मनुष्य की आकृति बदल जाती है, यहाँ तक कि विलाप आदि होने लगता है। अतः ये दशाएँ मृगया और मनोरमाओं के संबंध में समान हैं। यहाँ तक यह सिद्ध हुआ कि मृगया भी त्रिवर्ग के साधन के लिये प्रशस्त है।

खुले हुए स्थान में, जहाँ अनुयायी लोग वायु की गति की ओर खड़े हुए हों और एकतान हों, तो शिकार आसानी से हो जाता है। गैंडे के शिकार में पाँच छः सवार काफी हैं; परंतु घोड़े वश में रहनेवाले एवं चाल में सधे हुए होने चाहिएँ, और सवार को गैंडे की पीठ पर झट झट प्रहार करने चाहिएँ। यदि गैंडा उलटा मुड़े तो सवार को अपने घोड़े की निपुणता के भरोसे तुरंत उसके सामने आना चाहिए और दूसरे साथियों को उसे पीछे से बींधना चाहिए; अथवा श्रेष्ठ धनुर्धारी साथियों को उसकी बगल में बाण मारने चाहिएँ। वेगवान् घोड़ों से धनुर्धारी इस मृगेन्द्र को भी, चाहे वह सामने हो अथवा आड़ में, बिल्ली के समान मार लेते हैं।

"सजाला" शिकार वह कहलाता है जिसमें कपट (कूट वृत्ति) से मृगों को मारते हैं अथवा मछली, शंख, उद्र (जलमार्जार) और शुक्तियों को बंधन में डालते हैं। इसके अनन्त साधन हैं। इस शैली का शिकार प्रायः निषाद, नीच लोग और ऐसे वैसे ही किया करते हैं, परंतु यह हाथी आदि के पकड़ने में बड़े सुभीते का एवं अति लाभदायक होने से राजाओं को भी उसका प्रयोग करना चाहिए। इसमें कपट प्रबंध करना निन्दनीय नहीं है, क्योंकि वालि के वध के

प्रसंग में इस विषय में वाल्मीकि मुनि ने निम्नलिखित क्रियाँ लिखी हैं—

> "वागुराभिश्च कूटैश्च पाशैश्च विविधैर्नराः।
> प्रतिच्छन्ना अदृश्याश्च गृह्णंति बहवोऽद्भुतम्।
> विध्यन्त्यभिमुखांश्चापि मृगयाधर्मे कोविदाः॥"

आशय—मनुष्य जानवरों को अनेक प्रकार के जालों से, कूटों (कपट अथवा मृगों के बाँधने की कलाओं) से, फंदों से अथवा गुप्त स्थान में छिपकर बंधन में लाते हैं। मृगया धर्म में जो निपुण हैं, वे सामने आते हुए पशुओं को तीरों से वेधते हैं।

सिखलाए जाने से जो एक मृग दूसरे मृग को पकड़ता है अथवा एक पक्षी दूसरे पक्षी को पकड़ता है, वह भी "सजाला" शिकार के अंतर्गत ही है।

"काल्या" नाम का शिकार वह है जो कई मनुष्य मिलकर एवा उनमें से कुछ पीछे और कुछ आगे खड़े होकर, यों पृथक् पृथक् होते हुए भी एक ही उद्देश्य में तल्लीन होकर करते हैं। काल्या के चार भेद हैं। पहला भेद "बहुकर्णिका" है। इसमें हवा के सामने दो तीन मनुष्य खड़े होकर खूब शोर मचाते हैं और "त्रिकर्णि" त्रिशूल जैसे शस्त्र चलाकर मृगों को मारते हैं। दूसरा भेद "मूलतलग्निका" है। इसमें बहुत से मनुष्य वृक्षों की ओट में छिप जाते हैं और चुपके से पीछे से निकलकर इकट्ठे हो धोखे से मृगों को मारते हैं। तीसरा भेद "महाकाल्या" है। इसमें बहुत दूर से बहुत से मनुष्य एकत्र होकर आक्रमण करते हैं और वे क्रम से समीप आकर सब प्रकार के मृगों को रोककर सब को तलवारों से अथवा किसी और प्रकार के शस्त्रों से मारते हैं। इसे राजा अथवा राजा जैसे बड़े आदमी ही कर सकते हैं। चौथा भेद "गजकाल्या" है इसमें घोड़े के सवार ग्रीष्म ऋतु में अल्प जलवाले स्थान में हाथियों को घेरकर पकड़ते हैं। जो शिकारी उपर्युक्त चार प्रकार का शिकार करें, उन्हें तीर चलाने तथा शूल करने में सुनिपुण होना चाहिए।

अन्यथा उनका श्रम करना व्यर्थ है और अपने साथियों को निरर्थक संकट में डालना ही है।

"यावशी" नाम का शिकार वह है, जिसमें खेती, घास आदि के हिलने का, जो जानवरों के वहाँ छिपने से होता है, संकेत पाकर किया जाता है। इसे दो तीन सवार, जो अच्छे तीरंदाज हों, करते हैं। यदि घास के हिलने को सावधानी से देखा जाय और पशुओं की गति शीघ्रता से न हो, तो इसमें सफलता हो जाती है। यह आनन्द-दायक है और अधिक श्रमकारी नहीं है।

"सापेक्षा" नाम का शिकार वह है जिसमें एक अथवा एक से अधिक धन्वी मृगादि की प्रतीक्षा में छिपे हुए रहते हैं और विषयुक्त बाणों से उन्हें बींधते हैं। यह जहाँ खेतों में बिभीतक (बहेड़ा) आदि के वृक्ष हों वहाँ अथवा, जल पीने के स्थानों में किया जाता है। गौ के शव (लाश) आदि को पटक देने से सिंह आदि का शिकार आसानी से हो जाता है।

"पदप्रेक्षा" नाम का शिकार वह है जिसमें पद-चिह्न का अनु-सरण करके मृगों (जानवरों) को मारते हैं। इसके दो भेद हैं। पहला भेद "श्वपद प्रेक्षिका" कहलाता है। इसमें कुत्ते चारों ओर शिकार को ढूँढते हैं; फिर वह मारा जाता है। दूसरा भेद "पूर्वशब्दिता" है। इसमें धन्वी प्रयत्नपूर्वक कुशलता से स्वयं शिकार को ढूँढ़ता है और फिर सोते हुए को अथवा सोकर उठे हुए को मारता है। ये दोनों प्रकार के शिकार रेतीले जंगल में अथवा (सानूप) जलप्राय देश में वर्षा ऋतु में सहज ही में सिद्ध हो जाते हैं; परंतु अन्य ऋतुओं में ये अति श्रम से सिद्ध होते हैं।

"श्वगणिका" नाम का शिकार वह है जिसमें कुत्ते लक्ष्य किए हुए शशक (खरगोश) आदि को पकड़ते हैं। इसमें सिद्धि या असिद्धि शशकों के उछलने तथा उनके कुत्तों के मुख में आने पर निर्भर है। हाँ, उनका गिरना और उछलना हँसी के मारे मनुष्य का पेट फुला देता है। शशक अतीव आक्रन्दन करते हैं और श्वान उनका पीछा करते हैं।

परिणाम यह होता है कि थोड़ी ही देर में घोर घमासान मच जाता है और प्रचंड चंडी चेतती है। ऐसा भी होता है कि खुले स्थान से रस्सी खोलने में चतुर पुरुष अपने कुत्तों को शिकार को लक्ष्य कर दो तीन बार करके छोड़ देते हैं और यों सिद्धि हो जाती है। ऐसे अवसर पर सहसा बाण मार देना इतना अच्छा है, जितना वह अन्य अवसरों पर नहीं है क्योंकि बाण शिकार को मार देता है और शिथिल कुत्ते की, जो लड़ रहा है, रक्षा हो जाती है। ऐसे अवसर पर खरगोशों पर डंडे भी युक्तिपूर्वक फेंकने चाहिएँ। शिकार की यह शैली बहुत प्रमोदास्पद है। इसका एक और भेद है जिसे "रज्जमोक" कहते हैं। उसका प्रयोग कृष्णसार और रुरु मृगों पर युक्तिपूर्वक रस्सी फेंककर करते हैं और वह शिकार भी बड़ा रसीला होता है।

"श्येनपात" एक अति रसीली मृगया है जिसमें दो प्रकार से श्येनों को पक्षियों पर फेंकते हैं। क्या श्येनपात मृगया है? उसमें पक्षी की स्वाभाविक प्रवृत्ति का प्रतिपादन होता है या किसी अन्य पुरुष की इच्छा का? यदि यह कहें कि जंगली पक्षियों को प्रवृत्ति का प्रतिपादन होता है, तो उसे "मृगया" कहना निरर्थक है। यदि यह कहें कि शशाद (एक प्रकार का श्येन) मृगों को पकड़ते हैं, इसलिये "मृगया" सार्थक है, तो सिंह आदि जब अपने लिये पशु पकड़ें तो उसे भी "मृगया" क्यों नहीं कहते? इसका समाधान यह है कि एक नहीं अनेक अर्थों के लिये बारंबार जीव का जो अन्वेषण करना है, वह मृगया कहलाता है। वह "तिर्यक्" या छोटे प्राणियों में नहीं पाया जाता। वे मारते हैं तो केवल अपने उदरपूरणार्थ मांस के लिये। इसके अतिरिक्त उनका और कोई उद्देश्य नहीं होता। मृगया का उद्देश्य मांस उपार्जन करना ही नहीं है। उससे मोती, मृगचर्म, कस्तूरी आदि की भी प्राप्ति होती है। यही नहीं, किंतु उसमें हाथियों को भी पकड़ते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि जीवों का नाना अर्थ-सिद्धि के लिये अन्वेषण किया जाता है, अतः इसे मृगया कहते हैं। इसलिये श्येनों को कैसे फेंकना चाहिए,

इसका वर्णन आगे करेंगे और इसी लिये आठवीं मृगया "श्येनपात" बतलाई है।

> पतस्या विशदतया किलाष्टभेदा
> निर्दिष्टाः पुनरपरे ह्यवांतरा ये।
> ते सर्वे रसजननाय नैकरूपाः
> कल्प्यंते विहितविधानसंप्रयोगात्।

आशय—मृगया के स्पष्ट रूप से आठ भेद हैं; परंतु अवांतर भेद अनेक हैं। वे सब एक ही प्रकार का रस नहीं उत्पन्न करते, किंतु विविध विधान उनसे भिन्न भिन्न रस उत्पन्न होते हैं।

यहाँ पर *"मृगयाविवेचन" नाम का तृतीय सर्ग समाप्त* होता है।

चतुर्थ परिच्छेद—श्लोक ६२।

इस प्रकार का शिकार कई भाँति किया जाता है। उदाहरणार्थ-श्येनों में विश्वास उत्पन्न करके, उनके लक्षणों को जानकर और उनके फेंकने के नियमों का परिज्ञान करके। मोक (फेंकना) दो प्रकार का होता है—एक "हस्तमोक" कहलाता है और दूसरा "मुष्टिमोक"। हस्तमोक वह है जिसमें मनुष्य श्येन के पाश (डोरी) को अपनी उँगलियों में ग्रहण किए रहता है और श्येन को मार्गित जंतु पर झपटने को फेंकता है। "कुही" श्येनों के संबंध में तो यही एक मात्र विधि है और यह "वास" श्येनों के संबंध में भी बहुत अच्छी है। "मुष्टिमोक" वह कहलाता है जिसमें श्येन को हथेली पर रखकर कपड़े से उसके परों की इस तरह रक्षा कर उसे फेंकते हैं कि उसके उड़ने में बाधा न पड़े। ये दोनों प्रकार के मोक मार्गित जंतु की दूरी के अनुसार करने चाहिएँ, और वे असक्त (निर्दोष), लघु, (फुरती से किए हुए) तथा सोल्लास (उत्साहयुक्त) होने चाहिएँ, जिससे श्येन का पक्षी पर आघात अतर्कित हो।

अब श्येनों में विश्वास कैसे उत्पन्न करना चाहिए, इस विषय

का वर्णन करते हैं। प्रारंभ में चतुर पुरुष को चाहिए कि (सीवनेन विमुद्रयेन्नेत्रे) सूई से सीकर उसके नेत्रों को बंद कर दे जिससे वह पाँच दिन तक उसका मुख न देख सके और न उसे इन दिनों में अपनी वाणी सुनावे। तदनंतर प्रत्येक रात्री को दीपक आदि के मंद प्रकाश में उसके नेत्रों को खोले और निर्मल शीतल जल से धोवे। उसे शनैः शनैः परिचय करावे और अपनी बोली पहचानवावे। यों क्रम से हस्तादि स्पर्शों से, वाक्यों के उपलालन से, नियमित काल में जल और मांस प्रदान करने से, सांत्वना देने से, छाया (ठंड) और आतप (गर्मी) से उसकी रक्षा करने से और क्रम क्रम से उसकी आँखें खोलने से उसको पालतू करे। उनके पालतू हो जाने या न हो जाने का ज्ञान उन्हीं की चेष्टाओं से करना चाहिए। जब वे निमीलित नयन एक पाँव से खड़े हों, चोंच से अपने परों को खुजलावें, अपने परों को विस्तृत करें और शिक्षक के मुख को सौम्य दृष्टि से देखें, तो समझना चाहिए कि वे (रक्त) पालतू हो गए। यदि ऐसा न करें तो उन्हें (विरक्त) जंगली ही समझना चाहिए। जब यह जान लें कि ये पालतू हो गए तो रज्जु से बँधे हुए ही उन्हें मांस आदि का प्रलोभन कर पास बुलावे। दूरी को क्रम क्रम से बढ़ाते जायँ और उनको दो या तीन बार बुलावे। जब बुलाने पर वह विलंब न करे, न तिरछी चाल चले, न मांस ले तब रस्सी हटाकर बिना रस्सी के ही उसे बुलाना चाहिए। तदनंतर उसे वृक्ष पर फेंके और फिर वहाँ से अपने पास बुलावे। फिर उसके पूर्व संस्कार का स्मरण कराने के लिये उसे कलविंक (चटक, एक चिड़िया) और कपोत आदि पक्षियों को शिकार करने दे। जो श्येन इस भाँति पालतू न हो सके हों, उन्हें क्रम क्रम से बहुत निगरानी से, (अत्यंत कर संयोगैः) बारबार थपकी लगाकर और खींच खींचकर अपने वश में करे।

श्येनों की जातियों के अनुसार उनके रंजन करने की भिन्न भिन्न क्रियाएँ हैं, अतः उनकी विविध जातियों का वर्णन करते हैं। इनकी

दो नितांत भिन्न जातियाँ हैं; एक "कृष्णाक्ष" काले नेत्रवाली और दूसरी "पाटलाक्ष" लाल नेत्रवाली। इन दोनों जातियों के अवांतर भेद बहुत से हैं, परंतु उनमें से जो मुख्य हैं, वे नीचे दिए जाते हैं—

(१) कुही, (२) शशाद, (३) चरक, (४) वहरी; (५) लगर, (६) पत्त कलिका और (७) तुरमुती। ये सात कृष्णाक्ष जाति के भेद हैं। यह जाति बहुत निगरानी से पालतू की जाती है। यह मांस खाती है और जल पीती है। यदि इस जाति का श्येन शिक्षक के हाथ को काटने लगे, तो उसके मुख में कंकर ठूँसने चाहिएँ। इनका बनावटी विश्वास अथवा विश्वासाभास तो झट ही उत्पन्न हो जाता है, परंतु आभ्यांतर विश्वास बड़ी कठिनता से उत्पन्न होता है; अतः इनको युक्ति से वश में करना चाहिए। इन्हें जब बुलावे तब इनके पक्ष को बँधा रक्खे या कपड़े की थैली में रक्खे। जब वे आवें, तब उन्हें कुछ आहार देना चाहिए जिसमें उनकी आशा बँधी रहे। दुष्ट पक्षियों को दुष्ट पुरुषों के समान ललकारकर, पीटकर और पुचकारकर अपने वश में करे। अति पुष्ट होने पर ये उपद्रवी हो, जाते हैं और अति पीड़ित होने पर ये अशक्त हो जाते हैं। वस्तुतः जैसे नीच पुरुष होते हैं, वैसे ही ये पक्षी भी हैं। इनकी प्रत्याशा बढ़ाने से और इनके कर्म के अनुसार इन्हें दान (भोजन) देने से ये सेवकों के समान सुसेवक बन जाते हैं। इस जाति के पक्षी दूर से ही संबोधन जानने, दूर के शिकार पर आक्रमण करने और बड़े बड़े मार्गित जंतु पकड़ने में प्रवीण होते हैं।

अब दूसरी जाति के पक्षियों का वर्णन करते हैं—"पत्र" "बाज" और "छूद" ये तीनों पर्य्यायवाची नाम हैं। सामान्य नाम "बाज" है। जैसे अश्वत्थामा, कर्ण, भीष्म, पार्थ और रुक्मी ये पाँचो ही बायें हाथ से धनुष चलानेवाले थे, परंतु विशेषता के कारण पार्थ (अर्जुन ही "सव्यसाची" कहलाए, वैसे ही "बाज" नाम उपर्युक्त तीनों का है, तो भी श्वेन पक्षी को बाज (बाजः वेगः पक्षो वा अस्ति अस्य) कहते हैं। बाज, बास, बेसर, सिचान, जुर, चेट, धूति, दुथा, एवं

इनकेनर ये "पाटलास" जाति के भेद हैं। इन दोनों जातियों में मारीन बल, बनावट, साहस, मूल्य और उड़ने की सफाई में विशेष प्रशंसनीय है। प्रधानता से बाजादि को पुल्लिङ्ग में ही कहा है। बाज पाँच प्रकार के हैं। उनके पृथक् लक्षण वर्णन करते हैं। पहला "बलाक" है। वह आकृति में दुबला होता है, उसकी छाती और जंघा के समीप के पर काले और सफेद होते हैं। वह सुखसाध्य गिना गया है। दूसरा "चक्रांग" कहलाता है। उसकी आकृति चक्रवाक के समान होती है। तीसरा "कालक" कहलाता है। वह कंकाभ (जलमुरगाबी) के समान आकृति में लंबा और काला होता है। वह बहुत दिनों में पालतू होता है और पालतू होकर भी दगा दे जाता है। चौथा "हंस बाज" कहलाता है। उसका सारा शरीर हिम के समान श्वेत होता है। वह जहाँ सत्कार से रक्खा जाता है वहाँ कल्याण होता है। उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए और उसे साधारण तौर परआखेट में नहीं लगाना चाहिए। उसके स्पर्श मात्र से ही चौथिया आदि ज्वर नष्ट हो जाते हैं। पांचवाँ "महारावण" कहलाता है। उसकी पूँछ और परों पर बड़ के पत्तों के से निशान होते हैं। वह बाजों का राजा कहलाता है। वह कौतुकास्पद पक्षी बड़े पुण्य प्रताप से प्राप्त होता है। वह पक्षियों के झुंडों को दला डालता है। इसलिये वह "महारावण" कहलाता है। बाज चार प्रकार के हैं: १-औरङ्गन, २-धावन, ३-प्रतिष्ठान और ४-शिकार। औरङ्गनों के भी बहुत भेद हैं और उनके विक्रम, साहस और वर्ण भिन्न भिन्न हैं। धावन काया में सूक्ष्म तथा सुकुमार होते हुए भी बहुत अधिक वेगवाले होते हैं। प्रतिष्ठानों के पक्ष बहुत होते हैं और वे साहस और वेग में मन्द होते हैं। उन्हें रोग नहीं होता और उनका शरीर सुदृढ़ होता है। वे उस देश में उत्पन्न होते हैं जहाँ पर बाज अधिकता से पाए जाते हैं। वे कुछ सफेद से, कुछ लाल से और कुछ काले से होते हैं। शिकार सुशील वेगवाले, हिंसक और बड़े साहसी होते हैं। उनकी बनावट

ऐसी सुडौल होती है कि उनको देखते ही अमृत बरसने लगता है। अति सुकृतों से शिक्षा और संस्कारशालीन शिकार पक्षी प्राप्त होते हैं। उन्हें अधिक चेतावनियों और परिश्रमों से क्लेशित नहीं करना चाहिए, किंतु बारबार प्यार करके रखना चाहिए। अपना मन बहलाने के लिये जब ये पुष्ट हों तभी इन्हें मृगया में नियोजित करना चाहिए। बेसर तीन प्रकार के हैं—

पहला माणिक जो मोटा होता है और अधम है। दूसरा चूलिकाङ्क, जो न मोटा होता है और न पतला। तीसरा प्रकार जो सब से अच्छा है, उसके पक्ष अधिक होते हैं और वह साहस में वासा के समान होता है। सिचान, बनावट और स्वभाव में अनेक प्रकार के हैं। वे भिन्न भिन्न देशों में होते हैं; अतः उनकी चेष्टाएँ भी देशानुसार भिन्न भिन्न हैं। इनमें नर विशेष लक्षणों से पहचाने जाते हैं; परंतु ग्रन्थ के विस्तार भय से उन लक्षणों का वर्णन नहीं करते। उन पक्षियों में जिसका शिर सर्प के फण के समान हो, गरदन उन्नत हो, पंख विस्तृत हों और छाती चौड़ी हो वह सब से अच्छा गिना जाता है। इन के सामान्य अच्छे लक्षण निम्न लिखित हैं—

नलिका छोटी, गोल, मोटी और सुदृढ; उँगलियाँ लम्बी, जोड़ सुश्लिष्ट और नख तेज़ होने चाहिएँ। उनका बैठना स्वस्तिक चिह्न के समान होना चाहिये। "वास" यदि मधुरवाक् हो तो प्रशस्त है, परंतु "बाजी" मूक अच्छा। कुक्षी, कंठ और कर्णों का अंत भाग चाँदी का सा हो तो अच्छा है। श्येनों का यदि सत्कार-पूर्वक रक्खा जाय और उन्हें लालन कर अनुरंजित किया जाय तो वांछित अर्थ की प्राप्ति के लिये वे सुसचिवों के समान साधक होते हैं। जैसे राज्य-तन्त्र विधान को जाननेवाला सचिव ही अपने राजा की असामान्य बुद्धि के कौशल के वैभव को जानता है, वैसे ही श्येन पक्षी अपने शिक्षक के बुद्धि-वैभव को जान लेता है।

यत्र लब्धोपशमनमलब्धार्थोपचिन्तनम्।
दुष्टानां कर्षणं युक्त्या विनीतानाञ्च पोषणम्॥ ५७॥

उत्साहवर्धनं कामपूरणैः कृतकर्मणाम् ।
रञ्जनं रक्षणं शश्वत् रक्तारक्तपरीक्षणम् ॥ ५८ ॥
विश्वासनमविश्वासो नेत्रचेष्टानिरूपणम् ।
साध्यसाधनयोर्ज्ञानं शक्याशक्यविवेचनम् ॥ ५६ ॥
ज्ञात्वा नियोजनं योग्ये तथा योग्यान्निवर्त्तनम् ।
इत्याद्युद्या गुणा ये च राजधर्मे प्रदर्शिताः ॥ ६० ॥
तत्र ते श्यैनिके शास्त्रे विज्ञेयन्ते मनीषिभिः ।
यथावकाशं हि रसा नाट्यादौ ये विनिर्मिताः ॥ ६१ ॥

आशय—जो गुण राजधर्म में प्रशंसित हैं, वे सब के सब श्येन के संबंध में भी आवश्यक हैं। अर्थात् नव प्राप्त हुए (राज्य) का उपशमन करना, जो नहीं प्राप्त है, उसकी चिन्ता करना, युक्ति से दुष्टों को वश में करना, जो विनीत हैं उनका पोषण करना, जिन्होंने काम किया है उनकी इच्छाएँ पूर्ण करके उनका उत्साह बढ़ाना, निरन्तर (प्रजा का) रंजन तथा रक्षण करना, रक्त और विरक्त की परीक्षा करना, विश्वास उत्पन्न करना, विश्वास न करना, नेत्र और चेष्टाओं का निरूपण कर मन का भेद लेना, साध्य साधन का ज्ञान संपादन करना, शक्य और अशक्य का विवेचन करना, योग्य में नियोजन करना तथा अयोग्य को हटाना।

इतना ही नहीं किंतु वे रस जो नाट्य आदि में प्रदर्शित किए हैं, यथावकाश श्येन के शिकार में भी पाए जाते हैं।

इत्याद्यनेकरसभावनया गभीर-
मापामरादि सुखसेव्यतया सुबोधम् ।
संक्षिप्तयुक्तिरचितं परिशीलयन्तु
ते श्यैनिकन्तु मृगयाऽभिमता हि येषाम् ॥

आशय—नाना रस भावनाओं से गंभीर, पामर तक को सुख से सेवनीय होने से सुबोध, संक्षिप्त तथा युक्तिपूर्वक जो यह श्यैनिक शास्त्र रचा है, इसका वे पुरुष, जिन्हें मृगया अभिमत हो, परिशीलन करें।

यहाँ पर "श्येनविवेचन" नाम का चतुर्थ परिच्छेद समाप्त होता है।

पंचम परिच्छेद—श्लोक ७६

अब श्येनों की आहार-मात्रा का परिमाण, उनकी कालचर्या, रोग-परीक्षा तथा चिकित्सा का वर्णन करेंगे। कुही, चरक, बाज और बहरी के लिये २५ टंक (१ टंक=४ माशा) अच्छा मांस पर्याप्त है। शशादों को कम नहीं देना चाहिये। वे लंघन करने में असमर्थ होते हैं। यह मात्रा जाति मात्र से निर्देश की है, न कि उनको कार्यक्षमता का विचार करके। नर को मादा से पाँच टंक न्यून मांस देना चाहिए, पक्षकलिका को और भी पाँच टंक न्यून देना चाहिए और वासा को इससे भी दो टंक न्यून। शुद्ध वेसर और चूलद्धों को वासा के आहार से भी दो टंक न्यून देना चाहिए। सिचानों के आहार की मात्रा उनकी शक्ति के अनुसार निरूपण करनी चाहिए। तुरुमुती की मात्रा नौ टंक है। चेट, टोन और धूति जाति के श्येनों की मात्रा तुरुमुती से क्रमशः एक, दो और तीन टंक न्यून होनी चाहिए, परंतु इस मात्रा को उन्हें दोबार में खिलाना चाहिए। जैसे अवैतनिक आहार मात्र लेकर सेवा करनेवाले सेवक को यथायोग्य और समय पर आहार देना चाहिए, अन्यथा उसके साहस का क्षय होगा। उसी प्रकार इन श्येनों के आहार-काल में देर नहीं करनी चाहिए और न मात्रा में न्यूनता करनी चाहिए; अन्यथा इसका परिणाम अच्छा नहीं होता। ये मात्रा उन श्येनों की है जो आखेट में नियुक्त किए जाते हों; परंतु जब वे ज्येष्ठ के प्रारंभ में अपने पंखों को त्यागें, तब उनकी आहार मात्रा भिन्न होनी चाहिए। ग्रीष्म काल में जब दिशाएँ प्रचंड मार्तण्ड के ताप से सन्तप्त हो जाती हैं, शीर्णपर्ण वृक्ष शरण नहीं दे सकते, चारों ओर आँधियाँ चलती हैं, नदियों का जल उबला हुआ सा बहता है, प्रतप्त रेणु के कारण भूमि दुस्पर्श हो जाती है, जानवर उत्साहहीन, ज्वर से पीड़ित के समान, परस्पर

निर्झर दिखाई देते हैं, पक्षी सकरुण तार स्वर से आक्रन्दन करने लगते हैं, तब वह दावाग्नि के समान ग्रीष्म, इन पक्षियों को, जो हिमालय की उन तलहटियों से परिचय रखते हैं, जहाँ बहते हुए जल से धुली हुई निर्मल चट्टानें हैं और सुगंधित समीर बहती है, दुस्सह होती है। उस समय इनके ताप को उपशमन करनेवाले उपचारों का प्रयोग करना चाहिए।

श्येनों को ऐसे प्रासाद के शिखर पर, जो अंदर से सुधा के समान धवल हो, यंत्रों-द्वारा जल छिड़के जाने से शीतल हो, जहाँ कुछ दूर उपस्थित हुए मनुष्य पंखों से हवा कर रहे हों, अव्याकुल स्थान में रखना चाहिए; और वहाँ ऐसे जाल लगा देने चाहिएँ जिनमें होकर मक्खियाँ प्रवेश न कर सकें। अथवा उन्हें उद्यान में एक वेदी बनाकर, जहाँ अच्छे रक्षक नियुक्त किए हुए हों और जो कुल्य अर्थात् बनावटी चश्मे के जल से ठंडी की हुई हो, जहाँ पास पास खड़े हुए वृक्षों की अच्छी छाया हो, सूर्य्य की चंड किरणों का संचार न हो सकता हो, रखना चाहिए। अथवा उन्हें ऐसे रम्य भूगृह अर्थात् तहखाने में रखना चाहिए, जहाँ मच्छर न हों, जल छिड़कने से खस की सुगंध महकती हो और चारों ओर यवांकुर सुशोभित हो रहे हों। यह स्थान नेत्रों को आनन्द उत्पन्न करानेवाला, नासिका को सुगंधि से तृप्त करनेवाला, हवादार और अच्छा लंबा चौड़ा होना चाहिए। बहुतों को एक ही जगह नहीं रखना चाहिए, किंतु दो दो तीन तीन पृथक् पृथक् रखने चाहिएँ। वहाँ उनके सामने ठंडा जल कई बार रखना चाहिए, कलविङ्क आदि पक्षियों का ताजा मांस और हलका तथा रुचिकर आहार, जो पच सके, देना चाहिए। उनको पुष्ट बनाने के लिये आहार की मात्रा शनैः शनैः बढ़ानी चाहिए। उनके स्नान के लिये जल से भरी हुई कूँडियाँ उनके सामने रखनी चाहिए। यदि वे खाए हुए मांस का वमन करने लगें तो उसकी ओषधि भैंस के घृत में पिसी हुई मेथी है। यदि वे खाए हुए को न पचा सकें तो उन्हें कपूर के रस और मधु से

भिगोया हुआ बहुत ताजा मांस देना चाहिए । अथवा अजीर्ण के उपशमन के लिये चित्रक का चूर्ण देना चाहिए; अथवा उसे भाँग के रस में मिलाकर देना चाहिए और ऊपर से गरम जल पिलाना चाहिए । ये बातें ऐसी युक्ति से करनी चाहिएँ कि जिससे उनमें उद्विग्नता न उत्पन्न हो । (युक्ति सर्वत्र साधिका) युक्ति सब कुछ सिद्ध करनेवाली होती है । यदि वे कृश होने लगें तो उनको बकरी के दूध या गाय के घी में मिलाकर मांस देना चाहिए या उनकी जठराग्नि बढ़ाने के लिये उन्हें लौंग या मनुष्य के मूत्र में भिगोया हुआ मांस देना चाहिए। इस प्रकार उनकी भूख और आहार की मात्रा बढ़ाकर निरंतर सुशीतल उपचारों से उन्हें पुष्ट करना चाहिए ।

तदनंतर जब मेघ गरजने लगें, व्योम विद्युत् रूपी दीपक से प्रदीप्त होने लगे, मालती की महक सब मनुष्यों को प्रमुदित करने लगे, दादुर-ध्वनि चहुँ ओर सुनाई देने लगे, मयूर नृत्य करने लगें, कदम्ब के आमोद से सुगंधित हुई समीर सर्वत्र बहने लगे, नदियों का नीर गदला होने लगे, झिल्ली, (झींगुर नाम का एक प्रकार का कीड़ा) की झनकार उठने लगे, ऐसी वर्षा ऋतु में उनका ऐसा उपचार करें जिससे जैसे साँप अपनी केंचुली त्यागा करते हैं, वैसे वे पुष्ट रहते हुए अपने पुराने पंखों को त्यागकर नए पंख धारण करें। यदि पंखों के गिराने में देर करें तो कुछ का मत है कि उन्हें छिपकली (शरट) का मांस देना चाहिए। म्लेच्छ जाति के लोग गाय और भैंस के मांस में एक काली सी चीज देते हैं, परंतु यह घृणित होने से तथा परिणाम में पक्षियों को मंद करनेवाली होने से अच्छी नहीं। यदि कीड़े उनके परों को खाने लगें तो समान भाग में विडंग, चित्रक और कस्तूरी देनी चाहिए; अथवा स्थूल पक्षियों को मांस के साथ तीन दिन तक दो रत्ती सैंधव (सेंधा नमक) और कृश पक्षियों को केवल आधी रत्ती संधव देना चाहिए।

गरम पानी पिलाना चाहिए और समय समय पर कपूर मिलाया हुआ जल भी देना चाहिए। शाखा व्याधि के सब भेदों की एक ओषधि " मियायी " है। उसे बड़े पक्षियों को जो श्याम नेत्र के हों, तीन रत्ती देना चाहिए और छोटों को डेढ़ रत्ती; और जो श्वेत नेत्र-वाले बड़े पक्षी हों, उन्हें दो रत्ती तथा छोटों को एक रत्ती। आहार के लिये बकरी का दूध और भाँग का रस मिलाकर मांस देना चाहिए। दाँतों से चबाए हुए जीरे से उनकी आँखें प्रतिदिन धोनी चाहिएँ। इलाज तीन सप्ताह तक बराबर जारी रखना चाहिए। इक्कीस दिन तक रोगी श्येनों को मागधी (पीपल), रजनी (हलदी) बोल, मियायी, स्वर्जा, पाटला का चूर्ण कपड़छान कर बकरी के दूध में घोलकर मांस के साथ देना चाहिए। पहले सात दिन रोगियों को सैंजने की जड़ की छाल का चूर्ण आक के दूध (अर्क क्षीर) में मिलाकर मांस के साथ देना चाहिए। यदि ताप, धूम अथवा वात से नेत्रों में फूला पड़ जाय तो चाङ्गेरी की जड़ को बारीक पीसकर इन की आँखों में भर देना चाहिए। इससे अट्ठारह दिन में यह व्याधि दूर हो जाती है। अथवा हल्दी, नीम के पत्ते, मिरच, अभया (हड़) पीपल, मोथा और विडंग को समान भाग में लेकर बकरी के मूत्र में गोलियाँ बनावे और उन्हें छाया में सुखावे। लाल आँखवाले श्येनों में इन गोलियों का प्रयोग शहद और बकरी के दूध के साथ करना चाहिए। यह वटिका, व्याधि को ऐसे दूर करती है कि मानों वे रुद्र की बनाई हुई हों। पान, भोजन अथवा पित्त के विकार से नेत्रों पर अथवा मुख पर सूजन आ जाया करती है। यदि वह पकने लगे तो दुःसाध्य हो जाती है। कफ की वृद्धि से भी यह व्याधि उत्पन्न हो जाया करती है। इस अवस्था में भी यह दुःसाध्य है। यदि व्याधि की उत्पत्ति पित्त के विकार से हो, तो गूलर की छाल का चूर्ण बनाकर तिलों के तेल में मिलाकर मांस सहित खिलाना चाहिए और इसका लेप भी करना चाहिए। यदि व्याधि की उत्पत्ति कफ से हो तो तप्त लोहे की शलाका को दो शिरा

(Muscles) अर्थात् मांस-पेशियों में चुभोना चाहिए। मुख-पाक में मनुष्य के मूत्र में मिलाया हुआ मांस खिलाना बहुत अच्छा है। उसके मुख को भी मनुष्य के मूत्र से धोना चाहिए।

तंग बाँध देने से, भय से अथवा बारंबार उड़ने से पैरों पर जो घाव सहित सूजन हो जाती है, उसे "गर्दभी" व्याधि कहते हैं। यदि कुछ दिनों तक उसकी चिकित्सा न की जाय, तो वही "चांद्री" हो जाती है। इसमें पीपल और गूलर का मद मिलाकर पैरों पर बराबर सात दिन तक लगाना चाहिए; अथवा विट् (काला नमक ?) का लेप करना चाहिए। पहले जोंकें लगावे, फिर हल्दी और सेंधा नमक मक्खन में मिलाकर पट्टी बाँध देने से "चांद्री" तक आराम हो जाती है। एक पट्टी तीन दिन तक रखनी चाहिए, फिर दूसरी नई बनाकर लगावे। यों १२ दिन तक लेप जारी रखना चाहिए।

यदि आघात से श्येन का नीचला पीछा पकने लगे और वह दुर्बल होने लगे, तो उसे सावधानी के साथ निम्न लिखित औषध देना चाहिए। दोनों तरह की हल्दी, मुण्डक (लीना गोला) भार्गी, मदन तथा आक का दूध समान भाग में मिलाकर मांस के साथ तीन सप्ताह तक देना चाहिए। मात्रा स्थिति के अनुकूल रखनी चाहिए। बासी, सड़ा हुआ और भारी मांस खाने से श्येनों के उदर में अनेक प्रकार के कीड़े उत्पन्न हो जाया करते हैं। उनके नाश के लिये दो भाग विडंग और एक भाग कस्तूरी मिलाकर युक्ति पूर्वक खिलाना चाहिए। यदि श्येन भय से स्नान न करे और इसके शरीर में कीट और जूं पड़ गई हों, तो इनके नाश करने के लिये मागधी का चूर्ण बनाकर उस पर छिड़कना चाहिए या नीम की जड़ की छाल पीसकर गोमूत्र के साथ लेप करना चाहिए। इससे निस्संदेह जोंकें और जूएं नष्ट हो जाती हैं।

इत्यलं विस्तरेण

[illegible]

रोगविमुक्ततया परिपुष्टान्
वीक्ष्य ततो विनयेन्मृगयार्थे ॥

आशय—पूर्वोक्त औषधों और उपचारों से, जो बड़े हितकर और लाभदायक हैं, श्येन पुष्ट हो जाते हैं। फिर उनको मृगया संबंधी शिक्षा देनी चाहिए।

यहाँ पर "चिकित्साधिकार" नाम का पंचम परिच्छेद समाप्त होता है।

छठा परिच्छेद—श्लोक ६२

जब ये पूर्वोक्त पुष्टिकारक औषधों के सेवन से हृष्ट पुष्ट, नवीन पत्तों से सुशोभित, नीलेंद्र मणि के समान पत्तों के मूल भागों से विराजित, छाती पर मोतियों की लड़ियों के समान पत्त-पंक्तियों से अभिरंजित, केंचुली त्यागे हुए सर्प के समान रेशमी डोरी को धारण किए हुए, गले में रत्न धारण किए हुए, पाँवों में घुँघरू के शब्द करते हुए दर्शनीय हों तथा पूर्वोक्त विधि से पालतू हो चुके हों, तब किसी अच्छे दिन उनको बुलावे। उनके पूर्व संस्कार का बोध कराने के लिये विशारद शिक्षक उन्हें रज्जु से नियंत्रित पक्षियों पर शिकार करना सिखावे। जो श्येन घोंसलों में से ही पकड़े हों, उन्हें पहले बाँधकर रखते हुए पालतू करना चाहिए। चूँकि वे शिकार में अनभ्यस्त होते हैं, अतः उन्हें विविध प्रकार से शिक्षा देकर उनकी पटुता और गति बढ़ानी चाहिए। श्येन अच्छे शिष्यों के समान शीघ्र ही शिक्षा ग्रहण कर लेते हैं। अच्छी तरह सुशिक्षित किए हुए श्येन सब कुछ कर सकते हैं और उनके लिये कोई कार्य असाध्य नहीं है।

श्येन-शिक्षा में निपुण पुरुष को चाहिए कि सुन्दर कुंडल धारण कर अच्छे वस्त्र पहन, अपने हाथों पर श्येनों को रखकर प्रतिदिन इधर उधर ले जाय। जब यह निश्चय हो जाय कि ये सब तरह से सुशिक्षित हो गए, तब शिकार के लिये निश्चित किए हुए किसी अच्छे दिन इनका विनोद देखने के लिये स्वयं राजा को

आना चाहिए। रात्रि के पहले पहर से ही शरत्कालीन बादलों से सूर्य के आच्छादित होने के पूर्व ही बहुत से सिपाहियों से चारों ओर दूर दूर तक लोगों का आना जाना रोक देना चाहिए और राजा को अपने साथ थोड़े से प्रसिद्ध वीर और योग्य पुरुषों को लेकर अच्छे घोड़े पर सवार होकर श्येन बाहों को साथ में लिए समयानुसार सावधानी से पहाड़ों के किसी छायादार स्थान के लिये रवाना होना चाहिए। या जब दिन के अस्त होने में एक प्रहर शेष रहे तब रवाना होना चाहिए। परन्तु उसे (अपनी राजधानी से) बहुत दूर नहीं जाना चाहिए। यदि पर्वत के निकट ही भूमि में आखेट करना हो तो पैदल सवारों को चारों ओर गुफाओं और नालों की ओर भेज देना चाहिए। वहाँ चुपके चुपके खड़े हुए उन्हें यह देखना चाहिए कि पक्षी उड़कर कहाँ बैठते हैं। समभूमि में सवारों से, विषम में पैदलों से और पहाड़ियों की चोटियों पर कुत्तों से शिकार का पता लगाना चाहिए। मंडली के मध्य में मुख्य श्येनधर होना चाहिए और उसकी दोनों ओर एक एक सैनिक। छत्तीस सवारों का एक मंडल बनाना चाहिए। मंडल में सब पुरुषों को अपना ध्यान मेढ़ा की ओर लगाए हुए दो बराबर भागों में विभक्त होकर उसके दोनों ओर रहना चाहिए, एक दूसरे में चार चार हाथ का फासला होना चाहिए। श्येनिक को चाहिए कि वह श्येन को पूर्व से उत्तर पूर्व दिशा में फेंके जिससे मारित जंतु का देखने में उसे कोई बाधा न हो। जिसके पास श्येन बहुत हों और घुड़सवार भी बहुत हों, उसे पृथक् पृथक् कई मंडल बनाने चाहिएँ। राजा के मंडल के मध्य में जो पुरुष स्थित हों, उसे बिना राजा की आज्ञा के बाज को नहीं फेंकना चाहिए, चाहे पक्षी समीप ही क्यों न हो। इसे अनतिक्रमणीय मर्यादा समझना चाहिए। प्रत्येक मंडल में एक बहरी, एक कुही, तीन बाज और पाँच या छः बासे होने चाहिएँ। उन्हें कैसे फेंकना चाहिए, यह पहले बता चुके हैं। एक मंडल से दूसरे मंडल में आधे कोस का फासला होना चाहिए, जिससे कुही और बाजों के मिश्रण

का भय न हो। जंगली खरगोश आदि को डराने के लिये भाले और म्यान से निकाली हुई तलवारें धारण करनी चाहिएँ। मुख्य श्यैनिक के चारों ओर अवसरभिज्ञ विनीत सेवकों को बहुत से पक्षी काबू में किए हुए रखने चाहियें। पक्षियों को ढूँढ़ते समय सदा मंडल को मंद चाल चलनी चाहिए और पक्षी के निपात होने पर चाल को और भी अधिक मंद कर देना अच्छा है। घुडसवारों के आगे जो पुरुष हाथ में बेंत लिए चलें, उन्हें बटेर आदि पक्षियों में "मुष्टि मोक" से धूतिक और टोन श्येनों को फेंकना चाहिए। शीघ्रता के कारण उनकी गति अलक्ष्य होती है। जब वे जंतुओं पर (जिनका पता उनके पकड़े जाने के समय चींचीं कुची शब्दों से लगता है) तिरछे गिरते हैं, तब बडा ही आनंद आता है। यदि इस रस में चूर हुआ राजा इनसे अकेला ही क्रीडा करना चाहे तो उसे बेंतवाले प्रवीण पुरुषों को एकत्र करना चाहिए। इन लोगों को चारों ओर बेंत फटकारते हुए लावा आदि मन्द गतिवाले जानवरों को उड़ाना चाहिए और उन्हें श्येनों के मार्ग का विषय बनाना चाहिए। जहाँ एक बार गिरकर पक्षी फिर न उठे, वहाँ उसे डोरी से बँधे हुए कुत्ते से ढुँढवाना चाहिए और फिर दूर कर देना चाहिए, अर्थात् दुबारा नहीं उड़ाना चाहिए। जब वह उठे तो "सावधानी से देखिये महाराज! यह उठ रहा है" इत्यादि मधुर आलापों से उसे राजा को बताना चाहिए।

अब यह दिखाते हैं कि मृगया से आठों रसों की प्राप्ति किस प्रकार होती है।

कुही का सारस और क्रौंच पर फेंका जाना "रौद्र" रस उत्पन्न करता है। उस समय उनका उडना ऐसा प्रतीत होता है कि मानों पंखवाले पर्वत उड़ रहे हैं। जब वे भूमि पर गिरते हैं; तब परस्पर नखों से आक्रमण करते हैं और भीषण चीत्कार करते हैं, फिर लोटकर अपनी चोंचों से प्रहार करते हुए रुद्र संग्राम मचाते हैं। जब बहुत दूर गए हुए कंक (लगलग) या दात्यूह (जलकाक) या

पपीहे पर बहरी को फेंकते हैं, तब "अद्भुत" रस उत्पन्न होता है। जहाँ आकाश से सहसा संवेग संचार से भयभीत बने हुए छिन्नपक्ष पर्वत के सदृश पक्षी गिरे, वहाँ इससे अधिक और अद्भुत रस क्या होगा? जब चरख किसी हरिण के बच्चे को पकड़ लेता है और उसकी आँतों और अंगों को खाता है, तो अनिवार्य्य "बीभत्स" रस प्रकट करता है। टोनादिकों के पक्ष के वेग से लिख्यम हुए, कुंजों में छिपे हुए केबुक आदि पक्षी "भयानक" रस का दर्शन कराते हैं। श्येन से आक्रमण किए जाने पर बेचारा भरद्वाज पक्षी कभी ऊँचे और कभी नीचे स्वर से प्रलाप करता हुआ और अपने आपको बड़ी सावधानी से छिपाता हुआ बड़ा ही "हास्य" रस उत्पन्न करता है। ये पक्षी भयभीत होकर बहुत सावधानी से अपने आपको छिपाते हैं, परन्तु अपनी बोली से पहचान लिए जाते हैं। उनके शिकार के कौतुकार्थी को उनपर गुलेल फेंकनी चाहिए। दूर से ही अपने लक्ष्य पर गिरता हुआ और ठीक स्थान पर पकड़ता हुआ मारने में चतुर बाज "वीर" रस का दृश्य उत्पन्न करता है। आक्रमण तीन प्रकार का होता है—एक ऊपर से, दूसरा नीचे से और तीसरा बराबर से। जब बाज पक्षी को पकड़ते हैं, तब ये तीनों प्रकार के आक्रमण बहुत रसप्रद होते हैं। जब पक्षी ऊपर उड़ रहा हो, तब छाया के समान उसके नीचे छिपकर, फिर तीर के समान ऊपर आने से श्येन का जो आक्रमण होता है, वह "ऊर्द्धक्रांती" कहलाता है। जब श्येन सम क्षेत्र में मार्गित जंतु का, चाहे वह स्पष्ट रूप से दिखलाई देता हो चाहे न दिखलाई देता हो, पीछा करता है और उस पर दंड के समान गिरता है, तब उस आक्रमण को "समाक्रांती" कहते हैं। जब भय से पक्षी नीचे उड़ रहा हो, तब वज्र के समान उसपर सहसा गिरना "नीचक्रांती" कहलाता है। यह बहुत दुष्कर है।

यों लक्ष्य अनुसरण करने से, अनेक प्रकार से आक्रमण करने से तथा अति विश्वस्त होने से पक्षियों में बाज श्रेष्ठ गिने गए

हैं। उछल उछलकर पकड़ते हुए और पटकते हुए ये मल्लों के समान मनुष्यों के मन को प्रचुर प्रमोद देते हैं। जब दो साथ उड़नेवाले पक्षियों में से एक पकड़ लिया जाता है, तब दूसरे का जो आर्द्र क्रंदन होता है, वह "करुणा" रस का उदाहरण है। अब शृंगार रस रह गया। वह भी नायक में असंकीर्ण रूप से उदाहृत है। देखिए, जब लक्ष्य की प्राप्ति हो गई, तो वह भोग रूप होता है। यदि प्राप्ति न हुई तो वह विरह ही है। इतना ही नहीं, रोमांच, हर्ष, अश्रु, स्तम्भ, गद्गदस्वर, चिंता, प्रलाप तथा वैवर्ण्य भावों का आविर्भाव भी जो सत्त्व शृंगार के लक्षण हैं, यथावकाश इसमें प्रदर्शित हो जाते हैं। सच तो यह है कि मृगया में स्त्री-संभोग से भी अधिक रस है, तभी तो वह भीरू मृगनयनी के पति को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। यदि यह सच नहीं है तो बताओ, क्यों कंठलग्ना प्रिया को त्यागकर सनसनाती हुई रात में लोग मृगया के लिये घर से बाहर चल पड़ते हैं ?

बाज आदि श्येनों का जो पक्षियों पर फेंका जाना है, वह भी कभी आकर्षण और कभी अपकर्षण करते हुए साक्षात् आलिङ्गनयुक्त शृङ्गार रस को उदाहृत करता है। जब पकड़े जाने पर पक्षियों के पर आकाश से गिरते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मानों इन्द्र ने प्रसन्न होकर पुष्पों की वर्षा की हो। वे शिकरे, जो शिकार के बहुत दूर होने पर भी फेंके जाते हैं और उसे पकड़कर ही छोड़ते हैं, धन्यवाद के योग्य हैं। शिकरों (श्येनों) की शीघ्रता और प्रतिसन्धान का, जब कि वे दो दो तीन तीन तीतर आदि पक्षियों को एक दम पकड़ते हैं, कौन वर्णन कर सकता है ? तालाबों और झीलों में मुर्गाबियों (जालपाद) पर भी कुही आदि श्येनों को जिस भाँति पहले बता आए हैं, फेंकना चाहिए। जिनको पहले से अभ्यास हो, वे ही कुही आदि को फेंकें। जिन श्येन पक्षियों का पारस्परिक प्रेम हो, उन्हें साथ साथ फेंकना चाहिए। इससे ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है कि उसके वर्णन में कवि भी विमूढ़ हो जाते हैं। पक्षियों को जल

धर्म (देवार्चन) करे। फिर हंस के समान श्वेत चीनी का शर्बत पीकर विश्रांत हो भूख लगने पर प्रसन्नचित्त हो वैद्यों से अनुमोदित भोजन, जिसमें चावल और मांस हो, करना चाहिए। उस समय उस पर परों का पंखा होता रहे और जड़ी बूटियों से विष की बाधा मिटानेवाले पुरुष उसके पास रहें। राजा अपने साथियों सहित भोजन करे। तदनन्तर पान खाकर छाया ढलने पर उसे अपने निवास स्थान को जाना चाहिए और मार्ग में शिकार संबंधी भिन्न भिन्न बातें जैसे कि कुही ने क्रौंच पर कैसे आक्रमण किया, अतिगर्वित लावा ने धूती का कैसे विरोध किया, वह एक पत्ते के समान कैसे पटका गया और बाज से मारा गया, शिकरे ने तीतर को कैसे पकड़ा, अमुक श्येनिक का मोक कैसा उल्लास और स्फूर्तियुक्त था, अमुक मूर्ख ने पक्षी को कैसी बुरी तरह फेंका कि वह उठ ही नहीं सका, अमुक का श्येन मार्गित जंतु पर आक्रमण न कर सका, आदि की चर्चा करनी चाहिए।

यहाँ तक इस परिच्छेद के १४ श्लोकों का सार है। इसके आगे २२ वें श्लोक तक हस्तलिखित प्रतियाँ खंडित हैं।

नाभाग *, अम्बरीष †, महात्मा राम, ऐल ‡, पृथु ×, वीरसेन +,

---

* नाभाग श्रुत का पुत्र तथा भगीरथ का पौत्र था।

भागीरथसुतो राजा श्रुत इत्यभिविश्रुतः।
नाभागस्तु श्रुतस्यासीत् पुत्रः परमधार्मिकः॥
अम्बरीषस्तु नाभागिः सिन्धुद्वीप पिताऽभवत्।

हरिवंश, १५वाँ अध्याय।

† अम्बरीष नाभाग का पुत्र था।

‡ ऐल इला (इल, इड़,) का पुत्र था। वह चंद्रवंश में "पुरूरवा" नाम से विख्यात है।

× पृथु त्रेतायुग में सूर्यवंश का पाँचवाँ वंशधर था। इसने प्रजा का अतिशय रंजन किया और संसार में सब से प्रथम "राजा" की उपाधि पाई।

\+ वीरसेन नल राजा का पिता था।

निषधेषु महीपालो वीरसेन इति श्रुतः।
तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना नलो धर्मार्थकोविदः॥

महाभारत ७ । ५१ । ५४

हर्य्यश्व*, भरत और कई राजेन्द्र शरद् ऋतु के कृष्ण पक्ष में मांस नहीं खाते थे, जिससे वे स्वर्ग को प्राप्त हुए। वे कल्प पर्य्यन्त ब्रह्मलोक में अप्सराओं से सेवित विराजते रहेंगे। मृगया शरद् ऋतु में भी शुक्ल पक्ष में निषिद्ध नहीं है। अन्य ऋतुओं में उसका कोई निषेध नहीं है। मृग तमोगुण की सृष्टि हैं, अर्थात् वे तमोगुण से उत्पन्न हैं; अतः महात्मा अगस्त्य ने प्रजा के हित की कामना ही से जंगली जानवरों को प्रोक्षण कर देवताओं के लिये उपकल्पित किया था।

युक्त्या शरदि सेवेत यथाच्छन्द हिमागमे।
वसन्ते तु प्रकर्षेण बलारोग्यमभीप्सुभिः॥

आशय—बल और आरोग्य की इच्छावाले पुरुष को मृगया का शरद ऋतु में युक्ति से, हेमत में यथेच्छा और वसन्त में खूब सेवन करना चाहिए।

धनुर्वेदाभ्यासः समविधिरनूनश्च लघुता
गतेर्गात्रोत्साहस्तुरगविहृतौ चातिपटुता।
तथा नीतेर्योगे रसपरिचयश्चाप्यनुपमो
मृगव्यायां क्षात्रो गुणसमुदयोऽभ्यस्यस्त इव॥

आशय—वास्तव में मृगया में क्षत्रिय के गुणों के समुदाय अर्थात्—धनुर्वेदाभ्यास, समानों के साथ का बर्ताव, गति की लघुता, शरीर का उत्साह, घोड़ों के चलाने में अति पटुता, नीति के योग (सिद्धि) में अनुपम रस के परिचय का अभ्यास सा हो जाता है।

यहाँ "मृगयान्तरेति कर्त्तव्यता" नाम का सप्तम एवं अन्तिम परिच्छेद समाप्त होता है।

---

* हर्य्यश्व सूर्यवंशी राजा दृशाश्व का पुत्र था।

परिशिष्ट

सौभरि

सौभरि नाम के एक महर्षि जल में तपस्या करते थे। उन्होंने संमद नामक एक बहुत कुटुम्बवाले मीनाधिपति को देखा। उसके चारों ओर उसके पुत्र, पौत्र तथा दौहितों को खेलते हुए देखकर ज्ञानी सौभरि अपनी समाधि को त्याग कहने लगे कि धन्य है जो अपनी संतानों से रमण करता हुआ हमारे चित्त को आकर्षित करता है। क्या अच्छा हो कि हम भी पुत्रादिकों के साथ ललित सुख भोगें। इस प्रकार संतान उत्पन्न करने की इच्छा करते हुए वे मांधाता महाराज के पास गए और उन से कहा—

> निवेष्टुकामोऽस्मि नरेंद्र कन्यां
>
> प्रयच्छ मे मा प्रणयं विभांक्षीः।
>
> नह्यर्थिनः कार्यवशादुपेताः
>
> ककुत्स्थवंशे विमुखाः प्रयांतिः॥
>
> विष्णुपुराण, अंश ४, अध्याय २, श्लोक ७७

आशय—हे राजन्! मैं विवाह करने की इच्छा करता हूँ, अतः आप मुझे अपनी एक कन्या दीजिए और मेरा प्रेम भंग मत कीजिए। देखिए, ककुत्स्थ वंश में कार्यवश प्राप्त हुए अर्थी विमुख होकर कभी नहीं जाते।

मांधाता के, शतविंदु की पुत्री विंदुमती से, ३ पुत्र और ५० कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं। उसने कहा कि हमारे कुल में यह रीति है कि जिस कुलीन वर को कन्या अपने आप वर ले, उसीके साथ उसका विवाह हो जाता है। तदनन्तर ऋषि अतीव कमनीय रूप धारण कर कन्याओं के अन्तःपुर में गए और उनको देखते ही प्रत्येक कन्या सानुराग उनको वरने लगी। राजा ने उन सब का ऋषि से

विवाह कर दिया। ऋषि ने अपने आश्रम में जाकर एक बहुत अच्छा महल बनवाया और वहाँ वे सब आनन्दपूर्वक रहने लगे। कालान्तर में उनके ५० पुत्र उत्पन्न हुए। परंतु फिर संयम सीमा का उल्लंघन होनेसे उनकी अतिशय ममता हो गई और वे पौत्रादिकों की अभिलाषा करने लगे। फिर उनको अपने आसक्त हो जाने का ध्यान आया और वे कहने लगे—

निस्संगता मुक्तिपदं यतीनां
संगादशेषाः प्रभवंति दोषाः।
आरूढयोगो विनिपात्यतेध-
स्संगेन योगी किमुताल्पबुद्धिः॥

आशय—निस्संगता यतियों का मुक्तिपद है, संग से सब दोष उत्पन्न होते हैं, योगारूढ़ पुरुष भी जब संग से नीचे गिराया जा सकता है, तब अल्प बुद्धि का तो कहना ही क्या। तदनन्तर उन्होंने वानप्रस्थ आश्रम का सेवन किया।

पांडु-किंदिम संवाद

किंदिम नाम के एक ऋषि थे। वे स्वयं मृग का रूप धारण कर मृगरूप धारिणी स्त्री के साथ संगम कर रहे थे। उस समय महाराज पाण्डु भी उस जंगल में मृगया के लिये गए थे और उन्होंने मैथुनधर्मस्थ मृगयुग्म को देखा और बाण मारे। तदनंतर परस्पर जो वार्तालाप हुआ, उसमें किंदिम ने कहा—

नाहं घ्नंतं मृगान् राजन्! विगर्हे चात्मकारणात्।
मैथुनं तु प्रतीक्ष्यं मे त्वयेहाद्य नृशंसवत्॥
सर्व्वभूतहिते वाले सर्व्वभूतेप्सिते तथा।
को हि विद्वान् मृगं हन्याच्चरंतं मैथुनं वने॥

आशय—मैं अपनी इस दुर्दशा से आपके शिकार करने की निंदा कदापि नहीं करता, परंतु यह देखते हुए भी कि मैं मैथुन कर रहा था, आपने मुझे मार दिया। सब प्राणियों के हित के काम में और

जिसे सब चाहते हों, कौन विद्वान् मैथुन करते हुए मृग को मारेगा? तदनंतर उसने राजा को शाप दिया कि तुम जब काम विवश हो अपनी प्रिया से भोग करोगे, तब मृत्यु को प्राप्त होगे।

यह कथा महाभारत के आदि पर्व के १२३ वें अध्याय में लिखी हुई है।

रुचि की कथा

रुचि नाम के ऋषि को विरक्त एवं विमुक्तसङ्ग देखकर पितर बोले—

> वत्स कस्मात् त्वया पुण्यो न कृतो दारसंग्रहः।
> स्वर्गापवर्गहेतुत्वाद्बंधस्तेनानिशं विना ॥
> गृही समस्त देवानां पितृणाञ्च तथार्हणाम्।
> ऋषीणामतिथीनाञ्च कुर्वन् लोकानुपाश्नुते ॥
> स्वाहोच्चारण तो देवान् स्वधोच्चारणतः पितॄन्।
> विभजन्नन्नदानेन भूताद्यानतिथीनपि ॥
> स त्वं दैवादृणाद्बन्धं बन्धमस्मदृणादपि।
> आवाप्नोषि मनुष्यर्षि भूतेभ्यश्च दिने दिने ॥
> अनुत्पाद्य सुतान् देवानसन्तर्प्य पितॄंस्तथा।
> भूतादींश्च कथं मौढ्यात् सुगतिं गन्तु मिच्छसि ॥

मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ९२

आशय—हे प्यारे! तुमने विवाह क्यों नहीं किया? यह स्वर्ग, पुण्य और मोक्ष का साधन है। बिना उसके बन्धन है। गृहस्थ सब देवों का, पितरों का, ऋषि अतिथि आदि का सत्कार करता हुआ स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होता है। यह यज्ञ-द्वारा देवताओं को, श्राद्धतर्पण-द्वारा पितरों को, अन्नदान से भूतादि तथा अतिथियों को तृप्त करता है। अतः तुम न देव ऋण से, न पितृऋण से न भूत ऋण से मुक्त हुए हो। फिर इन ऋणों से उऋण होने का साधन, जो सन्तानोत्पत्ति है, उसे किए बिना तुम्हें कैसे सुगति मिलेगी।

रुचि ने कहा कि विवाह से तो बहुत दुःख होता है, पाप होता है और अधोगति होती है; इसलिये मैंने यह नहीं किया। और मैं आत्मसंयम कर रहा हूँ; आत्मा को सद्वासना के जल से धोना ही चाहिए।

इस पर पितरों ने गार्हस्थ्यधर्म का महत्व विशद रूप से समझाया और उससे भी स्वर्गप्राप्ति का होना बतलाया। परन्तु यह सब सुनकर भी रुचि ने कहा कि मेरी आयु इस समय अधिक हो गई है, मुझे कन्या कौन देगा? इस आग्रह से पितर अप्रसन्न हुए और यह कहते हुए कि तू हमारा कहना नहीं मानता, अंतर्धान हो गए। इस घटना से रुचि बहुत उद्विग्न हुए और विवाह के लिये कन्या न मिल सकने से ब्रह्मा का आराधन किया। ब्रह्मा ने भी कहा कि तुम पितरों का पूजन करो, वे संतुष्ट होकर तुम्हारी इच्छा की पूर्ति करेंगे। तदनंतर रुचि ने पितरों की विस्तृत स्तुति की और उनकी कृपा से उनका प्रम्लोचा नाम की अप्सरा की कन्या मालिनी से, जो वरुण के पुत्र पुष्कर से उत्पन्न हुई थी, विवाह हुआ और उससे रौच्य नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।